# सारांश

**कल्याणी**—छोड़ दो बेटी प्रतिहिंसा को! सामाजिक अत्याचार का प्रतिकार पाप के द्वारा नहीं होगा; वह होगा अक्षय पुण्य से। व्यभिचार, दुराचार, रोष एवं कलह इसकी औषधि नहीं हैं; इसकी औषधि है अपने अधिकारों की पुण्यमयी चर्चा। तुम सती का अनुकरण करो। पुरुष यदि महादेव नहीं बन सकते, न सही। दो में से यदि एक अंग भी अच्छा है, तो आशा है कि दूसरा भी उसकी सहायता से स्वस्थ हो जाय; पर यदि दोनों ही शिथिल पड़ गए तो इस पतित हिन्दू-जाति का निस्तार नहीं है।

***  ***  ***

**शान्ता**—अपने इस तुच्छ जीवन में मैंने जो-जो कटु अनुभव किए हैं, उनसे मैं इसी परिणाम पर पहुँची हूँ कि यदि हमारी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध हो जाय, यदि बाल्यकाल ही से पवित्र साहचर्य्य एवं धार्मिक उपदेशों के द्वारा हमारे म
हृदय एवं मृदुल मस्तिष्क पाप तथा प्रलोभन के आ

अभेद्य बना दिए जायँ, तो एक बार हमारी यह स्वर्णमयी वसुन्धरा फिर से हास्यमयी हो उठे, हमारे गृह नन्दन-निकुञ्ज बन जायँ, एवं हमारा जीवन धर्म्म का एक प्रोज्ज्वल अंश बन कर दुखी को सुखी, व्यथित को आनन्दित एवं अभाव को परिपूर्णत्व में पूर्ण रूप से परिणत करने में सफल हो जाय।

# समर्पण

पुस्तक के सुयोग्य लेखक महोदय ने इस पुस्तक का प्रथम संस्करण मुझे समर्पित किया था। आज हमारे दुर्भाग्य से वे इस संसार में नहीं हैं। अपने जीवन-काल में इस पुस्तक का नवीन संस्करण प्रकाशित देखने के लिए वे बड़े उत्सुक थे, अतएव उन्हीं की पुस्तक का यह संशोधित संस्करण मैं लेखक महोदय की स्वर्गीय पुण्यात्मा को सादर भेंट कर देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

'चाँद' कार्यालय,

१—१—२८

—रामरख सिंह सहगल

# आत्म-निवेदन

त्कर्ष और पतन—इन्हीं दोनों की विकास-लीला का पूर्ण प्रस्फुटन करना ही कल्पना और कविता का आदि-काल से मुख्य लक्ष्य रहा है और सदा रहेगा। इन्हीं के सारमय तथा भावपूर्ण चित्र को मनोरम एवं मधुर भाव मे अङ्कित करना ही उनका अन्यतम इष्ट है, और उसी इष्ट के साफल्य एवं वैफल्य ही पर उनका महत्व और विशेषत्व पूर्णांश में निर्भर रहता है। विकास—एक मात्र विकास ही वाह्य और आन्तरिक सृष्टि का नित्य-क्रम है; और उसी के अभ्यन्तर से महामाया की महाशक्ति का विलक्षण चमत्कार एवं दिव्य सौन्दर्य्य का प्रोज्ज्वल तेज प्रस्फुट होता है। अतः विकास ही कविता और कल्पना की तेजोमयी आत्मा है। और उसी की आनन्दानुभूति करना उनका तपोमय आदर्श है। पर इस विकास को क्रमानुसार सञ्चालित करने वाली क्रिया को कहते हैं कला; और इसीलिए कविता कला की नित्य अनुगामिनी है। कविता से कला का पार्थक्य होते ही कविता कविता नहीं रह जाती; विकास विकास नहीं रह जाता; प्रस्फुटन प्रस्फुटन नहीं रह जाता एवं क्रम क्रम नहीं रह जाता। फूल फूलता है,

किन्तु एक विशेष माधुरी के साथ; सरिता का कलकल नादमय प्रवाह अग्रसर होता है, किन्तु एक विशेष हिल्लोल के साथ; शीतल समीर मद-मत्त गति से झूमता है, किन्तु एक विशेष लीलामयी लज्जा के साथ! अतः कला ही साहित्य का प्राण है; कला ही कविता की ज्योति है एवं कला ही कल्पना की विमल कोमल कान्ति है।

इस कला के भी दो स्वरूप हैं—एक वासनामय, दूसरा धर्ममय। स्वर्ग के प्रफुल्ल रङ्गमञ्च पर अक्षय-यौवना उर्वशी की ललित नृत्य-लीला के अन्तर्गत कला का जो प्रोज्ज्वल सौन्दर्य्य प्रोद्भासित होता है, वह है वासनामय; कैलाश के प्रकृति-चित्रित दिव्य शोभामय कन्दरा-भवन मे पद्मासन पर आसीन योगीश्वर देवादिदेव महादेव के बाल-चन्द्र-चर्चित ललाट-प्रान्त पर कला का जो पुण्य लावण्य विलसित होता है, वह है धर्ममय। विलास-मद से सुगन्धिमयी, अतुल विमल वैभव से शृङ्गारमयी एवं प्रोल्लासमय यौवन-सौन्दर्य्य से श्रीमयी सुन्दरी नूरजहाँ के विशाल कोमल कमल-लोचन से प्रवाहित होती थी कला की वासना-मयी सरिता; त्याग से स्निग्ध शोभामयी, तप से सरल शान्तिमयी एवं पवित्र विश्व-प्रेम से परम पुण्यमयी मीराबाई के सरल मन्दस्मितमय मधुर अधर से सरसित होती थी भक्ति की त्रिपथ-गामिनी मन्दाकिनी! इसीलिए कला के दोनों जाज्वल्यमान् स्वरूप कवि द्वारा वन्दनीय, साहित्य द्वारा अभिनन्दनीय एवं विद्वज्जन द्वारा अवश्यमेव अर्चनीय हैं, इसमें सन्देह नहीं।

प्रस्तुत पुस्तक उद्देश्य-मूलक है। जिस प्रकार धर्म के प्रोत्कर्ष के

चित्रित करना उसका अभीष्ट है, उसी प्रकार पाप का पतन-प्रदर्शन भी उसका लक्ष्य है।

इसीलिए समय-समय पर उसमें कला के दोनों स्वरूपों की आराधना की गई है; किन्तु एकान्त वासनामयी कला में जो एक तीव्र पिपासा रहती है, वह धर्म के सुशीतल जल के बिना शान्त नहीं होती। यदि दुर्भाग्यवशात् अथवा संसर्गवशात् केवल वासना ही किसी के जीवन का मुख्य लक्ष्य बन जाता है, और वह लक्ष्य विवेक-दृष्टि को इतनी सङ्कुचित बना देता है कि धर्म की स्निग्ध शोभा उसके जीवन-मार्ग पर आती ही नहीं, तो उस समय वह पतन की ही ओर क्रमशः अग्रसर होने लगता है—पुण्य के प्रासाद-पथ को वह एक बार ही विस्मृत कर देता है। पर यदि सौभाग्यवशात् अथवा पुण्य-सहवासवशात् किसी का हृदय धार्मिक तेज से परिपूर्ण हो जाता है, कला के पुण्य स्निग्ध स्वरूप पर एकान्त अनुरक्त हो जाता है, तब वह सौन्दर्य्यमय मदन-देव के प्रफुल्ल अधर पर भी सरल शिशु का हास्य देखने लगता है एवं निरन्तर तुरीय धर्म की ओर अग्रसर होने लगता है। धर्मशीला रमणी का पति के साथ परिहास-मय प्रमोद मे प्रवृत्त होना विमल धवल आनन्द का विषय है; पर परकीया नारी का पर-पुरुष के साथ विलासमय रस-रङ्ग की लीला करना कुत्सित, अपवित्र लालसा का स्वरूप है। इसीलिए उद्देश्य-मूलक पुस्तक मे कला के वासनामय सौन्दर्य्य की लीला को दिखाना भी आवश्यक एवं अनिवार्य्य है, जिससे पुण्य का पवित्र प्रोज्ज्वल प्रोत्कर्ष पूर्णरूप में प्रकट हो जाय। रामचन्द्र के पुण्य-प्लावित चरित्र के विकास के लिए रावण के विलास एवं वासनामय जीवन की चर्चा अनिवार्य्य है, अपेक्षित है। प्रस्तुत पुस्तक में भी वासनामयी रङ्गलीला का जो निदर्शन किया गया है,

उसका एक मात्र उद्देश्य भी वही है—उसका रहस्य इसी सिद्धान्त में सन्निहित होता है।

वर्त्तमान समय मे धीरे-धीरे यह सिद्धान्त बहुत परिव्यापक हो रहा है कि Art for arts' sake अर्थात् कला की उपासना निरुद्देश्य भाव से करना ही उचित है, कला को किसी विशेष उद्देश्य की परिपूर्ति में लगाने से उसका अन्तःसौन्दर्य्य बहुत बड़े अंश में नष्ट हो जाता है। तब वह निर्द्वन्द्व भाव से, अनियन्त्रित गति से एवं स्वतन्त्र उल्लास से प्रधावित नहीं होती है—तब वह इष्ट अथवा अनिष्ट के पथ पर उद्देश्य की अनुगामिनी बन कर चलती है; और अपनी स्वतन्त्र गति को तदनुकूल ही नियन्त्रित करती है। बड़े-बड़े विद्वान् इस सिद्धान्त के अनुयायी हैं। बङ्किम का 'विषवृक्ष' 'आनन्द-मठ' से अधिक सुन्दर माना जाता है; द्विजेन्द्र की 'नूरजहाँ' 'दुर्गादास' से अधिक प्रभामयी कह कर परिगणित की जाती है; पर प्रोत्कर्ष और पतन—इन दोनों की तो वे भी रङ्गभूमि हैं। उनमें धार्मिक प्रवृत्ति का तादृश विकास भले ही न हो, किन्तु प्रोल्लास-मयी वासना की पतन-लीला के तो वे भी दोनों अवश्य अमर चित्र हैं। पर कम से कम भारतीय प्राचीन साहित्याचार्य्य तथा आदि ऋषियों ने कला की इस एकाङ्गी आराधना को अस्वीकार कर दिया है। उनके लिए कला के दोनों स्वरूप मान्य हैं—इसमे सन्देह नहीं। पर वे एक-दूसरे के विकास के लिए उन दोनों को एक-दूसरे के पार्श्व-प्रान्त मे प्रस्थापित करने के पूर्ण पक्षपाती हैं। रावण के लिए राम, राम के लिए रावण; कृष्ण के लिए कंस और कंस के लिए कृष्ण; पुण्य के लिए पाप, पाप के लिए पुण्य—इस प्रकार उन्होंने एक-दूसरे को एक-दूसरे के सम्मुख खड़ा करके उनके परस्पर-विरोधी विशेषत्व को प्रकट किया है, और पुण्य

के प्रोत्कर्ष में, धर्म के जय-संगीत में, कल्याण की कोमल कान्ति में, त्याग के परम विलास मे, अभ्युदय के आलोक मे, सत्य के दिव्य सौन्दर्य्य मे एवं प्रेम की विमल शान्ति मे अपने पवित्र उद्देश्यों की विजय-घोषणा की है। उन्हीं के बताए हुए पुण्य-पथ पर इस कथा की दुर्बल कल्पना अग्रसर हुई है; उन्हीं के पुण्य-पाद-पद्म के पराग से पवित्र की हुई साहित्य-कुटीर की ओर इस गाथा की निर्बल चिन्ता प्रधावित हुई है। वहाँ तक—उस मानसरोवर तक, जहाँ रस का सुरभित सरोज विकसित हो रहा है, जहाँ पवित्र पराग से आनन्द-चञ्चरीक ने अपने अङ्ग को धूसरित किया है, जहाँ सौन्दर्य्य की विमल धारा माधुर्य्य मराल-मालिका से मुखरित होकर प्रवाहित हो रही है; जहाँ शान्त समीर हिम-कण से शीतल होकर एवं मकरन्द-मद से मत्त होकर झूम-झूम कर नाचता है, जहाँ पुण्य-पक्षि-कुल प्रेम का विमल राग अलापते है और जहाँ स्वयं श्रीरसभारती आनन्द के सुवर्ण सहस्र दल पर आसीन हैं, वहाँ तक—उस दिव्य तुरीयधाम तक यह दोनों—कल्पना और चिन्ता—पहुँच सकेंगी या नहीं, इसमे सन्देह है और इस सन्देह के बड़े-बड़े कारण हैं।

पर आश्रय है उन्हीं राग-रञ्जित पाद-पद्म का; अवलम्ब है महामाया राजराजेश्वरी त्रिपुर-सुन्दरी के उन्हीं कमल-कोमल चरणद्वय का। वे यदि चाहें, उन्हीं की आशीर्वादमयी वल्लकी का आह्वान-स्वर यदि हृदय-गगन में निनादित हो उठे, उन्हीं के पद-नख की पुण्य-प्रभा से यदि मन-मन्दिर आलोकित हो जाय, उन्हीं की पद-निसृता मन्दाकिनी से यदि कल्पना-लोक प्लावित हो जाय, उन्हीं के सरस प्रेम-सङ्गीत से यदि चिन्ता-चित्रशाला मुखरित हो जाय, उन्हीं की त्यागमयी शोभा से, आनन्दमयी आभा से एवं तपोमयी आदि-कला से यदि आत्मोद्यान, विवेक-वन एवं शान्ति-कुञ्ज

प्रोल्लसित, हास्यमय एवं हर्षोत्फुल्ल हो जायँ, तो असम्भव भी सम्भव है, दुर्लभ भी सुलभ है एवं अप्राप्य भी सहज लभ्य है।

*जय मातेश्वरी ! जय भारतेश्वरी !! जय राजराजेश्वरी !!!*

पीलीभीत
अषाढ़ कृष्णा सप्तमी सं० १९८९ वि०

विनयावनत,
—'हृदयेश'

## समदुःखिनी सखियाँ
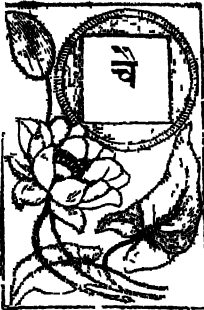
त्र के उन्मुक्त, विशाल, स्वच्छ नील गगन-सिन्धु में चन्द्रमा महामाया प्रकृतिदेवी की चाँदी की नाँव की भाँति तैर रहा था। आम के बौरों की भीनी-भीनी सुगन्धि से लदी हुई बयार बह रही थी। स्वच्छ, सुन्दर पिड़ोर से पुती हुई छत पर बैठी हुई दो युवतियाँ आपस में बातचीत कर रही थीं। दोनो के मुख पर आन्तरिक विषाद की रेखा स्पष्ट रूप से झलक रही थी।

उन दोनों में से छोटी ने गम्भीर करुण शब्दों में कहा—बहिन मनोरमा, किसी का क्या दोष है, सब अपने ही कर्मों का भोग है। पूर्व-जन्म में हम दोनों ही ने कोई घोर पाप किए थे और यह उन्हीं का फल है कि संसार के सारे सम्बन्ध, सारे व्यापार हमारी इस दुख-दशा को दूर नहीं कर सकते। बुढ़ापा जैसे आकर फिर कभी नहीं जाता है, वैसे ही यह दारुण दुख चिता पर भस्म होने से पहले तो टलता नहीं।

मनोरमा ने कुछ विक्षुब्ध भाव में कहा—बहिन शान्ता! टले या न टले; पर मेरी समझ में तो यह केवल हमारे पापों का ही फल नहीं है, इसमें हमारे बड़े-बूढ़ों का भयङ्कर अत्याचार भी सम्मिलित है। हम तो ठहरीं निर्बल गाय, हमें चाहे क़साई के हाथों में सौंप दो, चाहे लगा दो ऋषि की सेवा में। हमे तो निर्बल जानकर अपने स्वार्थ की वेदी पर वे हमारी बलि दे दें, हमारे जीवन को हमसे अवस्था में चौगुने एक निर्बल, जीर्ण, रोगी, वृद्ध के हाथों में सौंप दें, आजन्म घर की दीवार के भीतर बैठे-बठे ब्रह्मचर्य्य-व्रत पालन करने का हमें उपदेश दें और स्वयं हमारी मौत के तीसरे ही दिन बिवाह का बयाना ले लें। हमारे दुख हैं हमारे कर्मों के भोग, उनके सुख एवं उनके अत्याचारों के फल! हम अगर मुँह से बात भी निकालें तो नरक में पड़ें; और वे हमारे प्राण भी ले लें तो भी हम पर उपकार का बोझा लाद दें। बहिन कर्म-फल का भोग हो या न हो, पर पुरुषों की स्थापित की हुई यह निष्ठुर प्रथाएँ हमारे—हम दीन अबलाओं के—कण्ठ पर

भयङ्कर रूप से छुरी चला रही हैं। शान्ता! यह एक बार ही स्थूल, प्रत्यक्ष एवं कठोर सत्य है।'

शान्ता—पर उनकी विवशता पर तुमने ध्यान नहीं दिया बहिन! वे भी क्या करे? इन्ही का प्रतिष्ठित किया हुआ समाज उन्हीं पर अत्याचार करता है। वे यदि तुम्हे युवती होने से पहले किसी के गले न बाँध दें, तो समाज उन्हे जाति से निकाल दे; पग-पग पर उनका अपमान करना प्रारम्भ कर दे। और उनके आश्रय पर अवलम्बित होने के कारण हमारा सर्वनाश तो अवश्यम्भावी है! व्यवस्था ही ऐसी निकृष्ट है; नियम ही ऐसे बुरे हैं। पुरुषों का क्या अपराध?

मनोरमा ने तीव्र स्वर में कहा—तब वे अपने आपको पुरुष क्यों कहलाते है। प्रबल समाज के अन्याय का विरोध करने में तो वे शृगाल की भाँति हो जाते हैं; पर हम पर—दीन-हीन अबलाओं पर—अत्याचार करने में वे सिंह का सा पराक्रम प्रकट करते हैं। हमारे इस कोमल शरीर पर प्रहार करने मे तो उन्हे कण भर भी लज्जा नहीं मालूम होती—हमारे केश पकड़ कर खींचने में तो वे बड़े वीर हैं। लज्जा की डोर में बँधी हुई हम निस्सहाय गौ हैं, इसीलिए हम पर यह प्रकोप है क्या?

शान्ता कुछ क्षण के लिए चुप हो गई। उसकी आँखो में आँसू आ गए। मनोरमा के शब्दों की तीव्रता ने उसके हृदय की सरल शान्ति को विकल कर दिया; पर वह संयत भाव में बोली—बहिन! हम दोनों—स्त्री और पुरुष—कुरीतियों के

चङ्गुल में ऐसी बुरी भाँति फँसे हुए हैं कि एक बार ही उससे छूट निकलना हमारे लिए असम्भव है ! भला बताओ तो सही बहिन ! क्रोध करके ही हम क्या कर लेंगे ? बहिन ! इससे तो यह होगा कि हमारे आपस के मधुर सम्बन्ध भी धीरे-धीरे नष्ट हो जायँगे और लाभ भी कुछ होगा नहीं ।

मनोरमा उत्तेजित स्वर में बोली—मधुर सम्बन्ध ? अहा ! कैसे मधुर हैं !! मैं अठारह वर्ष की सुन्दर युवती, उमङ्ग की तरङ्गों से मेरा सुन्दर शरीर सराबोर, मेरा हृदय आनन्द का अभिलाषी, मेरी वासना में भरी हुई विलास की तीव्र इच्छा; और वे, जिनसे समाज ने मुझे मधुर सम्बन्ध में बाँध दिया है—चौंसठ वर्ष के निर्बल वृद्ध, शरीर उनका शिथिल, श्वास का उन्हें चिर-रोग, स्पर्श उनका मृत्यु की शीतलता की भाँति । उन हमारे पैदा करने वाले चिर-सम्बन्धी पूजनीय पिता जी ने जाति के भय से, स्वार्थ के लोभ से हमें इस चिर-मधुर सम्बन्ध में बाँध दिया !! वाह ! व्याध और पक्षी का, सिंह और मृग का सम्बन्ध कैसा मधुर है ?

शान्ता ने सरल भर्त्सना के स्वर में कहा—छिः ! यह क्या बहिन ? यह कैसे खोटे विचार हैं । पति परमेश्वर है और पिता आचार्य्य है ।

मनोरमा ने व्यङ्ग की, व्यथा की एवं निराशा की हँसी के साथ कहा—ठीक ! और पत्नी है मोल लिए बलि-पशु के समान ! पुत्री है चुपचाप बलि-वेदी पर बलिदान हो जाने वाली निर्बल बकरी ! क्यों, ठीक है न बहिन ?

शान्ता ने चकित दृष्टि से मनोरमा की ओर देखा। विक्षुब्ध स्वर में उसने कहा—बहिन! आज से पहले तो मैंने तुम्हारा यह विकल, नास्तिक भाव कभी नहीं देखा था। आज सहसा तुम में यह नवीन भाव कैसे पैदा हो गया?

मनोरमा ने रोष से अरुण नयनों में आँसू भर कर उत्तेजित वाणी में कहा—सुनोगी? सुनोगी बहिन? मैं तो पहले ही से दुखी थी; उस पर—उस निर्दय वृद्ध व्याध पर—न मेरी श्रद्धा कभी उत्पन्न हुई थी, न हो। मैंने भी तुम्हारी ही तरह सन्तोष कर लिया था—सोच लिया था कि अपने इस निस्सार जीवन को अपने पूर्व-जन्म के पापों का फल मान कर किसी भाँति—रोते-हँसते काट दूँगी। पर नहीं, अब नहीं सहा जाता। मेरे पिता ने मुझ पर बड़ा भयङ्कर अत्याचार किया, जो मुझे इस नर-पिशाच के साथ चिर-सम्बन्ध में बाँध दिया। आज उस नर-पिशाच ने, केवल इसलिए कि मैं उसके पास न बैठ कर ज़रा चन्द्रमा की चाँदनी में छत पर चली गई, इस बुरी तरह से मुझे मारा कि मेरे शरीर से रक्त की धारा निकलने लगी। देखोगी? देखोगी? देखो, मेरे शरीर में छः जगह घाव हो गए हैं। देखो!

यह कह कर मनोरमा ने अपने फूल से शरीर पर वे क्षत दिखाए। शान्ता रोने लगी। सरल, निर्बोध शान्ता इस भयङ्कर अत्याचार को देख फूट-फूट कर रोने लगी। उसने अपने दोनों हाथ मनोरमा के गले में डाल दिए। मनोरमा भी उसके करुण वक्षस्थल पर शिर रख फूट-फूट कर रोने लगी!

## मनोरमा

जब हृदय का बाँध किसी भयङ्कर आघात से टूट जाता है तब उसमें से रुकी हुई प्रवृत्ति की ऐसी प्रबल धारा वेग के साथ निकलती है, जिसमें—जिसके प्रचण्ड प्रवाह में पुण्य और पाप, विधि और निषेध, शिव और शैतान—सबके सब, सब कुछ करके भी निमग्न हो जाते हैं।

## परिचय

स परिच्छेद में हम पात्रीद्वय का संक्षिप्त परिचय देंगे। शान्ता है बाल-विधवा और मनोरमा है मरणप्राय वृद्ध की युवती पत्नी। दोनों के वयस में लगभग दो वर्ष की छोटाई-बड़ाई है। शान्ता इस आगामी आषाढ़ में होगी पूरी सोलह वर्ष की, और मनोरमा ने फाल्गुन सुदी अष्टमी को अठारहवें वर्ष में पैर रक्खा है; पर दोनों एक जाति की नहीं हैं। शान्ता है स्वर्गीय लाला इन्द्रसेन की एकमात्र कन्या और मनोरमा है श्रीमान् पण्डित चतुर्भुज मिश्र की धर्मपत्नी। सात वर्ष की अवस्था ही में शान्ता की माँग का सिन्दूर पुँछ गया था; आज से तीन वर्ष पहले उन वृद्ध मिश्र जी ने अपने काँपते हुए हाथों से मनोरमा के शिर में सिन्दूर की रेखा अङ्कित की थी। शान्ता ने पति का नाम मात्र सुना था—बचपन के उस प्रभातकाल में देखी हुई वह मूर्ति उसे विस्मृत हो गई थी; और मनोरमा ने विवाह रूपी

बलिदान के दिन अपने पति का जो व्याध-सदृश, दन्तविगलित कुरूप मुख देखा था, उसे वह सोते-जागते, उठते-बैठते सदा प्रेत की परछाईं की भाँति अपने पीछे देखकर भय से काँप उठती थी।

शान्ता अपनी माता के ही पास रहती थी। शान्ता और उसकी माता—यही दोनो उस प्रतिष्ठित वैश्य-कुल की शेष सम्पत्ति थीं। उसके पिता का उसी वर्ष, उस असहनीय वज्रपात के आघात से देहान्त हो गया था, जिस वर्ष उनके हृदय की परम प्रिय रत्नमाला-शान्ता के कोमल हाथ की चूड़ी टूट गई थीं। लाला इन्द्रसेन साधारण स्थिति के वैश्य थे; उन्होंने समाज की प्रथा के अनुसार शान्ता का विवाह सातवें वर्ष में एक दस वर्ष के बालक के साथ कर दिया था; पर दैव-दुर्विपाक से वह बालक विवाह के तीसरे ही महीने मृत्यु का कवल बन गया। पति किसे कहते हैं ? इसका ज्ञान होने से पहले ही शान्ता पति-विहीना हो गई। लाला इन्द्रसेन इस भयङ्कर आघात से बच न सके। अपनी सहधर्मिणी की गोद में अपनी सात वर्ष की सौभाग्य-विहीना बच्ची को देकर वे महामाया के पुण्य आश्रम मे चले गए। उनका दोष नहीं था, उन्होंने इस परिणाम को कभी नहीं सोचा था। संस्कारवश हो अथवा मूर्खता के कारण, वे इस विवाह को अपनी दृष्टि में धर्म-सङ्गत मानते थे। वर भी उन्होंने अच्छा ढूढ़ा था। शरीर में वह परिपुष्ट था; देखने में वह सुन्दर था; बुद्धि मे तीक्ष्ण था और उज्ज्वल भविष्य का परिचय देता था। उन्होंने बाल-विवाह किया था अवश्य, पर व्याघ्र-विवाह नहीं किया था।

किन्तु मनोरमा के पिता ने वास्तव में एक ऐसे निर्मम काण्ड का अनुष्ठान किया था, जिसके उत्तरदायित्व से वे किसी भाँति बच ही नहीं सकते थे। वे कुलीन कान्यकुब्ज थे; प्रभाकर के अवस्थी थे। तब वे भला सुठियाओं के मिश्रों के यहाँ विवाह न करके क्या धाकर के पाण्डेयो के यहाँ करते? वे अपने से कुल में नीचे, धनी, नीरोग, शिक्षित वर के हाथ में कन्या सौंप कर कदाचित् पाताल की अन्धकारमयी कन्दरा में पतित हो जाते। उनका वह उद्दण्ड, दुश्चरित्र, निरक्षर बेटा वाजपेइयों के यहाँ फिर कैसे विवाहा जाता? बस इसी स्वार्थमयी निष्ठुर भावना के वशीभूत होकर उन्होंने अपनी कुसुम-कोमल कुमारी-मनोरमा को कङ्कालशेष, जीर्ण-शीर्ण वृद्ध के अत्याचार-यन्त्र में बिना मोह के बिना ममता के आबद्ध कर दिया। बेचारी दुर्बल, निस्सहाय, मनोरमा तड़पने लगी, और उसके शाप ही से वह अत्याचारी पितृ-कुल प्लेग की अग्नि में भस्म हो गया; पर मनोरमा की व्यथा वैसी की वैसी ही रही!

शान्ता की माँ के पास लगभग १५००) की सम्पत्ति छोड़ कर लाला इन्द्रसेन अपनी परलोक-यात्रा पर प्रस्थान कर गए थे। सात-आठ बीघे माफी की ज़मीन थी; एक छोटा कच्चा, पर सुन्दर सा मकान था, कुछ आभूषण थे और लगभग २००) नक़द थे। उसी से विधवा जननी और चिर-सौभाग्यहीना पुत्री अपना दुखी जीवन व्यतीत कर रही थी। ज़मीन बँटाई पर उठा दी जाती थी, दोनों माँ-बेटी काढ़ना काढ़कर और सीना-पिरोना करके पेट

पालन कर लेती थीं। भरण-पोषण के लिए उन्हें विशेष दुःख नहीं उठाना पड़ता था। शान्ता की माँ पढ़ी-लिखी थीं। वे पास-पड़ोस की किशोरियों को पढ़ाया करती थीं और शान्ता को उन्होंने रामायण अर्थ-सहित तथा श्रीमद्भगवद्गीता मूलमात्र पढ़ाई थी।

मनोरमा के पति थे निरक्षर भट्टाचार्य्य। दस-बारह बीघा ज़मीन उनके पास अवश्य थी और उसे बँटाई पर उठा देने से जो मिल जाता था या गाँव में से जो कुछ पुण्य-दान में प्राप्त हो जाता था, उसी से उन दोनों स्त्री-पुरुषों का जीवन-निर्वाह होता था। मनोरमा भी काढ़ कर कुछ उपार्जित कर लेती थी। भोजन हो या न हो, पर मिश्र जी को भाँग के तीन रुद्र प्रातःकाल, तीन सायङ्काल और कभी-कभी इतने ही मध्याह्न-काल को भी अनिवार्य्य रूप से आवश्यक थे। घोटना था काम मनोरमा का; और उसी भाँग की गर्मी में वे दिन भर आँख मूँदे पड़े रहते थे। शरीर एक तो वैसे ही कृश था, उस पर इस भाँग की भयङ्कर ज्वाला ने तो उसे और भी शिथिल कर दिया। इस मद की मात्रा जब कुछ विशेष हो जाती, तब उसका भीषण प्रभाव मनोरमा ही की सुकुमार तनु-बेलि पर विशेष रूप से पड़ता। वह निर्बल, निर्मम वृद्ध उस सुन्दरी, सुकुमारी मनोरमा को बड़ी निष्ठुरता से मारता।

शान्ता और मनोरमा दोनो का स्नेह बाल्यावस्था मे अङ्कुरित होकर युवावस्था में पूर्ण विकास को पहुँचा हो, सो बात नहीं थी। युवावस्थाके वेदनामय जीवन ही ने दोनो को एक

सूत्र में बाँध दिया था। दोनों ही दुखी थीं—एक थी चिर-वैधव्य-पीड़िता, दूसरी थी दारुण दुःख-दुःखिता। एक ने पति के प्रेम से भरे हुए हृदय के आलिङ्गन का सुख कभी अनुभव ही नहीं किया था, दूसरी ने नाममात्र के पति के निर्लज्ज चुम्बन में मृत्यु की वेदना जैसी ज्वाला को छिपा हुआ पाया था। दोनों के कपाल फूट गए थे। एक के सिन्दूर की शोभा वैधव्य के अन्धकार में विलीन हो गई थी, दूसरी का सिन्दूर अग्नि की ज्वाला बनकर उसे तिल-तिल करके जला रहा था। इसीलिए वे दोनों आपस मे एक-दूसरे के दुःख से दुखी होकर प्रेम करने लग गई थीं।

शान्ता के पड़ोस ही में थोड़ी दूर पर मनोरमा का भग्न गृह था। घर के काम-काज से छुट्टी पाकर कभी मनोरमा दो घड़ी शान्ता के पास जाकर रो आती और कभी शान्ता अवसर पाकर मनोरमा की छाती पर सिर रख कर रो लेती। प्रातःकाल और सायङ्काल वे दोनों—चिर-दुःखिनी वे दोनों—जल लेने के लिए नदी-तट पर साथ-साथ जातीं। वर्षा हो या हेमन्त, गर्मी हो या बसन्त, जल लाना अनिवार्य्य था; पर उससे भी अधिक अनिवार्य्य था ऊषा और सन्ध्या के स्निग्ध आलोक मे दो व्यथित हृदयों का पारस्परिक दुख से करुण सहानुभूतिमय रोदन!

मनोरमा का मातृ-मन्दिर था लखनऊ मे। वह केवल सुन्दरी ही नहीं थी, शिक्षिता भी थी। जब से वह ललितपुर आई थी, तब से फिर लौट कर लखनऊ नही गई। ललितपुर में मानो उसे आजन्म निर्वासन का दण्ड पूरा करना था। शान्ता ब्याही

थी बरेली में। वह विवाह को छोड़कर फिर कभी अपने श्वसुर के यहाँ नहीं गई। उसके उपरान्त—उसके विधवा हो जाने के बाद उसे माता ने भेजा ही नहीं। सुना है, वह वंश का वंश नष्ट हो गया। सुनते हैं कि एक टूटा-फूटा मकान मात्र उस वंश की प्रतिष्ठा-स्वरूप अब तक अवशिष्ट है। शान्ता ने समदु:खिनी मनोरमा को पाकर अपनी हाहाकारमयी व्यथा को बहुत-कुछ शान्त कर लिया था। मनोरमा ने भी अपने दुख की बातें कह-कह कर अपने हृदय के भारी बोझ को अनेकांश में कम कर लिया था। ममवेदना की सहानुभूति पवित्र, अक्षय और शान्तिमयी होती है। उसका बन्धन अशिथिल, व्यापार पावन और सान्त्वना कपट-रहित होती है। इसीलिए यदि दारुण दुःख में—भीषण व्यथा में कभी कोई अपने सौभाग्य के शेष विधान से समान दुखी सहचर प्राप्त कर ले, तो उसे महामाया की अशेष करुणा समझनी चाहिए।

शान्ता की जननी कल्याणी मनोरमा से बड़ा स्नेह करती थीं। वे दुखी माँ इन दोनों समदु:खिनी सखियों को देखकर फूट-फूट कर रोने लगतीं। हाय! जननी का हृदय कैसा विशाल, कैसा उदार और कैसा करुणापूर्ण होता है। भला इस तुच्छ लेखक की निर्बल लेखनी उसके महत्व को कैसे वर्णन कर सकती है? वह तो केवल उसी के उद्देश्य से उसी के चरणों में श्रद्धापूर्वक प्रणाम करती है। मनोरमा भी उन पर बड़ी श्रद्धा रखती।

मनोरमा के आज के भाव ने शान्ता की प्रसुप्त दुःख-प्रवृत्ति को जगा दिया। बाल-विधवा ने जिस अपूर्व संयम, जिस आश्चर्य-

दमन से अपनी इस व्यथा को बाँध रक्खा था, वह बाँध आज टूट सा गया। दोनों फूट-फूट कर रोने लगीं; गङ्गा और यमुना के पवित्र सङ्गम की भाँति, इन दोनों के आँसुओं की धारा एक दूसरे से मिलने लगीं।

प्रवृत्ति-मन्दाकिनी का प्रवाह आँसुओं के रूप में प्रकट होता है।

## शिक्षा का प्रभाव
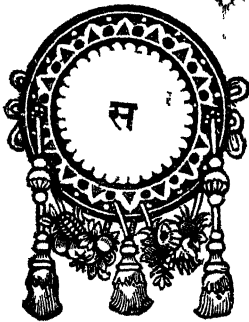
समय की बलिहारी है। इसमें सब कुछ बदल देने की शक्ति है। बालक को किशोर, किशोर को युवा, युवा को वृद्ध और वृद्ध को अशेष—इस प्रकार वह अवस्थाओं को निरन्तर परिवर्त्तित करता रहता है। आज जो पुण्य है, कल वह उसे अपने अतुल प्रताप से पाप बना देता है। सत्तयुग का सत्य कलियुग का झूठ है, कलियुग की पुण्य व्यापार-लीला द्वापर की कलङ्क-गाथा है। हिन्दू-युग की शिक्षा वर्तमान-काल में असार समझी जाती है। उस समय आजन्म गुरु-सेवा एवं निरन्तर अध्ययन करने पर पी-एच० डी० तो दूर, साधारण सी बी० ए० की भी डिगरी नहीं मिलती थी। उस समय सहस्र-सहस्र विद्वानों की सभा को अपने असीम पाण्डित्य से विजय कर लेने पर कहीं कोई एकाध विद्वान्

महामहोपाध्याय की उपाधि से विभूषित होता था। अब ऐसा कोई मुख्य स्थान नहीं, जहाँ दस-बीस महामहोपाध्याय ५०) रु० वार्षिक वृत्ति पर सन्तोष न कर रहे हों। प्राचीन काल के तपोधन आचार्य्य तपोवन में रहकर दस सहस्र विद्यार्थियों की शिक्षा, भोजन, रहन-सहन सबका प्रबन्ध अकेले—बिना वेतन-भोगी स्टाफ के किया करते थे; और आजकल के साहित्य-व्याकरण, सांख्य-वेदान्त, न्याय-तीर्थ महोदय बङ्गाली फैशन की विदेशी धोती पहने, पम्प-शू धारण किए हुए, केश-विन्यास से विभूषित होकर, पान चबाए, चौक की गलियों में घूमते फिरते हैं। पहले ललकार कर लड़ते थे, अब पीछे से मारते हैं। पहले पैदल से पैदल, रथी से रथी, महारथी से महारथी भिड़ते थे, अब आकाशयान जलयान पर बम्ब गिराता है। कहाँ गया वह नैतिक आदर्श? समय ने उसका विनाश कर दिया। अब तो वह पुस्तकों में है, सिद्धान्तों में है, दो-चार महात्माओं की पवित्र अवतारलीला में है। ज्ञान से कर्म में आए और कर्म से आसक्ति में। अब तो अध्यात्म आनन्द का अवसान-युग है, आडम्बर का उदीयमान् प्रताप है।

कौशल है विश्वासघात में; पाण्डित्य है निरर्थक, निस्सार प्रलाप में; धर्म है बड़ी-बड़ी वक्तृताओं में; भावावेश है व्यभिचार में और आनन्द है केवल स्वार्थपूर्ण परितृप्ति में।

ललितपुर के वर्त्तमान युवक ज़मीदार श्रीयुत ठाकुर बलवन्त-सिंह जी एम० ए० ( Oxon ) भी इसी युग की शिक्षा के विषमय फल हैं। देश की वास्तविक दुर्दशा के मूल कारणों से अनभिज्ञ

पत्र-सम्पादक इन शिक्षित जमींदारों को ही देश के अभ्युत्थान के लिए परमावश्यक मानते हैं। उनकी सम्मति में वे ही देश की विपत्ति-समस्या के अन्तर्रहस्य को समझ सकते हैं; और अपनी उस विलासमयी शिक्षा के आलोक से वे देश की दरिद्रता तथा अन्धकार दूर कर सकते हैं। इस सिद्धान्त की सत्यता में किसी को भी कुछ वक्तव्य नहीं; पर इन पत्रों की की हुई 'शिक्षित' शब्द की व्याख्या को सुनकर हृदय रोष और ग्लानि से भर जाता है। जिस शिक्षा से मनुष्य के हृदय में सहानुभूति की सरिता न प्रवाहित हो, जिस शिक्षा में त्याग का एकान्त अभाव और विलास का पूर्ण प्रभाव हो, उसका आश्रय लेने वाले जमींदार अपनी प्रजा का हित-साधन कर सकते हैं—यह सर्वथा माननीय नहीं है। अस्तु—

ठाकुर बलवन्त सिंह उन्तीस वर्ष के युवक हैं। आपने बहुत उच्च शिक्षा प्राप्त की है। सुनते हैं, आप जब विलायत में पढ़ते थे, तब आपकी प्रखर प्रतिभा पर आपके आचार्य्यगण बड़े प्रसन्न रहते थे। आप उदार सिद्धान्तों की गठरी लेकर विलायत से लौटे थे। आप में सब कुछ उदार था—सिद्धान्त उदार, आचार उदार, चरित्र उदार, वाणी उदार—आप 'उदार' की साक्षात् प्रतिमूर्ति थे। पर आप उदार शब्द का एक ही अर्थ ग्राह्य करते थे कि जो कुछ प्राचीन है, वह भ्रष्ट है; जो नवीन है, वह उच्च है। दो-चार उदाहरण देकर हम अपने कथन को स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे। चार मित्रों के बिना भोजन निरानन्द है; सुरा सामाजिक जीवन

के आनन्द एवं शारीरिक आरोग्यता के लिए अनिवार्य्य है ; स्त्री की प्रतिष्ठा करने का यह अर्थ नहीं है कि उसके हृदय की निहित काम-वासना को गुदगुदाया न जाय ; भारतवासी असभ्य हैं ; बर्बर जाति सभ्यता के व्यवहार की अधिकारिणी नहीं, स्त्री और सुरा—दोनों ही उपभोग्य हैं ; सौन्दर्य संसार का सार है और कोहनूर की भाँति उसका भी मूल्य है शक्ति, जब शक्ति है, धन है, बल है, तब उसका भोग न करना मूर्खता का लक्षण है, धर्म का नहीं ; स्त्री का सौन्दर्य्य किसी भी भाँति प्राप्त हो, वह भोग्य है—इन्हीं विचारों को वे 'उदार' कह कर परिगणित करते थे ; और इन्हें ही अपने हृदय मे धारण करके वे रामायण मात्र पढ़ सकने वाले अपने स्वर्गीय पिता ठाकुर यशवन्तसिंह की गद्दी पर आसीन हुए। वे संसार की दृष्टि में थे सुशिक्षित; उनके विचार थे परिमार्जित, उनके कर्म-व्यापार थे सुसञ्चलित एवं उनके भाव थे सुसंस्कृत।

उनके पिता केवल रामायण—बन्दर-निशाचरो की कपोल-कल्पित कथा मात्र पढ़ सकते थे। वे सभ्यता क्या जानें ? समय-कुसमय की चिन्ता न करके, प्रत्येक समय प्रत्येक प्राणी से बाहर चौपाल में आकर स्नेहपूर्वक मिल लेते थे। रात को ग्यारह बजे तक बैठे-बैठे पौराणिक गप्पों को कहा और सुना करते थे ; वे क्या जानते थे समय का मूल्य ? पुराने आदर्श के ऐसे जड़ पक्षपाती थे कि सिंह को पैदल ललकार कर मारते थे; धर्म के ऐसे अन्ध अनुयायी थे कि अपने जीवन को जड़ता-वश संशय

मे डालकर प्लेग के रोगी की सतत सेवा करते रहते थे। हर एक से हँसकर बोलते, पद-मर्य्यादा तक का ध्यान नही रखते। ऐसे वज्र बर्बर थे कि असभ्य कृषकों मे से किसी को 'बेटा', किसी को 'काका,' किसी को 'भैया' और किसी को 'चाचा' कहने मे क्षण भर भी लज्जित नहीं होते थे। गॉव की उन मूर्खा, अशिक्षिता बालाओं को 'बेटी', 'बहिन', 'काकी' और 'भौजाई' बनाने में भी वे कुण्ठित नहीं होते थे। ओफ ! इतना अज्ञान ! इतना घोर कुसंस्कार ! वर्त्तमान समाज-व्यवस्था के राजतन्त्र में विश्वास रखने वाले राजनीतिज्ञ उन्हे उस परमावश्यक सिद्धान्त के मूल मे कुठाराघात करने वाले मानते थे, जिस आचार के बिना अर्थात् ऊँच-नीच के विभेद को रक्खे बिना समाज का काम ही नही चल सकता। योग्यता ही सर्व-श्रेष्ठ होने का प्रमाण है इस सिद्धान्त के मानने वाले तो उन्हें एक बार ही जड़ एवं मूर्ख मानते। उन्हे आराम से मतलब नही, उन्हे मतलब था अनवरत परिश्रम से। धन का उन्हे क्या आनन्द, सारा काम तो वे अपने हाथ ही से कर लेते थे। वर्षा के सजल जलद की कान्ति को वे नशीली आँखों से न देखते थे; रमणी का रम्य रूप उन्हें नहीं लुभाता था। प्रातःकाल ही स्नान करना और फिर पढ़ना रामायण, इससे बढ़कर उनके अन्ध-विश्वास एवं भ्रष्ट संस्कार का और क्या प्रमाण हो सकता है ?

सच पूछिए तो देश का सौभाग्य-सूर्य्य उदय हो गया, जो ऐसा मूर्ख, सरल जमींदार इस धराधाम के भार को हलका कर गया।

तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। वासना की तरङ्गों का घात-प्रतिघात होने लगा, काम की वाड़वाग्नि धधक उठी। जब कोई पाप के कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण होता है, तब आत्मा उसे उस कृत्य से रोकने के लिए भयङ्कर प्रयास करती है। जब हृदय मे धधकने वाली वासना की अग्नि के एक ओर खड़ा होकर शैतान अपने भुवन-मोहन सौन्दर्य्य की मरीचिका को दिखाकर उसे अपनी ओर आकर्षित करता है, तब दूसरी ओर धर्म-प्रवृत्ति परिताप की प्रबल विरोधिनी शक्ति को साथ में लेकर पाप के मार्ग में मूर्तिमयी बाधा का स्वरूप बनाकर खड़ी हो जाती है। मनोरमा का हृदय भी इस समय इसी प्रकार के परस्पर विरोधी भावों का रण-क्षेत्र हो रहा था। मनोरमा भय से, वासना के आधिक्य से काँपने लगी। धीरे-धीरे महामद की तीव्रता मे सब कुछ विलीन हो गया।

पर तो भी आत्म-संयम करके मनोरमा बोली—आई थी किसी पापमयी भावना की प्रबल प्रेरणा से—इसमें सन्देह नहीं, पर यदि मैं किसी भाँति पतित होने से बच सकूँ, तो ऐसी चेष्टा करना क्या पाप-कर्म होगा?

युवक ने लालसा के प्रबल आवेश में कहा—पाप? पाप तो तुम्हें स्पर्श भी नहीं कर सकता। पाप क्या सुन्दर के पास जा सकता है? पाप कुत्सित है, कुरूपता ही में उसका निवास है। पर नहीं, मैं कुछ नहीं कहूँगा। तुम्हें यदि अनुताप हो रहा है; यदि वास्तव में मेरे प्रति तुम्हारा कण भर भी झुकाव नहीं

है ; यदि तुम्हारा यही अभीष्ट है कि मेरे प्रथम-मिलन का दण्ड मृत्यु हो, तो मैं कुछ नही कहता देवि !

मनोरमा—युवती, अत्याचार-पीड़िता, विकारमयी, वृद्ध-पत्नी, अतुल सुन्दरी मनोरमा—विलास-सुख-वञ्चिता, चिर-दु:खिनी मनोरमा—इस आकर्षण मन्त्र के प्रबल प्रभाव से न बच सकी। युवक ने उसका हाथ धीरे-धीरे अपने हाथ में लेकर कहा—सस्नेह पूछा—क्या कहती हो देवि ?

मनोरमा के लोचनों में आँसू थे—हृदय में आँधी थी। कलेवर में कम्प था। युवक ने सुगन्धि-चर्चित रेशमी रूमाल में उसकी आँखों के मोती चुरा लिए। मनोरमा ने कुछ भी नही कहा।

युवक ने फिर पूछा—क्या कहती हो देवि ?

मनोरमा ने बड़ी कठिनता से कहा—जानती हूँ, पाप-पथ पर जा रही हूँ। पतन सामने है, ठीक तुम्हारी ही तरह प्रत्यक्ष है। एक बाँध सा टूट गया है, एक रुकी हुई धारा सी निकल पड़ी है—मेरे हृदय में एक आँधी सी चल रही है। तुम कौन हो सुन्दर युवक ?

युवक ने कहा—आज से तीसरे दिन—द्वितीया के द्वितीय प्रहर में—यहीं मिलना, मैं अपना परिचय दूँगा। चलो, अधिक समय हो गया है। तुम्हें तुम्हारे घर तक पहुँचा दूँ क्या ?

मनोरमा ने कुछ विचलित भाव में कहा—न, पर मैं आने

का वचन नहीं देती। हो सका तो! शायद न भी आऊँ। मैं अकेली चली जाऊँगी, तुम्हारी आवश्यकता नहीं है। जो मनोरमा चोरी से आ सकती है, वह छिपे-छिपे जा भी सकती है!

पर मनोरमा की नयन-पुतली पर प्रस्फुट अक्षरों में लिखा था—अवश्य आऊँगी! और उस युवक ने तो उन शब्दों को स्पष्ट रूप से पढ़ लिया था!!

## शान्ता पर कुदृष्टि

महेन्द्रा-तट पर स्थित सामने वाले बाग़ ही में ललितपुर के सुशिक्षित, उदार ज़मींदार ठाकुर बलवन्तसिंह की नूतन निर्मित अट्टालिका है। यह बाग़ उनके दादा ठाकुर सुरेन्द्र-विक्रमसिह का लगाया हुआ है; दूर-दूर से बड़ा धन व्यय करके, अनोखे-अनोखे आमों की क़लमें व बीज लाकर लगाए व बोए गए थे। अवध-प्रान्त में यह एक प्रसिद्ध आम्र-कानन था; इसके अनेक आम्र-वृक्ष ऐसे थे जो अद्वितीय थे; उनमें फलने वाले आम के जैसा आम कहीं नहीं उपलब्ध होता था। इसी आम्र-वन के मध्य में ठाकुर बलवन्तसिंह ने अपनी रुचि के

लिए एक नूतन प्रणाली की अट्टालिका बनवाई थी। एक छोटा सा फूलो का उपवन इस प्रकार की कोठियों की अनिवार्य्य शोभा है, इसीलिए ठाकुर साहब ने इस प्रथा को भी निबाहने मे कोई कोर-कसर नहीं रक्खी थी। उसमें विकास था, रङ्ग था, रूप था; पर सुगन्धि नही थी। गुलाब की लता भी विलायती थी; उसमें गन्ध थी ही नहीं। चम्पक-लता के स्थान पर थे वर्ण-वर्ण के निर्गन्ध पुष्पों के पादप, बेले का नाम नहीं, चमेली की छाँह नहीं; मौलि-सिरी का निकुञ्ज नहीं। था क्या? साफ कटी हुई दूर्व, सुगन्ध-रहित सुमन-राशि और सुर्खी-शोभित रौसें।

यदि आम्र-मञ्जरी न फूली होती, तो भ्रमर वहाँ गुञ्जारते भी नही। वायु यदि बौर के मद से न बौराई होती, तो बहती तो अवश्य, पर इतनी झूमती कदापि नहीं। वहाँ कुछ नहीं था। थी केवल उच्च अट्टालिका; निर्गन्ध पुष्प-निकर और प्रकृति की प्रकृत शोभा का एकान्त बहिष्कार। वहाँ था केवल आडम्बर। हरी-हरी दूर्व पर आरामकुर्सी पड़ी थी, मेज़ लगी हुई थी, सुरा के लाल रङ्ग से शीशे का गिलास झलमल-झलमल कर रहा था। सुरा थी, पर सौन्दर्य्य नहीं था; वैभव था, पर विलास नहीं था; उन्मत्तता थी, पर मस्ती नही थी।

चैत्र का प्रोज्ज्वल, समुद्भासित नील नभोमण्डल इस समय योगी की भाँति, निर्विकार त्याग की भाँति, विशाल और मोक्ष की भाँति उन्मुक्त था; और अतुल कान्तिमय चन्द्र अनन्त आनन्द की पुञ्जीभूत प्रभा की भाँति वहाँ देदीप्यमान हो रहा था।

ठाकुर बलवन्तसिंह एक आराम-कुर्सी पर लेटे हुए थे, रेशमी बनियाइन के ऊपर रेशमी क़मीज़ उनके सुन्दर, सुडौल कलेवर की कान्ति को बढ़ा रही थी। बीच-बीच मे वे मद पीते जाते थे। सामने ही दूसरी आराम-कुर्सी पर मनोरमा का प्रेमी युवक बैठा हुआ था। रेशमी क़मीज़ पर रेशमी दुपट्टा शोभा पा रहा था, उसके अञ्चल के चाञ्चल्य में एक विशेष आकर्षण था; उसी के प्रभाव से वशीभूत होकर मनोरमा उसके निकट महेन्द्रा-तट पर आई थी। ठाकुर बलवन्तसिंह के द्वारा सादर, सस्नेह समर्पित की हुई सुरा को पीकर वह युवक बड़े अलस भाव में ज़रा लेट सा गया। जिस रेशमी रूमाल को उसने मनोरमा के कमल-लोचन के मकरन्द-बिन्दु से सुगन्धित किया था, उसी को हाथ में लेकर वह उससे लीला करने लगा।

ठाकुर बलवन्तसिंह ने कहा—इतना हो गया। महेन्द्रा के तट पर, निर्जन-शून्य निकुञ्ज मे उसने तुमसे भेंट की? पहली ही बाण-वर्षा मे तुम विजयी हो गए रामू!

रामू—हा! मेरी धारणा है कि मैं मनोरमा को अवश्य ही अपने हृदय का चन्द्रहार बनाने मे समर्थ हो सकूँगा। आकाश मे स्थित होकर चन्द्रमा हमारी उस प्रेम-लीला को देख रहा था। इसी रूमाल से मैंने आँसू पोंछे हैं बलवन्त!

बल०—मनोरमा नाम भी सौन्दर्य्य के ही अनुरूप है! आँसू? आँसू क्या? क्या वह अनुतप्त हुई थी? स्त्री का अनुताप केवल मौखिक होता है, सहज लज्जा की छाया मात्र होता है।

रामू—सो बात नहीं है बलवन्त! वह अनुताप सच्चा था; पर मैंने आज साहित्य-शास्त्र में वर्णित शृङ्गार-रस का प्रत्यक्ष अनुभव किया है। चन्द्रमा और समीर उद्दीपन थे, मैं और मनोरमा आलम्बन थे; और जब यह दोनो विभाव थे, तब स्थायी रस का सञ्चार तो अवश्यम्भावी था; पर जब वह रोने लगी, जब उसके हृदय मे परिताप की ज्वाला सहसा धधक उठी, तब मैं दक्षिण-नायक की भाँति यदि उसकी वासना एवं काम-प्रवृत्ति को फिर से उन्मत्त न कर देता, तो कदाचित् यह काण्ड वही समाप्त हो जाता। आज से तीसरे दिन हम फिर भेंट करेंगे।

बल०—बधाई! आश्चर्य्य है। कौन कहता है कि सुन्दरी का सौन्दर्य्य उपभोग्य नही है। प्रकृति ने उद्दीपन बन कर सहायता दी और किसी अज्ञेय दैवी शक्ति ने उसके हृदय की वासना को जगा दिया। पर दूसरी कौन थी रामू? मैं तो उसके स्निग्ध, सलज्ज, सुकुमार सौन्दर्य्य पर एकान्त भाव से मुग्ध हो गया हूँ।

रामू—दूसरी का नाममात्र जानता हूँ, पर वह कौन थीं; सो नहीं जानता। शायद तुम जानते हो; तुम इस गाँव के ज़मींदार हो। उसका नाम था शान्ता।

बल०—न! मैं भी नहीं जानता। तुम यहाँ नए आए हो, तुम्हे कोई नहीं जानता। तुम जिस प्रकार बेरोक-टोक, बिना सङ्कोच महेन्द्रा-तट पर चले जाते हो, मैं तो वैसे भी नहीं जा सकता। वैसा करने से मेरी प्रजा मेरे चरित्र पर अविश्वास कर सकती है; और सच पूछो तो इस प्रकार स्त्रियो और पुरुषों के बीच

में निस्सङ्कोच घूमना मुझे शोभा भी नहीं देता। कभी किसी पर्व इत्यादि के दिन यदि चला भी गया, तो पूर्णरूप से ढोंगी बन जाता हूँ। किसी स्त्री की ओर आँख उठा कर भी नही देखता। उस दिन तुम्हारे साथ वायु-सेवन से लौटते समय उन दोनों का कान्ति-दर्शन प्राप्त हुआ था, और तभी से उस सलज्जा किशोरी पर मैं मुग्ध हो गया हूँ।

रामू—ठीक है, पर शान्ता को वशीभूत करना उतना सहज नहीं है। वह तो एकान्त पवित्र, एकान्त पुण्यमयी एवं एकान्त शान्त है। शील की वह सरिता है। यदि कदाचित् तुम उसे अपना सके, तो तुम मुझसे कहीं अधिक ऊँची विजय प्राप्त करोगे। तुम मानो एक स्वर्ग-स्थिता सुर-बाला को परिभ्रष्ट करने का गौरव प्राप्त करोगे।

बल०—परिभ्रष्ट! परिभ्रष्ट क्या है? भ्रष्ट और इष्ट—दोनों एक ही नियम के दो विभिन्न स्वरूप हैं। समाज की आँखों की ओट में जो हो, वह भ्रष्ट होकर भी इष्ट है; और जो प्रत्यक्ष में प्रकट हो जाय, वह इष्ट होकर भी भ्रष्ट है। पाप और पुण्य दोनों ही कर्म के स्वरूप हैं। वाह्य है पुण्य, अन्तर है पाप। सब के सामने पुण्य, सब के पीठ-पीछे पाप। दोष—दोष किसी में नहीं है। यदि वैभव मे शक्ति है, प्रयत्न में प्राप्ति है, कपट नीति में सिद्धि है, तो अवश्य मैं शान्ता को अपनाऊँगा। मनोरमा शान्ता से अधिक सुन्दरी है, पर मेरी दृष्टि में उसका महत्व नहीं है। सूर्य्य की प्रथम किरण के आलोक में मैंने उसका दिव्य सौन्दर्य्य

देखा था। उसके लिए—उसके एक चुम्बन, एक आलिङ्गन, एक मिलन के लिए मैं सब कुछ दे दूँगा!

पता नहीं कि यह सब ठाकुर बलवन्तसिंह बोल रहे थे अथवा उनकी मदिरा से उन्मादिनी वासना। पर यह निश्चित था कि धर्म की की हुई पातिव्रत्य की पवित्र व्याख्या का एकांश भी यदि सत्य है, तो एक बलवन्तसिंह तो बेचारे चीज़ ही क्या है, सहस्र-सहस्र इन्द्र सम्मिलित होकर यदि अपनी पूर्ण दिव्य-शक्ति का भी प्रयोग करें, तो भी शान्ता के उस पवित्र दृढ़ व्रत को कदापि खण्डित नहीं कर सकते!

## मनोरमा और मिश्र जी

नोरमा महेन्द्रा-तट से एक प्रकार की भयङ्कर अग्नि को अपने हृदय में धारण करके लौटी। जान-बूझ कर—पाप के स्वरूप को पूर्ण रूप से पहिचान कर जब कोई उस पाप-कर्म में प्रथम बार प्रवृत्त होता है, तब उसकी अन्तरात्मा उसके पाप-व्यापार में पूर्ण रूप से बाधा समुपस्थित करती है। हृदय में वह अग्नि लगा देती है; मस्तिष्क में वह आँधी चला देती है; विवेक में वह तीव्र व्यथा उत्पन्न कर देती है। मनोरमा भी इस परिताप की ज्वाला में जलने लगी, उसका मनोमानस उद्वेलित होने लगा।

सामने ही मिश्र जी विजया की तरङ्ग में पड़े-पड़े ख़ुर्राटे ले रहे थे। उनका वह घन-कृष्ण अस्थि-चर्मावशेष शरीर बिलकुल नग्न था; केवल एक मैली, दुर्गन्धयुक्त जीर्ण धोती ही उस वीभत्स कलेवर की भयङ्करता को परिवर्द्धित कर रही थी। रङ्ग तो था

उनका वैसे ही कज्जल के समान ; चन्द्रमा की उस बिखरी हुई चाँदनी में ऐसा मालूम होता था, मानो साक्षात् लङ्कावासी निशाचर का कङ्काल पड़ा हो। और मनोरमा ? चन्द्रमा की उस दुग्ध के समान स्वच्छ-सुन्दर चाँदनी को अपनी परम शोभा से मन्द सी कर रही थी। उसका वह प्रसन्न पद्म के सदृश कान्त कलेवर युवावस्था की प्रोज्ज्वल प्रभा से प्रोद्भासित हो रहा था। स्वर्ग से जैसे उर्वशी उतर आई हो ; सुन्दर कल्पना मानो देह धारण करके चन्द्रमा की सुधा-धारा में स्नान कर रही हो।

विधाता के विधान पर किसी का चारा नहीं। मनोरमा और मिश्र जी दोनों का कैसा अयोग्य, अनुचित सम्बन्ध था ? जान-बूझ कर मानो एक हत्या की गई थी ; निष्ठुर, निर्मम स्वार्थ का वह मानो भीषण संहार-व्यापार था। मिश्र जी और मनोरमा दोनों जुदे-जुदे जगत् की वस्तु थे। मिश्र जी थे उस अवस्था में, जो आकर कभी जाती नहीं और मनोरमा खड़ी थी उस आनन्द-युग की आभा में, जो जाकर कभी आती नहीं। पद्मश्री पर जैसे तुषार टूट पड़ा हो, चन्द्रमा पर जैसे राहु ने आक्रमण कर दिया हो; निर्बल, निर्बोध, सरल शिशु की कोमल दर्पण सी स्वच्छ आत्मा पर जैसे पिशाच की छाया पड़ गई हो। मनोरमा की विकार-वासना अपने पति के इस विकृत स्वरूप को, वीभत्स शरीर को और शिथिल जीर्ण वृद्धत्व को देख कर और भी तीव्र हो उठी।

और वह युवक ! कैसा सुर-किशोर की भाँति सुन्दर था ; कैसा पारिजात के सजीव पुञ्ज की भाँति मनोरम था। उसके मुख से

जैसे फूलों की वर्षा होती है , उसके विशाल कमल-लोचन से जैसे प्यार की धारा सी बहती है। उसका वह सुन्दर गौर वर्ण, उसकी वह कलित कुन्तल केश-राशि, उसका वह ताम्बूल-रञ्जित मधुर अधर, उसका वह सुडौल, सुश्रीवान्, परिपुष्ट शरीर—सब कैसे आकर्षक थे ! यक्षकुमार की भाँति उसका वह सुकुमार अङ्ग मानो सुन्दरता की सुधा-धारा में स्नान सा किया हुआ था। उसका स्पर्श—वह बिजली का सा, आनन्द के सञ्चार का सा शीतल स्पर्श—कैसा सुखद था। ऐसे स्पर्श का तो अनुभव मनोरमा ने कभी नहीं किया था। मिश्र जी का स्पर्श यदि मौत का आलिङ्गन था, तो उस युवक का शीतल स्पर्श जीवन का आनन्द-प्रवाह था।

मनोरमा का विवेक-प्रदीप एक बार ही बुझ गया हो, सो बात नही थी। अन्तरात्मा का प्रकाश यद्यपि वासना से युद्ध करके उसे पराजित करने में सफल नहीं हुआ था, पर वह एकबार ही नष्ट भी नहीं हुआ था। मनोरमा जानती थी कि वह निश्चित् पतन की ओर अग्रसर हो रही है। वह समझती थी कि वह एक ऐसा महापातक करने जा रही है, जिसे सातों समुद्रो का जल, पुण्यमयी सरिताओं का समस्त सलिल-सञ्चय एवं स्वयं भगवान् की स्वच्छ, शीतल करुणा-कल्लोलिनी भी प्रक्षालित नहीं कर सकती थी। पर शैतान का सौन्दर्य्य बड़ा उन्मत्तकर है, बड़ा आकर्षक है। उसके मन्त्र-जाल में फँस कर मनोरमा की पीछे हटने की शक्ति नष्ट हो गई थी। लौटना चाहती थी, अन्तरात्मा की चेतावनी सुन

रही थी, धम का क्रोध-प्रदीप्त नयन देख रही थी, पर पीछे फिरना असम्भव था। कगार पर खड़ी थी—लौटना था असम्भव; मृत्यु थी ध्रुव।

परलोक हाथ से खिसका जा रहा था; पुण्य पाप की ज्वाला में भस्म हुआ जा रहा था; स्त्री का सर्वस्व व्यभिचार के हाथ में पड़ा जा रहा था; पर जाय, सब कुछ जाय—लोक, परलोक और स्वयं शेषशायी जगदीश्वर भी महासागर मे विलीन हो जायँ; पर मनोरमा पतङ्ग की भाँति वासना की ज्वाला में कूदे बिना बच नही सकती! वह नवयुवक पाप का प्रच्छन्न दूत हो अथवा पुण्य-लोक का प्रोज्ज्वल प्रवासी; व्यभिचारी हो अथवा निस्स्वार्थ प्रेमी; उसका सम्मिलन पतन का गह्वर हो अथवा उसकी वासना की परितृप्ति का शीतल जलाशय—मनोरमा इन बातों की विवेचना नहीं करना चाहती थी। वह तो उसके हाथों में, महेन्द्रा-तटवर्ती कुसुम-कुञ्ज में, चन्द्रमा के स्निग्ध आलोक में, बौर की सरस सुगन्ध मे, कोकिल की कोमल कूक मे अपनी हृदय-निधि सौंप आई थी—सदा के लिए समर्पित कर आई थी—फिरा लेने के लिए नहीं, बल्कि भोग करने के लिए।

मनोरमा इन्हीं अग्निमय विचारों मे विलीन थी। धीरे-धीरे रात्रि का द्वितीय प्रहर बीत गया। पर विचारों का स्रोत, अग्नि-निर्झर की भाँति बह रहा था। उसकी गति में क्षण भर का भी विराम नहीं था। वह अविश्रान्त होकर प्रवाहित हो रहा था!

पुराणों की कथा-माला चाहे सत्य हो चाहे कल्पित, पर

मानव-जीवन के अन्तर्गर्भ में जो प्रवृत्ति-प्रवाह रात-दिन बहता रहता है, वह अविरल प्रवाह जिन-जिन विभिन्न परिस्थितियो में जो-जो रूप धारण करता है एवं अन्त में उसका जो निश्चित् परिणाम होता है, इन सबकी विशद व्याख्या जैसी पुराणकार ने की है, वैसी शायद संसार के समस्त साहित्य को मन्थन करके भी नहीं प्राप्त की जा सकती है। दुर्बल, शिथिलेन्द्रिय, किन्तु सात्विकी गौतम के सहवास से अहिल्या अपनी प्रबल वासना को शान्त नही कर पाई, प्रकृति का पवित्र दर्शन, संसार के मात्सर्य्य का एकान्त बहिष्कार एवं पावन तपश्चर्य्या के परम उच्च भाव भी जब त्रिभुवन-सुन्दरी अहिल्या की काम-वासना को प्रज्वलित होने से न रोक सके, तब मनोरमा—निर्बल, अत्याचार-पीड़िता मनोरमा—यदि वासना की अग्नि में आँख मूँदकर कूदने को प्रस्तुत हो रही है, तो क्या इसके लिए—इस सहज मानव-निर्बलता के लिए—वह इतनी घृणा की पात्र है कि हम उसके इस पापमय पतन के लिए सहानुभूति न प्रकट करके उस पर निरर्थक दुर्वाच्यों की बाण-वर्षा करने लग जायँ? निर्बल, प्रवृत्ति-सञ्चालित, तुच्छ पुरुष—जो नवीन फूलो की माला लता से तोड़ कर अपने कण्ठ में दोलायमान करने के लिए नित्य प्रयत्न-शील रहते हैं, जो सरल बालिका के विमल जीवन को कलुषित करने के लिए अवसर की सदा खोज करते रहते हैं, जिन्हें वासना-मयी युवती के आकर्षण करने का मन्त्र करतलगत है, वे ही अधम पुरुष मनोरमा की इस सहज निर्बलता को अपवाद रूप

से नहीं, बल्कि नियमित रूप से सबके हृदय-कुञ्ज में बिहार करने वाली निर्बलता को उसका पापजन्य कृत्य मान कर उस पर अनर्थक, निस्सार, कपटमय क्रोध प्रकट करें, तो यह केवल उनका अभिनय मात्र होगा। सत्य का इसमें अल्पांश हो तो भले ही हो !

चन्द्रमा की विमल, शीतल चाँदनी सुधा-जल छिड़क कर मनोरमा की प्रबल ज्वाला को शान्त करने का पुण्य प्रयास कर रही थी, समीर सुगन्धि का व्यजन डुला रहा था, कोकिल जैसे लोरी गाकर उसे सुला देना चाहती थी। उन सबकी चेष्टा सफल हुई, रात्रि के तृतीय प्रहर की उस शान्त, कोलाहल-शून्य शीतल गोद में पड़कर मनोरमा सो गई !

## मनोरमा का स्वप्न

प्न स्मृति की सन्तान है। वह स्मृति चाहे चेतनता की सरिता पर नाव की भाँति बही जा रही हो, चाहे रेणुका की भाँति उसके गर्भ में डूबी पड़ी हो, पर जब उस सरिता में स्फूर्ति होती है, जब समीर-हिल्लोल से उसका वक्षस्थल उद्वेलित होने लगता है, तब स्मृति भी चञ्चल हो उठती है, आनन्द से नाचने लगती है अथवा घात-प्रतिघात से आकुल होने लगती है। उसकी सन्तान स्वप्न है, और वह भी छाया कि भाँति उसका अनुसरण करने लगती है। उसका स्वरूप भी तदनुकूल ही हो जाता है।

मनोरमा ने स्वप्न देखा—महेन्द्रा की तरङ्गें परस्पर प्रणयालिङ्गन कर रही हैं। आम्र-कानन की डाल-डाल कोकिल की मस्त कूक से रोमाञ्चित हो रही है। समीर अठखेलियाँ कर रहा है। चुपके से, पीछे से आकर मञ्जरी को चूम-चूम कर उसका परिमल उड़ा लेता है। चन्द्रमा इस आनन्द-किलोल को देखकर मन्द-मन्द हास्य कर रहा है। कलकल करती हुई सलिल-धारा आनन्द की ताल पर अनुराग का राग गाती हुई बही जा रही है। वह (मनोरमा) स्वयं एक स्फटिक जैसी स्वच्छ शिला पर बैठी हुई है, और उसके पार्श्व-देश में उसका कर-कमल अपने पाणि-पल्लव में लेकर वह नवयुवक उसके चन्द्र-विनिन्दित मुख की ओर एकटक देख रहा है। दोनो नीरव थे, दोनों के हृदय-कुञ्ज एक अपूर्व विलास की आभा से परिपूर्ण हो रहे थे।

. वह युवक बोला—प्राणेश्वरि! जीवन में इससे अधिक आनन्द पाने की मैंने कभी कल्पना तक नहीं की थी।

मनोरमा—पर सुन्दर युवक! इस आनन्द में कहीं पर कुछ न कुछ भूल अवश्य है। नही तो मेरा हृदय क्यों किसी अज्ञात आशङ्का से विकल रहता है।

युवक हँस कर बोला—क्या तुम अपनी व्याकुलता के रहस्य को जानना चाहती हो हृदयेश्वरि!

मनोरमा ने कुछ आवेश के साथ कहा—बता सकते हो? बता सकते हो युवक! व्याधि जान लेने से शायद उसकी औषधि की भी व्यवस्था हो सकेगी।

युवक ने परिहासपूर्वक पूछा—और वैद्य का पुरस्कार क्या होगा ?

मनोरमा ने विस्फारित-नयना होकर कहा—और क्या चाहते हो ? अक्षय पवित्र सतीत्व तक को मैंने तुम्हारे चरणों में समर्पण कर दिया ; परलोक और इहलोक दोनों तुम पर वार दिए, अपना सारा यौवन एक साधारण भेट की भाँति तुम्हारे हाथों में अर्पित कर दिया। अब और क्या दूँ ? अब मेरे पास देने को क्या है ? जब मैंने अपना सर्वस्व दे दिया, धर्म तक दे-दिया, तब और क्या लोगे ? सुन्दर युवक ! मैं सच कहती हूँ कि यदि मेरी अनजान में मेरे पास कुछ और शेप रह गया हो और वह तुम्हारा इष्ट हो, तो मैं उसे भी निस्सङ्कोच भाव में तुम्हारे प्रफुल्ल पाद-पद्म में समर्पित करने को उद्यत हूँ ?

युवक ने उल्लास-सहित कहा—तुम्हारा वचन ही यथेष्ट है। तुम्हारी इस व्याकुलता के रहस्य को बताने के उपरान्त मैं अपना पुरस्कार माँग लूँगा। दोगी देवि ?

मनोरमा ने गम्भीर, दृढ़ भाव में कहा—दूँगी ! कहो !

युवक ने अब गम्भीर होकर कहा—सुनो। तुम्हारी इस प्रेम-कुटीर के एक निभृत कोने में अविश्वास छिपकर बैठा हुआ है। वही धीरे-धीरे तुम्हारे सुमन-सुकुमार हृदय को काट रहा है। वह तुम्हे दिखाई नहीं पड़ता है—वह है सूक्ष्म; पर उसका दंशन ऐसा तीव्र है कि उससे तुम सदा व्याकुल रहती हो। प्रेम की मदिरा पीकर भी, सर्वस्व त्याग कर चुकने पर भी एवं हृदय की

वासना को परितृप्त करने का साधन प्राप्त कर लेने पर भी तुम्हारा हृदय सदा व्याकुल रहता है। उसका एक मात्र कारण है तुम्हारा यह अविश्वास।

मनोरमा जैसे चौक पड़ी; उसने व्यग्र स्वर में पूछा—अविश्वास? अविश्वास किस पर? ऐसी बात तुम कैसे कह रहे हो? किस पर? किस पर मुझे अविश्वास है?

युवक ने करुण स्वर मे कहा—मुझ पर। अपने प्रेम-पूर्ण पात्र पर। मैं देखता हूँ कि तुम्हे इस आनन्द मे, प्रेम के इस विमल विलास में विश्वास नही है। तुम्हे इस बात की रात-दिन आशङ्का लगी रहती है कि कही मैं तुम्हें परित्याग न कर दूँ। तुम्हें मेरे इन वचनों पर पूर्ण विश्वास नहीं है कि मै तुम्हे हृदय का रक्त बनाकर, शरीर की आत्मा बनाकर एवं प्राणों की परमेश्वरी बनाकर रक्खूँगा। तुम निश्चय मुझे अविश्वास की दृष्टि से देखती हो। जब तक तुम इस अविश्वास को एकान्त रूप से नहीं छोड़ोगी, तब तक तुम्हे कल नही मिलेगी।

मनोरमा ने विकल वाणी मे कहा—युवक! तुम अन्तर की बात कैसे जान गए? मेरे कौन से व्यवहार से तुमने यह परिणाम निकाला? मैंने क्या तुम्हारी किसी भी इच्छा का, तुम्हारी किसी भी आज्ञा का कभी प्रतिवाद किया है?

युवक ने मनोरमा के सामने नतजानु होकर कहा—नही देवि! मैं जानता हूँ, तुम्हारे व्यवहार प्रेम की मदिरा से सराबोर हैं। तुम्हारा चुम्बन मस्त है, तुम्हारा आलिङ्गन अशिथिल है; पर

तुम्हारे इस अधर-प्रान्त पर खेलने वाली रूखी हँसी मे यह अविश्वास छिपा हुआ है।

मनोरमा ने व्यथित स्वर में कहा—हो सकता है, पर इसे दूर कैसे करूँ ?

युवक ने आवेगमय ज्वलन्त शब्दो में उत्तर दिया—लोक की लज्जा को तिलाञ्जलि देकर इस संसार के शिर पर पादाघात करके तोड़ दो इस मायिक सम्बन्ध-समूह को, और आओ हम दोनो चन्द्रमा और चाँदनी की भाँति मिल कर एक हो जायँ।

मनोरमा ने बात उड़ाने के ढङ्ग से कहा—जाने दो इन बातों को। जो रातें आराम से कट रही हैं, कटने दो। बोलो युवक! तुम इस रहस्य की मीमांसा करने का क्या पुरस्कार चाहते हो ?

युवक ने विनम्र भाव मे कहा—तुम्हारा एकान्त अविचल विश्वास। दोगी ? बोलो देवि! आज तुम्हारे 'हाँ' और 'ना' पर ही मेरा जीवन अवलम्बित है प्यारी!

मनोरमा ने क्षीण स्वर मे कहा—देती हूँ। पर देखो, कहीं इस सरल, कोमल कुसुम को पैरो से मत कुचल देना, मेरे हृदय-निकुञ्ज के बिहारी!

उसी समय सहसा एक भयङ्कर आघात से पृथ्वी काँपने लगी। दूर पर आकाश के अन्तिम छोर पर कृष्ण वर्ण मेघ-मण्डल के बीच में सजीव दामिनी की भाँति, एक देवी प्रकट होकर अपनी तर्जनी से मनोरमा को ऐसा वचन देने से रोकने लगी। मनोरमा को उसने एक ओर देखने का सङ्केत किया। मनोरमा ने देखा कि एक

भग्न प्रासाद में एक भयङ्कर अग्नि-कुण्ड धाँय-धाँय कर रहा है।

उसी समय—ठीक उसी समय—जब मनोरमा इस भयङ्कर अग्नि की ज्वाला को देख कर काँपने लगी थी, शान्ता ने नीचे से आवाज़ दी—मनोरमा!

मनोरमा चौंक कर उठ बैठी—उसने प्रत्युत्तर दिया—आती हूँ।

ऊषा का आगमन होने वाला था। वे दोनो सखियाँ पानी भरने के लिए महेन्द्रा नदी की ओर अपनी-अपनी कलशी लेकर चल दीं।

स्वप्न सत्य का निराकार चित्र है!
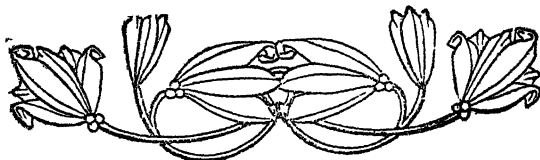
## विषाद की छाया

ऊषा-काल की सुगन्धि-सरस समीर ने मनोरमा के उत्तप्त ललाट एवं परिदग्ध हृदय को यद्यपि बहुत कुछ शान्त किया, पर तो भी वह उसकी आन्तरिक व्यग्रता को कम नही कर सकी। मनोरमा का हृदय जिस भयङ्कर आकुलता का निवास बन गया था, वह मानो अमिट होकर आई थी। मनोरमा स्वभाव ही से चञ्चल एवं परिहासमयी थी; उस व्यथामय जीवन में भी वह हँसती रहती थी, पर आज उसका वह भाव नहीं था; आज मनोरमा बिना कुछ कहे-सुने, किसी अज्ञेय प्रबल शक्ति के द्वारा परिचालित होकर अपनी सखी शान्ता के साथ चली जा रही थी। शान्ता भी चुप थी; और मनोरमा की कोमल वाणी तो आज अन्तर की अग्नि में तिल-तिल करके जल ही रही थी।

प्रति दिन मनोरमा ही पहले-पहल बातचीत प्रारम्भ करती थी ; पर आज तो जैसे उसे भाषा का ज्ञान रहा ही नही। चुपचाप, बिना कुछ कहे-सुने चलना मनोरमा के आन्तरिक दुःख को पूर्ण रूप से प्रकट कर रहा था। शान्ता से भी उसका यह भाव अलक्षित न रह सका। मुख पर की विषाद-रेखा, शरीर की ज्वाला-दग्ध विवर्ण कान्ति—यह दोनों तो पूर्ण आलोक के न होने के कारण स्पष्ट रूप से नही दिखाई पड़ते थे, पर मनोरमा की विषादमयी गति, दुखमय मूकभाव—यह दोनो पूर्ण रूप से उस स्निग्ध अन्धकार मे भी अलक्षित नही रह सके और शान्ता की सौहार्दमयी सहानुभूति जग उठी।

शान्ता ने स्नेहाप्लुत स्वर में कहा—बहिन मनोरमा! दुख करने से तो दुख दूर होगा नही। सन्तोष—सन्तोष ही हम जैसी दुःखी स्त्रियो के लिए एकमात्र उपाय है। मुझे देखो बहिन, मेरा सिन्दूर पुछे आज नौ वर्ष हो गए; मैंने तो यह भी नही जाना कि सौभाग्य-सिन्दूर की शोभा के साथ आनन्द का कौन सा भाव रहता है। तुम्हारा सिन्दूर तो है; तुम्हारे हाथ की चूड़ियाँ तो सुरक्षित हैं, तुम क्यो दुःख करती हो बहिन! मिश्र जी से ही तुम्हारा सौभाग्य है, उनका सतत हित-चिन्तन ही तुम्हारा कर्त्तव्य है।

मनोरमा ने व्यथित शब्दो मे उत्तर दिया—शान्ता, तुम देवी हो, तुम्हारे ललाट पर सिन्दूर की शोभा नहीं है; पर तुम्हारा मुख-मण्डल पवित्रता की अक्षय ज्योति से देदीप्यमान् है। तुम जो कर

सकती हो, मैं वह नहीं कर सकती। तुम सन्तोप धारण कर सकती हो, पर मैं नही। कारण स्पष्ट है। तुम देवी हो, मै दानवी।

शान्ता—ऐसा न कहो बहिन! मेरा यह विश्वास है कि तुम सब कुछ कर सकती हो। मै तुम्हारी छोटी होकर धैर्य्य धारण कर सकती हूँ। तुम मेरी बड़ी होकर सन्तोप को नहीं अपना सकती, यह मानने के लिए मेरा मन नही चाहता। मैंने पति के सहवास-सुख का कभी अनुभव नही किया। इसीलिए न चखे हुए पदार्थ की ओर से विराग ले लेना उतना कष्टकर नही है, जितना चखे हुए पदार्थ की ओर से। तुमने पति पाकर भी सुख नहीं पाया, तुम्हारे हृदय की परितृप्ति नही हुई। तुमने जल का आभास पाया, पर वह जल तुम्हारी प्यास न बुझा सका। इसीलिए तुम्हे सन्तोप धारण करना उतना सहज नहीं है, पर तो भी बहिन! तुम महामाया की कृपा से सौभाग्यवती हो। तुम्हारा यह पवित्र सौभाग्य ही तुम्हें सन्तोष देने के लिए पूर्ण-रूप से समर्थ है।

मनोरमा—मैं बहुत आगे बढ़ गई हूँ बहिन! स्वयं शैतान ने मेरे हृदय और बुद्धि पर पूर्ण रूप से अधिकार कर लिया है। अब मेरे लिए इन पवित्र उपदेशों पर चलना एकान्त असम्भव है।

शान्ता—असम्भव कुछ नही है, चेष्टा करो बहिन! न मालूम क्यो मेरा मन बार-बार यही कहता है कि तुम्हारे और मेरे जीवन का प्रवाह समान रूप से बहेगा। यदि तुम पर विपत्ति का आक्रमण हुआ, यदि तुम कदाचित् अपनी तीव्र वासना के उन्माद

में पड़कर किसी भयङ्कर दुख के गह्वर में गिर पड़ीं, तो मुझे—तुम्हारी छोटी बहिन को—अवश्य ही दारुण व्यथा की अग्नि में पतित होना होगा।

इस बात को सुन कर मनोरमा के हृदय पर बड़ा आघात पहुँचा। वह देखने लगी—शान्ता के पवित्र मुख-मण्डल की ओर एकटक देखने लगी। ऊषा का आलोक कुछ-कुछ प्रोज्ज्वल हो उठा था। उसमे उसने शान्ता के मुख-मण्डल पर करुण प्रेम, पवित्र समवेदना एवं सरल चिन्ता की त्रिवेणी प्रवाहित होती हुई देखी। उसके हृदय मे पुनः तीव्र वेदना हाहाकार कर उठी। कई बार उसके मन मे यह भाव उठा कि वह अपनी उस प्रणय-लीला के गुप्त व्यापार को शान्ता के सम्मुख खोल कर कह दे, पर न मालूम क्यो उसका मुख बन्द हो गया। वह बोल न सकी। इतनी बड़ी कुत्सित बात कहने का उसे साहस नहुआ।

मनोरमा ने बड़े संयम से कहा—भगवती न करे ऐसा हो। पर यदि ऐसा हुआ भी, तो मै उस आपत्ति-सागर मे भले ही लीन हो जाऊँ, पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि तुम्हारा यह अक्षय पवित्र भाव, तुम्हारे जीवन की नाव का केवट बन कर, तुम्हे उस पार अवश्य लगा देगा। बहिन, मनोरमा का जीवन एक विकारमय अग्नि-कुण्ड है, उसमे सन्तोष के जल का एक बिन्दु-मात्र भी अवशिष्ट नहीं है।

शान्ता—पार पहुँच कर भी तो मैं अकेली—तुम्हारे बिना सुखी नहीं हो सकूँगी। हम दोनो बहिनें है। एक माँ की बेटी

न सही, पर एक ही प्रेम की दो पुतली अवश्य हैं। बहिन, तुम्हारे इस भाव को देख कर बड़ा भय लगता है। ऐसा भास हो रहा है कि मानो विपत्ति की घटा धीरे-धीरे हम दोनों के जीवन-गगन को ढक रही है। पता नहीं, इतना दुःख क्या हमारे पूर्ण प्रायश्चित्त के लिए पर्य्याप्त नहीं है।

मनोरमा—कौन जाने अभी और क्या नया-नया दुःख देखना बदा है। दुःख भी असीम है। पर बहिन, सुना है—बड़ो के मुख से सुना है कि बड़ा चाहे बुरा हो या भला, पर जब वह अपने छोटे को सच्चे हृदय से आशीर्वाद या शाप देता है, तब उसकी वह अन्तरात्मा से निकली हुई वाणी अवश्य सफल होती है। मैं तुम्हारी बड़ी बहिन हूँ, मै तुम्हे अपने अन्तर से आशीर्वाद देती हूँ कि इस संसार की समस्त ज्वाला पुञ्जीभूत होकर भी तुम्हारे इस अक्षय, स्वर्गीय, पवित्र भाव को भस्म न कर सके। तुम प्रोज्ज्वल सुवर्ण की भाँति विपत्ति की ज्वाला से और भी उज्ज्वलतर होकर निकलो। राज-रानी की कृपा से तुम्हारा पावन, करुण, शीतल हृदय सन्तोष और आत्म-विलास की लीला-भूमि बना रहे।

शान्ता—बहिन, तुम्हारा आशीर्वाद मेरे लिए देवता के वरदान के तुल्य है। पर मेरी यही कामना है एवं महामाया के श्रीचरणों में मेरी यही विनय है कि मैं तुम्हारी छोटी बहिन की तरह तुम्हारे इस विषमय उत्ताप को अपनी सतत सेवा से शान्त करती

रहूँ ; और जब कभी भाग्य के विधान से हम लोगों में से कोई इहलोक को छोड़कर परमधाम की यात्रा करे, तब दूसरे की कोमल गोद में लेट कर एक-दूसरे के मुख को स्थिर प्रोज्ज्वल दृष्टि से एकटक देखने का अवसर अवश्य मिल जाय।

दोनों की विनती और कामना को महामाया ने स्वीकार कर लिया। जननी की वात्सल्य-धारा पापी और पुण्यात्मा को समान भाव से शीतल करती है; उसमे विभेद का वैषम्य विलीन हो जाता है!

## कल्याणी

न्ता की जननी कल्याणी ही थी। उनका नाम कल्याणी था, उनकी लीला भी साक्षात् कल्याणी के ही अनुरूप थी। उनके हृदय में यद्यपि व्यथा की तीव्र ज्वाला सदा ही प्रज्वलित रहती थी, पर उन्होंने उस दारुण अग्नि को अपूर्व संयम एवं कठोर तप के द्वारा दमन कर रक्खा था। किशोरावस्था से ही उनके सहज, पवित्र हृदय की वृत्ति तप-नियम एवं संयम की ओर विशेष रूप से प्रवाहित होती थी। उनकी बाल-क्रीड़ा में भी एक प्रकार की विशेष गम्भीरता की छाप रहती थी। पति की पर्य्यङ्क-शायिनी होकर भी वे उन्मत्त विलास की लीला में प्रवृत्त नहीं हुईं। पति की कल्याण-कामना उनकी सतत साधना का विषय

थी, और जब से उनके हृदय-देवता इस नश्वर संसार को छोड़ कर अविचल, तुरीय धाम को पधार गए, तब से तो वे रात-दिन कठोर तप एवं उग्रव्रत का अनुष्ठान सा करने लगीं। केवल एक बार वे रूखा-सूखा भोजन करती, चटाई पर शयन करतीं और निरन्तर आराधना और तन्मयी साधना को नित्य सहचरी बना कर वे अपना जीवन व्यतीत करती।

जब से उनके ललाट पर वैधव्य का अन्धकार छा गया था, तब से उनके अधर पर किसी ने कभी प्रच्छन्न भाव से भी मन्द मुस्कान की एक क्षीण रेखा तक नहीं देखी। वैसे भी उनकी प्रकृति गम्भीर थी, पर पति की मृत्यु के उपरान्त से तो उनका हृदय संयम का सदन एवं उनका तपोभूषित शरीर वैराग्य का निकेतन सा हो गया था। पति की मृत्यु ही उनके जीवन की सबसे दारुण घटना हो, सो बात नही है। एक-एक करके उनके पाँच पुत्र मृत्यु की महानदी में विलीन हो गए थे। उनकी सन्तति में केवल शान्ता ही शेष थी, पर विधाता के दारुण विधान से उनकी वह हृदय-निधि शान्ता भी चिर-दुर्भाग्य की आजन्म-व्यापिनी ज्वाला का कवल बन गई। दुःख पर दुःख—कोढ़ मे खाज; पर जिन्होंने स्त्री-चरित्र का सूक्ष्म निरीक्षण किया है, वह यह बात जानते हैं कि स्त्री ही मे समस्त प्रवृत्तियाँ अपने परम विकास की चरम सीमा पर पहुँचती है। पुण्य में, प्रेम में, व्यथा में, आनन्द में—किसी भाव में क्यो न स्थित हो, पर स्त्री सदा ही अपूर्व संयम, दृढ़ निश्चय एवं कठोर आत्म-दमन का पूर्ण परिचय देती है। जब व्यथा की अग्नि

से पुरुष हाहाकार कर उठता है, तब स्त्री आत्मा के अन्तर में दस सहस्र बिच्छुओं के दंशन की ज्वाला को धारण करके भी मुस्कराती रहती है। अनन्त पाण्डित्य का प्रोज्ज्वल प्रकाश लेकर ढूँढ़िए, पर संसार और स्वर्ग के इतिहास मे ऐसा एक भी पुरुप नहीं मिलेगा, जिसने दुराचारिणी स्त्री के लिए—जिसे उसने अपने प्रेम के प्रभात मे प्राणेश्वरी कह दिया हो, शान्त, निर्विकार भाव से अग्नि में बैठ कर प्राण विसर्जन कर दिए हो; पर ऐसी स्त्रियों के गुणानुवाद से सारा इतिहास मुखरित हो रहा है, जिन्होने व्यभिचारी पुरुष के लिए, निर्मम, व्याध-सदृश अत्याचारी पति के लिए, हँसते-हँसते, बिना विकार के, बिना सङ्कोच के चिता की प्रज्वलित अग्नि में उसके अपवित्र शव को अपने स्पर्श से पवित्र करके तथा उसे अपनी गोद मे रख कर प्राण दे दिए हैं। इतना ही नहीं, अपने अपूर्व पातिव्रत्य के पुण्य से उन्होने उस नराधम को नरक की प्रज्वलित ज्वाला से बचा कर स्वर्ग के नन्दन-कुञ्ज में पहुँचा दिया है। इसी आत्म-संयम की, इसी प्रोज्ज्वल पवित्रता की एवं इसी दृढ़ निश्चय की पवित्र प्रभा से शान्ता की जननी कल्याणी का पवित्र मुख-मण्डल समुद्भासित हो रहा था। उन्होंने तपोनिष्ठा को अग्नि में बैठ कर उस महादु:ख-रूपी सिंह का उपहास सा कर दिया था।

पर शान्ता—उनकी एक मात्र पुत्री चिर-सौभाग्यहीना शान्ता के मुख पर मलिनता की अस्पष्ट-छाया देखते ही उनका वह आत्म-दमन उस दु:ख-केशरी को पूर्ण रूप से दबाए रखने-

में असमर्थ हो उठता था। दुःख की नदी में एक बाढ़ सी आ जाती थी, संयम का दृढ़ बाँध भी उसे रोक रखने में असमर्थ सा सिद्ध होता था। और इस वात्सल्य-धारा से शान्ता का हृदय ही शीतल होता हो, सो बात नहीं थी। मनोरमा भी उनकी इस स्नेह-सरिता में आनन्द से स्नान करती थी। मनोरमा शान्ता की चिर-सहचरी थी। शान्ता मनोरमा को बड़ी बहिन के समान मान कर उस पर श्रद्धा रखती एवं मनोरमा शान्ता को अपनी छोटी बहिन मान कर उसका दुलार करती। वे दोनो अवकाश मिलने पर एक दूसरे की दुःख-गाथा को सुन कर आँसू बहाती थी और इसी सहज स्नेह ने कल्याणी के मातृ-भाव को और भी बढ़ा दिया था। कल्याणी शान्ता और मनोरमा को समान दृष्टि से देखने लगी थीं। दोनों ही उनकी आँखो की पुतली थीं। कल्याणी मनोरमा को अपनी औरस सन्तान से कम स्नेह नहीं करती थीं। कम क्या? वे तो एक बार ही यह भूल गई थीं कि मनोरमा ब्राह्मण-कन्या है। मनोरमा अब उनकी पुत्री थी, वे मनोरमा की माँ थीं। शान्ता और मनोरमा दोनो उन्हीं की थीं—शान्ता छोटी, मनोरमा बड़ी। वे दोनों ही चिर-दुःखिनी थीं। दोनों ही को माता के शीतल स्नेह की अनिवार्य्य रूप से आवश्यकता थी; और कल्याणी—जननी कल्याणी—के हृदय से वात्सल्य की विमल शीतल धारा निकल कर उन दोनो की चिर-व्यथा को सतत शान्त करती थी। वे दोनों उनकी पवित्र गोद में शिर रख कर रोतीं और वे अपनी आँखों में आँसू भर कर अपने पुण्य अञ्चल से उनके आँसुओं

को पोंछती थीं। स्वयं रोकर उन्हे चुप करतीं; अपने आशीर्वाद से वे उन्हें सदा प्लावित करतीं और निस्स्वार्थ भाव से अपनी साधना के मधुर फल को वे उन दोनों में समान भाग में बाँट देतीं। भेद-भाव से वे परे थीं। मनोरमा और शान्ता दोनों ही उनकी प्रणय-पुत्तलिका थीं।

इसीलिए वे शान्ता अथवा मनोरमा, दोनो में से जब कभी किसी के भी मुख पर मलिनता की स्पष्ट अथवा अस्पष्ट छाया का आभास पातीं, तभी उनका कुसुम-कोमल हृदय टूक-टूक होने लगता। वे यथाशक्ति उपदेश देकर, सान्त्वना देकर, हित-वाक्य कह कर उनकी उस मलिनता को दूर करने की चेष्टा करतीं। उनकी चेष्टा सर्वांश में न सही, अधिकांश में अवश्य सफल होती थी; क्योंकि वह सच्ची, निस्स्वार्थमयी एवं करुण होती थी।

हम पहले ही कह चुके हैं कि इधर कई दिनों से शान्ता और मनोरमा दोनों के ही मुख-मण्डल पर मलिनता की अस्पष्ट छाया धीरे-धीरे गाढ़तर होती जाती थी। शान्ता के वदन पर वह अन्धकार विशेष रूप से प्रकट होने लगा था। मनोरमा ने एक प्रकार से उस अन्धकार को छिपा कर रखने में सफलता प्राप्त कर ली थी; पर शान्ता—सरल, निर्बोध, दर्पण-स्वच्छ शान्ता—उसे कपट के आवरण से ढाँकना जानती ही नहीं थी। शान्ता का वाह्य और अन्तर एक सा था। मनोरमा का बाहर और भीतर दो प्रकार के रङ्गों से रँगा हुआ था। मनोरमा ने हृदय के भावों को शरीर के आवरण में छिपा रखने की कला में पूर्ण कौशल प्राप्त कर लिया था। पर शान्ता मन

की तरङ्गों को मुख पर प्रतिविम्बित न होने देने वाली विद्या के विषय में कण भर भी नहीं जानती थी। एक अज्ञात आशङ्का की, एक भावी विपत्ति की सूचना की क्षीण छाया देख कर शान्ता उद्विग्न हो उठी थी। उस उद्विग्नता ने उसके मुख पर तथा उसके हृदय पर समान रूप से प्रभाव डाला था। धीरे-धीरे उसका प्रशान्त गौर मुख कृष्ण वर्ण धारण करने लगा। वह स्थिर, गम्भीर, शान्त रह कर भी अपने उस भाव को, अपनी माता की दृष्टि से अलक्षित रखने मे समर्थ न हुई। उसकी वैसी इच्छा भी नहीं थी।

उसके इस मलिन भाव ने कल्याणी की कल्याणमयी साधना में बाधा डालना प्रारम्भ कर दिया। वह शान्ता के स्वभाव से परिचित थीं। वह जानती थीं कि पाप शान्ता को स्पर्श तक नहीं कर सकता था। उन्हें विश्वास था कि शान्ता की इस दुश्चिन्ता का उद्गम चाहे कही से हो; पर पाप की कल्पना का उसमें अंश नहीं है। शान्ता पवित्रता की प्राणमयी प्रतिमा थी। पाप के लिए वह साक्षात् अग्नि-शिखा थी। इसीलिए उस दुश्चिन्ता का कारण क्या है ? इस बात को लेकर कल्याणी रात-दिन सोचने लगीं। पर जब अन्त में वह कुछ निश्चित न कर सकी, तो उन्होंने यही उचित समझा कि वे आज नित्य-नैमित्तिक कर्मों से निबट कर, गृह-सम्बन्धी आवश्यक कार्यों से छुटकारा पाकर, एकान्त में शान्ता से ही उसकी दुश्चिन्ता का कारण पूछ लेवें और उसका उचित प्रतिकार करें।

माता का हृदय दुश्चिन्ता की इस सूचना से काँप गया।

एक भूकम्प के आघात की तरह इस घटना ने उसमें बड़ी ठेस पहुँचाई। वैसे तो माता का पावन हृदय सारे दुखो में, सारी ज्वालाओं में एवं सारे अभावो मे हिमाचल की भाँति निर्विकार एवं निश्चल रहता है।

## सती का सतीत्व
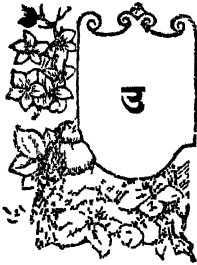
न्मत्त विलासमय सौन्दर्य्य ही काम-वासना की अग्नि को प्रज्ज्वलित कर देता हो, सो बात नहीं है। कवि के एक देशीय पुण्य वर्णन में अथवा पवित्र प्रभा से उद्भासित हृदय में इस बात का आभास तक न पाया जाय—यह बात दूसरी है। जो इस स्थूल प्रत्यक्ष संसार के बीच में घूमते हैं, जो पग-पग पर पाप का प्रच्छन्न प्रलोभन देखते हैं, वे इस बात को कदापि अस्वीकार नहीं कर सकते कि पतिव्रता की पवित्र सुन्दरता भी कामुक के हृदय में वासना की वैसी ही ज्वाला प्रज्ज्वलित कर देती है, जैसी रङ्गमयी वाराङ्गना की उन्मत्त कटाक्ष-लीला। यदि ऐसा न होता तो महासती सीता के स्निग्ध, पवित्र, सौन्दर्य्य को देख कर निशाचरेश्वर रावण का चित्त चलायमान् क्यों होता ? पतिप्राणा त्रिभुवन-सुन्दरी दमयन्ती को देख कर निर्जन वन मे एकाकिनी, असहाय अवस्था में पाकर, व्याध्र की काम-वासना क्यों

उन्मत्त हो जाती ? शची के स्वर्ग-गौरव सौन्दर्य्य को देख कर नहुष की मदन-ज्वाला क्यों धधक उठती ? यह विश्व पाप और पुण्य के निरन्तर संग्राम की भूमि है। जो दृढ़ है— आत्म-बल से बलिष्ठ है, वही अन्त में विजय-माल पहिन कर इस युद्ध-क्षेत्र से लौटता है। वह फिर चाहे पुण्य हो, चाहे पाप।

महेन्द्रा-तट से जब शान्ता और मनोरमा जल लेकर लौट रही थीं, तब बलवन्त और रामू ने इन दोनो को देखा था। सूर्य्य की प्रथम किरण उस समय गुलाब के मुख पर नाच रही थी; समस्त रात्रि की विश्राममयी निद्रा के उपरान्त विश्व का व्यापार फिर से नूतन अध्यवसाय के साथ अपने कार्य्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हो रहा था। जिस मार्ग से यह दोनो युवतियाँ अपने घर को लौट रही थी, उसी मार्ग पर सामने की ओर से बलवन्त अपने मित्र रामू के साथ, प्रातःकाल के समय वायु-सेवन करके अपने आम्र-कानन वाले प्रासाद को लौट रहे थे। उन्होंने इन युवतियों को देखा। शान्ता ने इन दोनो को नहीं देखा, पर मनोरमा और रामू की दृष्टि एक-दूसरे से मिल गई। रामू मनोरमा पर मुग्ध हो गया और बलवन्त शान्ता के उस शान्त, पवित्र सौन्दर्य्य पर आसक्त हो गया। ऊषा का प्राकृतिक सौन्दर्य्यमय विलास उद्दीपन बन गया; शान्ता और मनोरमा आलम्बन हो गईं और इसके परिणाम-स्वरूप शृङ्गार-रस उत्पन्न होकर रामू और बलवन्त के हृदय-मण्डल को प्लावित करने लगा। कामुक हृदय हो, युवती का विमल कान्त सौन्दर्य्य हो, ऊषा काल

का स्निग्ध समय हो, फिर जो कुछ हो सकता है वह मनुष्य का निर्बल हृदय भली-भाँति जानता है।

कामुक बलवन्तसिंह इस भुवन-मोहन वैराग्य-वेश पर विमुग्ध हो गए। शान्ता की वह सलज्ज, स्थिर दृष्टि, धवल, शुभ्र खद्दर की साड़ी के बीच में शोभित होने वाली उसकी वह स्निग्ध मुख-श्री और उसकी आडम्बर-रहित वैराग्य वेश-भूषा बलवन्त की प्रबल काम-ज्वाला को और भी परिवर्द्धित करने लगीं।

मनोरमा की बात जाने दीजिए। उसमें तो आडम्बर का अभाव नहीं था। पर शान्ता तो मानो विराग की मूर्तिमती शोभा थी। उसके वन्दनीय शिरोमण्डल पर कलित कुन्तल केश-राशि की शोभा का विलास नहीं था। वह सम्पत्ति तो आज से कई वर्ष पहले ही महेन्द्रा के गर्भ में छिपा दी गई थी। शुभ्र, स्वच्छ, तुषार की शोभा को धारण करने वाले ललाट का सौभाग्य-सिन्दूर तो दुर्भाग्य के अञ्चल से, बहुत दिन हुए, पोंछ दिया गया था। आँखों का कज्जल आँसुओं की अविरल धारा में बह गया था। अधर पर की पान की लाली ज्वालामयी आहों की अग्नि में भस्मसात् हो चुकी थी। शरीर के सारे आभूषण त्यागी के सर्वस्व दान की भाँति पति के पूज्य नाम पर न्यौछावर किए जा चुके थे उसकी गति में मद-मत्त मराल-शावक की समता का आभास मा भी नहीं रह गया था। वह तो निर्विकार मृदुल समीर की भाँि चुपके से अपने नूपुर-ध्वनि के यौवन-वन को मुखरित न कर

प्रशान्त भाव से, अपने पथ को अतिक्रमण मात्र करती थी। शान्ता का वेष सजीव वैराग्य का वेष था। उसमें वासना की तरङ्गों की चपलता नहीं थी—उसमें आन्तरिक शान्ति की विमल गम्भीरता थी। उसमें विलास की रस-रङ्गमयी शोभा का नृत्य नहीं था—उसमें सर्वस्व-त्याग का समुज्ज्वल प्रकाश था! उसमें वासना का उद्दीपन विकास नहीं था—उसमे पवित्रता की सलज्ज-श्री का निवास था!

शान्ता ने, जहाँ तक हो सका, अपने सहज सौन्दर्य्य को वैराग्य के आवरण में छिपा दिया था। पर जो उसकी शक्ति के परे था, जो अवश्यम्भावी था, जो एकान्त अनिवार्य्य था, उसे छिपा कर वह कैसे रख सकती थी? युवावस्था का प्रभात-काल था; लोचन-कलिका खिलने लगी थी; वक्षस्थल का विकास पूर्णत्व को प्राप्त हो रहा था; अधर-पल्लव सहज ललाई से उज्ज्वल होने लगे थे और सारे शरीर पर सौन्दर्य्य-सूर्य्य की सुवर्णमयी किरण-माला नृत्य करने लग गई थी। हिमाचल के तुषार पर सूर्य्य की किरणों का नृत्य एकान्त पवित्र है, रसाल के ऊपर ललाई की रेखा पूर्ण रूप से पाप-शून्य है; पर उनका दर्शन योगी के हृदय में आनन्द का पावन उल्लास और कामुक के मन में वासना का तीव्र उन्माद उत्पन्न करता है। शान्ता ने शृङ्गार का बहिष्कार कर दिया था; पर विकास को रोक देना तो उसके हाथ की बात नहीं थी। आपकी इच्छा हो, आप कस्तूरी को स्वर्णके पात्र में रख दीजिए। आपकी इच्छा हो, आप उसे

मैले, जीर्ण वस्त्र में लपेट कर रख दीजिए; पर आप उसकी सहज सुगन्ध को कैसे रोक सकते हैं? हीरे को आप चाहे देवता के काञ्चन-किरीट में जटित कर दीजिए और चाहे उसे दुर्गन्धमय पङ्कपूर्ण स्थल पर डाल दीजिए; पर आप उसकी प्रदीप्त प्रभा को कैसे मिटा सकते हैं? शान्ता ने भी अपने यौवन को त्याग के आडम्बर-शून्य आवरण में छिपाया था अवश्य, पर वह उसकी स्वाभाविक, अनोखी माधुरी को कैसे नष्ट कर सकती थी? शान्ता सब कुछ देकर, कठोर त्याग करके भी यदि अपने उस यौवन के बदले में वीभत्स वृद्धत्व प्राप्त कर सकती होती, तो उसे इसमें ज़रा भी इन्कार नहीं था। पर यह सम्भव नहीं था। कलियुग के प्रथम चरण मे यह बात अनहोनी सी है। द्वापर के अवसान-युग में, सुनते हैं, पितामह भीष्म ने अपने यौवन को पिता के पूज्य पाद-पद्म में समर्पित करके उनका वृद्धत्व सानन्द स्वीकार किया था। पर उन युगों में एक नहीं, इस प्रकार की अनेक अनोखी घटनाएँ घटित होती थीं। अब तो एक बार ही यह बातें असम्भव सी हैं।

बलवन्तसिंह इसी यौवन के शान्त, विमल, आर्ष वेश पर विमुग्ध हो गए। मानसरोवर की प्रशान्त, निर्मल शोभा को देख कर विलासी की वासना और भी तीव्रता से धधक उठी। निर्बोध, सरल, मराल-शावक की सुन्दरता को देख कर व्याध की हिंसामयी प्रवृत्ति और भी लालायित हो उठी। संसार का

नियम ही ऐसा है। फूल का हृदय छेदा जाता है! क्यों? क्योंकि वह इतना स्वच्छ, सुन्दर और पवित्र है। कोकिल को क्यों पिञ्जर-बद्ध किया जाता है? क्योंकि वह कोमल, मधुर एवं पावन राग की अलापने वाली है। शान्ता का वह स्थिर, सलज्ज, सरल, सुशील, पवित्र भाव ही उसका काल हो गया। बलवन्त उस निर्बल, निर्मल एवं निरीह सारिका को हस्तगत करने के लिए विकल हो उठा। और रामू? वह मनोरमा को अपने वक्षस्थल पर धारण करने के लिए उन्मत्त हो उठा। पाप का प्रलोभन लेकर, वासना का आकर्षण लेकर एवं कपट का जाल लेकर वह उस रस-रङ्गमयी उन्मादिनी कोकिल को पकड़ने के लिए अग्रसर हुआ। रामू की सफलता का दिग्दर्शन हम करा चुके हैं; बलवन्त का षड्यन्त्र आगे उद्घाटित होगा।

पर बलवन्त मूर्ख नहीं थे। वे जानते थे कि रामू ने मनोरमा को जिस प्रकार चन्द्रमा की उस चाँदनी में, समीर के उस प्रवाह में, कोकिल की उस कूक में, महेन्द्रा-तटवर्ती निकुञ्ज में एक ही कटाक्ष से बिद्ध कर दिया था, उस प्रकार वैसी सरलता से शान्ता के यौवन का दुर्गम दुर्ग हस्तगत होने वाला नहीं था। उसकी प्राप्ति के लिए कूट बुद्धि के चरम कौशल की, वैभव के प्रबल प्रलोभन की और कदाचित् लौकिक शक्ति के परम अत्याचार की आवश्यकता पड़ेगी। इतने पर भी सफलता और असफलता का निश्चय नहीं। कलकल करती हुई वेगवती महानदी की गम्भीरता का पता लगाना सरल है; पर स्थिर, शान्त मानसरोवर में पैठते

समय इस बात का पूर्ण निश्चय नहीं होता कि डुबकी लगाने वाला उसके अतल तल पर पहुँच कर मोती की थाली लिए हुए ही लौटेगा। सम्भव है, वह वहाँ तक पहुँचे ही नहीं; पहुँच कर कदाचित् जीवित न लौटे, यह भी असम्भव नहीं।

नागिन को खिलाना सरल है; केशरी के अङ्ग पर पाद-प्रहार करना सम्भव है, हिमाचल के सर्वोच्च शिखर से कूद कर जीवित रह जाना असम्भव व्यापार नही है; पर सती के अग्निमय सौन्दर्य्य को विलास की सामग्री बनाने की चेष्टा करना साक्षात् मृत्यु से, सजीव पाशुपत अस्त्र से, मूर्तिमान् सुदर्शन चक्र से, विकराल चण्डी की सर्व-संहारकारिणी खड्ग से परिहास करना है!

## अज्ञात भय

र की बाईं ओर जो एक छोटी सी कोठरी है, उसी में शान्ता निवास करती है। वह विधवा की आडम्बर-रहित तपोमयी कुटी है। उसमें बड़ी स्वच्छता है; वह कुटी किसी पवित्र प्रभा से प्रोज्वल हो रही है। प्रायः दूसरे तीसरे-दिन वह गोबर से लीपी जाती है और एक पक्ष में एक बार उसकी दीवारें पिड़ोर से पोती जाती हैं। उसमें विशेष सामग्री एकत्रित नहीं है। एक ओर बिछी है एक चटाई और उस पर रक्खा हुआ है केवल एक कम्बल; एक कोने में रक्खा हुआ है एक मिट्टी का जल-पात्र और उसके पास ही में बिछा हुआ है पवित्र कुशासन। कुशासन के पास एक छोटी सी चौकी बिछी हुई है और उस चौकी पर स्वच्छ, पवित्र वस्त्र में बँधी हुई रामायण और गीता रक्खी हुई हैं; और उन पर दो-चार फूल चढ़ाए हुए हैं। शान्ता ने गीता का

केवल मूल मात्र ही पढ़ा था; पर रामायण पर उसकी विशेष रुचि और श्रद्धा थी और उसने बड़े मनोयोग के साथ अर्थ-सहित उसका अध्ययन किया था। "रामायण सरल से सरल और कठिन से कठिन महाकाव्य है। प्रकृति की गोद में किलोल करने वाले कुटीर-वासी कृषक-समुदाय से लेकर बड़ी-बड़ी राज-सभाओं को अपने अपूर्व, अगाध पाण्डित्य से चकित कर देने वाले दिग्गज पण्डित तक—संसार के कोलाहल में निरन्तर घूमने वाले घोर मोही से लेकर शान्त, प्रोज्ज्वल तपोवन में एकान्त निष्ठापूर्वक भगवच्चिन्तन करने वाले योगीश्वर तक, सभी उस पर मुग्ध हैं। अपनी मेधा-शक्ति को दिखाने के लिए जो सदा लालायित रहते हैं, जो केवल शब्दार्थ के व्यङ्ग पर ही विशेष ध्यान देते है, जो विषय के वैचित्र्य ही को कविता का प्रोज्ज्वल चमत्कार मानते हैं, उनके लिए रामायण अलङ्कार से परिपूर्ण, कल्पना से ओत-प्रोत एवं भाषा के सौन्दर्य्य से देदीप्यमान् महाकाव्य है, पर जो उसकी 'कलित, कोमल, कान्त पदावली' के अभ्यन्तर में एक करुणामयी स्नेह-सरिता को प्रवाहित होते हुए देखते है, जो महासती सीता के त्याग में पातिव्रत्य की पूर्ण विकाश-लीला का अपूर्व विलास, केवट के सरल, शान्त प्रेम में भक्ति का विमल प्रवाह एवं कौशल्या के वैधव्य जीवन में महाशक्ति की एक पवित्र प्रभा एवं सन्तोष-मय, विकार-शून्य अनुभूति का शान्त, सुन्दर स्वरूप देखते हैं, उनके लिए, उन हरि-चरणाम्बुज के प्रेमी भ्रमरो के लिए, रामायण भक्ति के विशाल पत्र पर प्रेम की लेखनी से आनन्द

की सुवर्ण वर्णों में चित्रित, महामाया जनक-नन्दिनी का प्रोज्ज्वल चित्र है।

दोपहर का समय था। बाहर बड़ी लू चल रही थी; पर शान्ता की कोठरी में अपूर्व शीतलता विराज रही थी। न वहाँ थी गर्मी, न थी सर्दी; वहाँ पर तो मूर्तिमान् वसन्त वैराग्य-वेश में शोभायमान् था। शान्ता चटाई पर बैठी-बैठी पड़ोस में रहने वाले नौरतन अहीर के छोटे लड़के का कुर्त्ता सी रही थी, वह सीने में तन्मयी सी हो रही थी। मनुष्य-स्वभाव में जब गम्भीरता का अंश अधिक हो जाता है, तब वह जिस काम को करने लगता है, उसमें तन्मय हो जाता है। जब मनुष्य कर्म को केवल कर्त्तव्य मान कर करने लगता है, जब उसके लिए कर्म का विशेषत्व कर्म ही में रहता है और फल और विफल की आशङ्का जब उसके प्रशान्त मन को विकल करने में असमर्थ होती है, तब वह मनुष्य अपनी आत्मा में तन्मयता का इस प्रकार अनुभव करने लगता है, मानो वह सहज हो, मानो वह उसका स्वभाव हो।

अपने किए हुए निश्चय के अनुसार कल्याणी, घर के कामों से निवृत्त होकर शान्ता की कोठरी में आईं। उनका हृदय किसी अनिष्ट की आशङ्का से बड़ा विकल हो रहा था, पर आजन्म-व्यापी साधना के बल से प्रबल होकर उन्होंने अपने इस विकल भाव को अपनी वाह्यिक चेष्टाओं में प्रकट होने से रोक दिया था। इसलिए नहीं कि वे इस कपट-कौशल के द्वारा, अपने मन की चञ्चलता के अविकाश के द्वारा, अपने किसी स्वार्थ की सिद्धि

करना चाहती थीं; किन्तु इसलिए कि वे इस प्रकार के विकल भाव के वाह्यिक प्रस्फुटन को अपनी तपोमयी चिन्ता का प्रधान शत्रु समझती थीं। मन के चाञ्चल्य को एक बार ही पूर्ण रूप से रोक देना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। पर संयम के द्वारा उसकी प्रबलता को निरन्तर रोकने की चेष्टा करना ही उसकी प्रकाण्ड उद्दण्डता से बचने का एक मात्र साधन है। इसीलिए शान्ता-जननी अपने मन के वेग को, हृदय की चञ्चलता को दबाए रखती थीं, प्रकट नहीं होने देती थीं; और दूसरा कारण था शान्ता के प्रति उनका असीम वात्सल्य। यह तो स्पष्ट ही था कि शान्ता ने अपनी उस गम्भीरता को अपनी माता से प्राप्त किया था। माता का चाञ्चल्य-प्रकाश कहीं चिर-दुःखिनी पुत्री के व्यथामय वैधव्य जीवन को दुर्वह न बना दे, इसी आशङ्का से कल्याणी अपने कभी-कभी उमड़ने वाले हृदय के प्रबल वेग को बलात् रोक देती थीं। निरन्तर अभ्यास से ही उन्होंने यह अलौकिक क्षमता प्राप्त की थी।

शान्ता चटाई से उठ कर कुशासन पर बैठ गई और कल्याणी धीरे-धीरे आकर चटाई पर, हाथ के ऊपर शिर रख कर लेट गईं। सीना उसने छोड़ दिया और वह माँ के पूज्य चरणों को दाबने लगी। थोड़ी देर तक माँ-बेटी दोनों ही शान्त रहीं; न बोली शान्ता; न बोली कल्याणी। कल्याणी यही सोच रही थीं कि वे किस तरह उस विषय को प्रारम्भ करें, जिसके विषय में पूछने के लिए वे आई थीं। कई एक प्रकार की प्रस्तावनाएँ उनके

कल्पना-लोक मे आई और अन्तर्हित हो गई; पर वे विषय-प्रवेश की समुचित भूमिका बाँधने में असमर्थ रहीं। अन्त में उन्होंने यही निश्चय किया कि वह सीधे, स्पष्ट रूप से पूछेंगी। हानि भी क्या है? शान्ता उनसे कुछ छिपावेगी थोड़े ही। तब वकील की भाँति उत्तर-प्रत्युत्तर के जाल में फाँस कर, बड़े कौशल के साथ बाल की खाल निकालना व्यर्थ था; निरर्थक आडम्बर था; निस्सार प्रयास था; व्यर्थ व्यापार था।

कल्याणी ने आँख उठा कर शान्ता के सौम्य, सरल वदन-मण्डल की ओर देखा। उन्हें ऐसा ज्ञात हुआ मानो मानसरोवर के निर्मल, गम्भीर जल में सघन मेघ-मण्डल की छाया पड़ रही हो। उनके मन में हठात् यह आशङ्का उत्पन्न हो गई कि यह घटा बिना बरसे नहीं हटेगी और उस शान्त, स्वच्छ सरोवर को उद्वेलित एवं पङ्किल किए बिना नहीं रहेगी।

कल्याणी ने स्नेह-भरे मन्द स्वर मे कहा—शान्ता! कई दिनों से मै देख रही हूँ कि तेरे मुख पर एक प्रकार की कालिमा सी छाती जा रही है। तेरे मुख की स्वाभाविक गम्भीरता के स्थान पर अब कई दिन से मैं विषाद की रेखा देख रही हूँ। ऐसा मालूम होता है कि किसी दुश्चिन्ता ने तेरे हृदय में स्थान कर लिया है। तेरा यह भाव, तेरी यह मलिन कान्ति, मुझे बहुत चिन्तित कर रही है बेटी!

शान्ता ने स्थिर, कोमल स्वर में प्रत्युत्तर दिया—माँ! तुम्हारा कहना एक बार ही ठीक है। आज एक पक्ष हुआ जब

से मेरे हृदय में एक अज्ञात भय की उत्पत्ति हो गई है। कोई बार-बार मेरी आत्मा के सामने आकर कहता है कि मेरे ऊपर कोई बड़ी भारी विपत्ति आने वाली है। बारह-तेरह दिन हुए मनोरमा के उन दुख-भरे वचनों ने, उसके उस तीव्र नास्तिक भावों ने मेरे हृदय पर बड़ा भारी आघात किया था। माँ! मैंने तुमसे कहा भी था; पर वह आघात चिर-स्थायी होगा, यह मैंने नही सोचा था। अब देखती हूँ, जैसे वह आघात जाने के लिए नहीं, रहने के लिए आया है। इधर मै देखती हूँ कि मनोरमा में भी एक विचित्र परिवर्त्तन सा हो गया है। वह अब बहुत कम मेरे पास आती है, और जब आती है तब आते ही चले जाने के लिए उद्विग्न हो जाती है। मालूम नहीं माँ! उसे क्या हो गया है और उसकी इस दशा को देख कर ही मैं सच पूछो तो बड़ी चिन्तित रहती हूँ।

कल्याणी—चिन्ता की बात अवश्य है। पर तूने तो संयम के समुद्र में चिन्ता को डुबाए रखने का अभ्यास किया है बेटी! आज तक तो तेरा ऐसा मलिन मुख मैंने कभी देखा नही।

शान्ता—माँ! यह भी तुम्हारे चरणो का प्रताप है। तुम्हीं से तो मैंने आत्म-दमन की दीक्षा ली है। तुम्हारे ही इस शान्त, पवित्र, प्रोज्ज्वल जीवन को देख कर, उसका अनुकरण करके मैंने अपने जीवन को उसी के अनुरूप बनाने की चेष्टा की है। मैंने देखा और सुना कि तुमने एक-एक करके मेरे पाँच भाई धरती देवी के अङ्क में दे दिए; पर तुमने मेरे पिता को निरुद्विग्न रखने के लिए अपनी आँखों में ही अपने गर्म आँसू

पी लिए। तुम्हारा यह आत्म-संयम महामाया की महा करुणा से भरा हुआ है, तुम्हे मैने दूसरे की साधारण विपत्ति में फूट-फूट कर रोते देखा है। माँ! मेरे लिए तो तुम जननी ही नहीं; आदि-माता का भी अवतार हो, पर क्या करूँ? माँ! मेरी आत्म-दमन की सारी चेष्टाएँ विफल हो रही है। मनोरमा के इस व्यथामय भाव ने मुझे बहुत भयभीत कर दिया है। हाय माँ! कही मेरी बड़ी बहिन पतन की कन्दरा में पड़ कर चकनाचूर न हो जाय। माँ! नास्तिक भाव का उदय, विशेषतया स्त्री में, बड़ा भयङ्कर है।

कल्याणी—विधाता का विधान जैसा होगा, वैसा अवश्य ही घटित होगा। पर इतना निश्चित है कि मैं स्वयं इस आघात को न सह सकूँगी। मनोरमा मुझे तुम से कम प्यारी नहीं है, वह मेरे लिए गर्भ-जात सन्तति के समान है। उसका पतन देख कर मैं जीवित न रह सकूँगी, इसमें सन्देह नहीं।

शान्ता—सो मैं जानती हूँ और इसीलिए मैं और भी चिन्तित हूँ। तुम्हारा हृदय फूल से भी अधिक कोमल है, वह क्या इतने बड़े आघात को सह सकेगा?

कल्याणी—पर क्या कर सकते हैं? महामाया से प्रार्थना करो बेटी कि मनोरमा का कल्याण हो। उन्हीं की कृपा से मनोरमा के हृदय और बुद्धि का अन्धकारमय आवरण हट जायगा।

शान्ता—मेरी तो यह निश्चित धारणा है कि मनोरमा पर आने वाली विपत्ति का आघात केवल उसके शिर पर ही नहीं पड़ेगा, मेरे ऊपर भी उसका वज्र-प्रहार होगा। हम दोनों

चिर-दुःखिनी हैं; एक यदि अग्नि के कुण्ड में गिर पड़ेगी, तो सम्भव है कि दूसरी भी लपटो से घिर कर भस्म हो जाय।

कल्याणी—असम्भव कुछ नही है बेटी! पर भगवती अमिट को भी मेट सकती है। कल रात मैंने स्वप्न में देखा कि तेरे पिता मुझे बुला रहे है। वे कहते थे कि अब वे मुझे इस मलिन मत्सर-मय विश्व मे नहीं रहने देंगे। मैंने उनसे पूछा कि शान्ता इस विश्व में अकेली रह जायगी; और तब उसकी रक्षा कौन करेगा? तब उन्होंने जो उत्तर दिया उसे सुन बेटी! वह तेरे लिए सिद्ध-मन्त्र की भाँति फलप्रद होगा, उन्होंने कहा—देखो! वह एक विपत्ति की ज्वाला आ रही है। वह निश्चित है; अटल विधान की भाँति अमिट है। पर इस विपत्ति-ज्वाला से शान्ता विमल स्वर्ण की भाँति और भी प्रोज्ज्वल एवं पवित्र होकर निकलेगी। रक्षा? वही अनाथो की जननी, स्नेहमयी, ममतामयी आदि-माता उसकी रक्षा करेंगी। तुम अब आओ, तुम्हारा कर्त्तव्य अब समाप्त हो गया है। बेटी! अब कदाचित् मैं अधिक दिनो तक जीवित नहीं रह सकूँगी; उनके इस स्वप्न-आह्वान में मैं अपनी समाप्ति-लीला की सूचना पा रही हूँ। पर मैं चाहती थी कि मै तुझे किसी अक्षय-मन्त्र की शक्ति के द्वारा इस विपत्ति में पड़ने से बचा लेती।

शान्ता ने आँखों में आँसू भर कर कहा—तुम्हारी इच्छा चिर-कल्याणमयी हो। यदि जाओगी ही तो जाओ! मैं क्या कर सकती हूँ? मैं तुम्हारी पुत्री, तुम्हारी शिष्या होकर किस मुँह से कहूँ कि पतिदेव के—मेरे पूज्यपाद पिता के इस आह्वान को

अनसुना कर दो। न! मूर्ख स्त्रियों की भाँति तुम्हारे इस सङ्कल्प को तोड़ने की चेष्टा नहीं करूँगी। मैं जानती हूँ कि पति-लोक को प्राप्त होना ही स्त्री का एकमात्र लक्ष्य है। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसकी सारी साधना, आराधना एवं तपोमयी चर्य्या प्रधावित होती है। पर यदि मैं अपनी सेवा से वहाँ भी तुम्हारे जीवन को और अधिक मधुर एवं प्रसन्न बना सकती, तो मेरी हृदय की अभिलाषा पूरी तौर से पूरी हो जाती।

कल्याणी—अच्छा! जाने दो बेटी! देखूँ, यदि मनोरमा का यह नास्तिक भाव दूर कर सकूँ। कल दोपहर को उसे यहीं बुलाना, मैं उससे भेंट करूँगी।

शान्ता—अच्छा माँ! मैं उसे स्वयं बुला लाऊँगी।

कल्याणी चुप हो गई। शान्ता उसी भाँति उनके पैर दाबती रही। कल्याणी ने आँखें बन्द कर लीं, वे सो गईं।

वे निन्द्रा की कोमल गोद मे पड़ी थी या चिन्ता की तन्मयी आराधना मे मग्न थी, यह कौन कह सकता है? उसे यदि कोई जान सकता है, तो कल्याणी की अन्तरात्मा। वही अन्तरात्मा, जिसमें सन्तोष और पवित्रता की अक्षय निधि निहित है, और जिसमें वैधव्य-तप की उज्ज्वल अनुभूति, विष्णु के वक्षस्थल पर विहार करने वाली कौस्तुभमणि की भाँति सदा जगमगाती रहती है!

## वासना की प्रेरणा

र्णिमा की वह शेष रात्रि एवं प्रतिपदा का सारा दिन और सारी रात्रि मनोरमा को जागते और जलते ही बीत गई। उसके हृदय में एक तुमुल-संग्राम प्रारम्भ हो गया था। एक ओर था विवेक; दूसरी ओर था विकार। एक ओर था स्त्री का सर्वस्व—पातिव्रत्य और दूसरी ओर थी उन्मत्त युवावस्था में पैदा होने वाली काम की प्रबल वासना। दोनों अपनी-अपनी विजय के लिए घोर युद्ध कर रहे थे; पर जर्जरित एवं रक्त-रञ्जित हो रही थी मनोरमा की हृदय-भूमि! पातिव्रत्य यदि परलोक का भय, लोक का अपमान एवं नरक की ज्वाला का भयङ्कर दृश्य समुपस्थित करके मनोरमा को उस पाप-मार्ग से हटाने की चेष्टा करता था, तो विकार विलास के सुख, आनन्द

के हिल्लोल एवं जीवन के सारभूत प्रणय की लीला को कल्पना के आलोक से समुद्भासित करके मनोरमा की मानसिक दृष्टि के सामने लाकर खड़ा कर देता था। मनोरमा बड़ी विकल थी; उसकी दुर्बल, विकारमयी बुद्धि कर्त्तव्य की उचित मीमांसा करने में असमर्थ सिद्ध हो रही थी।

द्वितीया का प्रातःकाल है। आज मनोरमा के शिर में बड़ा शूल है। शान्ता आई; शान्ता ने देखा कि मनोरमा का प्रफुल्ल-पद्म की सी शोभा को धारण करने वाला वदन-मण्डल मलिन हो रहा है। मनोरमा आज महेन्द्रा-तट पर जल लेने को भी नहीं गई। शान्ता ने ही दो बार में उसके घर का भी जल ला दिया। मनोरमा ने मिश्र जी के लिए भोजन बनाया अवश्य, शान्ता के बहुत बार मना करने पर भी वह इस नित्य-कर्म से विरत न हुई, पर उसके मुख मे अन्न का एक दाना भी नहीं गया—एक घूँट जल तक उसने नही पिया। केवल चिन्ता—एकमात्र चिन्ता। पतन—पतन निश्चित था। जैसे-जैसे दिन बढ़ता जाता था, बुद्धि-बल भी वैसे ही वैसे क्षीण होता जाता था। विवेक की पराजय के लक्षण स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगे थे। "पलायन करने की अपेक्षा मरण ही श्रेय है"—यह निश्चय करके एक बार फिर धर्म ने दृढ़ मुष्टि से अस्त्र धारण किया। हिमाचल से भी अटल होकर, मृत्यु से भी अभय होकर एवं भाग्य-लिपि से भी प्रबल होकर, वह एक बार फिर नूतन तेज से युद्ध-भूमि में अवतीर्ण हुआ। उसने मनोरमा के हृदय में बैठे हुए विकार को बाणों से छिन्न-

भिन्न कर दिया। पर अन्त में सूर्य्यास्त के साथ वह भी अस्त हो गया।

मनोरमा की विचार-माला का प्रवाह इस भाँति था :—

थोड़े से सुख के लिए, क्षण भर के नश्वर आनन्द के लिए, निमेष भर की असार परितृप्ति के लिए मैं कितना घोर पाप करने चली हूँ? उस युवक के संसर्ग से क्या यह विषमयी विषय-वासना शान्त हो जायगी? क्या कभी गुप्त पाप का परिणाम भी भला हुआ है? अक्षय स्वर्ग एवं अखण्ड आनन्द की बलि क्या इतने से छोटे पदार्थ के लिए दे दूँ? न-न! मैं इस घोर पाप में प्रवृत्त नहीं होऊँगी। फाँसी लगा लूँगी, विष खा लूँगी, नदी में कूद पड़ूँगी, पर इस घोर अनर्थ में मैं योग नहीं दूँगी।

पर यह डूबते हुए का तिनका पकड़ कर बचने का निष्फल प्रयत्न था। यह धर्म-बुद्धि स्थिर न रह सकी; विकार की बाढ़ में वह बह गई। मनोरमा फिर सोचने लगी :—

पर हाय! वह कैसा सुन्दर है। देवताओं सा उसका स्वरूप है; उसके मुख की श्वास कल्प-मञ्जरी की सुगन्धि से भी अधिक सुरभित है। उसके अधर-पल्लव पर प्रातःकाल के सूर्य्य की प्रथम किरण की भाँति हँसी खेलती रहती है। उसके विशाल लोचन सुधा के से सुन्दर पात्र हैं। उसका स्पर्श कैसा सुखकर है। उसकी वाणी कैसी फूल सी कोमल एवं कोकिल की कूक सी रस-भरी है? रेशमी रूमाल से उसका आँसू

पोंछना कैसा सुखकर था—कैसा आकर्षक था ? वह मेरी प्रीति के निकुञ्ज का बिहारी है, भगवान् ने स्वयं ही उसे मेरे सुख और आनन्द की वृद्धि के लिए ललितपुर भेजा है।

स्वर्ग और नरक धर्म्म के ढोंग हैं। पाप और पुण्य पूर्वजो की उद्भ्रान्त कल्पनाएँ है। विधि और निषेध—समाज के दो अत्याचार-यन्त्र हैं। उत्थान और पतन क्रिया के दो स्वरूप हैं। स्वर्ग में क्या वाराङ्गना नही हैं ? देवताओ के महाराजा इन्द्र क्या अपनी काम-लीला को चरितार्थ करने के लिए, ऋषि के तपोमय आश्रम में जाकर, उनकी विकारमयी पत्नी को विमोहित करके अङ्कशायिनी बनाने के लिए स्वर्ग से मर्त्य पर नही आए थे ? स्वयं भगवान् ने तुलसी देवी से रमण किया था, सूर्य्य देवता भी कुन्ती के प्रणय-निमन्त्रण की रक्षा करने के लिए अपने सप्त राग-रञ्जित रथ पर चढ़ कर आकाश मे से मर्त्यलोक में आए थे। व्यास-जनक महर्षिवर पाराशर ने अपनी काम-वासना को चरितार्थ करके मत्स्यगन्धा को स्वर्गीय सौरभ एवं अक्षय यौवन दिया था। तो क्या मनोरमा ही के लिए इस प्रकार का प्रणय करना पाप है ? देवताओं का व्यभिचार उन्हे देवत्व से परिभ्रष्ट नहीं कर सकता; वैभवशालिनी ललनाओं का व्यभिचार उन्हें समाज-च्युत नहीं कर सकता; तब क्या मेरे लिए ही, दरिद्रा मनोरमा के लिए ही यह विधि-निषेध है। न-न, मैं इस लोक-परलोक के ढकोसले को नहीं मानूँगी। पातिव्रत्य और आचार—इन बन्धनो मे बँध कर नहीं रहूँगी। अनिश्चित सुख और अदृश्य

स्वर्ग के लिए मैं इस प्रत्यक्ष और ध्रुव संसार को परित्याग नहीं करूँगी।

वाह! क्या न्याय है? समाज का ममता-शून्य अत्याचार है, नियम और उसका प्रतिहिंसात्मक प्रतिकार है पाप। चौसठ वर्ष के शिथिल वृद्ध के साथ, जिसका मुख दुर्गन्ध से भरा हो, जिसका शीर्ण शरीर मैल से परिपूर्ण हो, जिसकी आँखों की क्षीण ज्योति कीचड़ के आवरण मे आवृत्त होकर नष्ट हो गई हो, जिसके पैर काँपते हों, जिसकी रात शायद प्रात.काल की मौत मे बदल जाय, उस चौसठ वर्ष के शिथिलेन्द्रिय वृद्ध के साथ एक षोडशी सुन्दरी का बरबस सम्बन्ध जोड़ देना पुण्य है, और वही अत्याचार-पीड़िता, चिर-दु:खिनी युवती यदि अपने उस यौवन-जनित विकार की प्रखर ज्वाला को न सह कर किसी सुन्दर, सुश्रीवान् युवक मे अपना प्रणय आरोपित कर दे, तो उसका यह कर्म पाप है; दोनो कुलों का नाश करने वाला है। दो नही, चौदह कुलो का नाश हो जाय; एक नहीं सोलह बार वैधव्य भोगना पड़े, पर मै अवश्य उस युवक को अपना हृदयेश्वर बनाऊँगी। समाज देखे, देखे अपनी इस अत्याचारमयी अनीति के प्रबल विरोध को, देखे अपने इस नियन्त्रण के प्रतिकार को। ओफ! कैसा भयङ्कर है! रे स्वार्थी मनुष्य, रे अन्ध-पक्षपाती समाज के व्यवस्थापक, रे निर्मम नियम के निठुर नियामक—मनोरमा तुम्हारे इन बन्धनो को—नियमों को, विधि-निषेधों को, अपनी इन्हीं प्रवृत्ति के पथ पर अग्रसर होने वाले पैरो से कुचल डालेगी!

सामने प्रेम से भरा हुआ सरोवर लहलहा रहा है; क्यो न मै दो चुल्लू शीतल जल पीकर अपनी इस प्यास को शान्त कर लूँ। फलो से भरा हुआ पेड़ विनम्र हो रहा है; क्यो न उसके दो-एक फल खाकर अपनी बुभुक्षा की शान्ति कर लूँ। आई हुई निधि को कौन लौटाता है? भरी हुई थाली मे कौन लात मारता है? आए हुए अवसर पर चूकना बड़ी भारी मूर्खता है।

क्या होगा यह यौवन का धन? कृपण की तरह उसे सञ्चित करके मैं क्या करूँगी? एक दिन उसका विलोप ही हो जायगा। तब एक प्रकार की उत्कण्ठा रह जायगी; केवल पछतावा मात्र रह जायगा। मेरे पैरो पर अपना मस्तक रख कर, आँखों में आँसू की सलिलाञ्जलि लेकर, त्याग की पुष्प-माला लेकर वह मुझसे प्रणय की याचना करता है। मैं क्या निष्ठुर बन कर उसका तिरस्कार कर दूँ? उसके कोमल हृदय को 'नहीं' की छुरी से टूक-टूक कर दूँ? असम्भव! वह इस योग्य नहीं। समस्त संसार के विषैले जीवो का तीव्र दंशन, नरक की महा भयङ्कर ज्वाला एवं नियम का निष्ठुर नियन्त्रण—सबको मैं सहर्ष उस सुन्दर युवक के लिए—उस अपने हृदयेश के लिए स्वीकार करूँगी!

आओ हृदयेश्वर! मेरे यौवन के एक मात्र अधिपति! तुम्हारे लिए मैं सब कुछ छोड़ दूँगी। छोड़ दूँगी यह संसार, त्याग दूँगी वह मन्दाकिनी-चुम्बित स्वर्गलोक, और तुम यदि कहोगे—आग्रह करोगे, तो मैं पुण्य तो वस्तु ही क्या है, स्वयं

पुण्य-श्लोक भगवान् जगदीश्वर की ओर से भी मुख फेर लूँगी। संसार ही क्या, समस्त ब्रह्माण्ड हँसे, नरक मेरे लिए तप्त तेल में डालने की व्यवस्था करे, कठोर यन्त्रणा के निरन्तर परिपीड़न से मेरी आत्मा आलोक-रहित हो जाय, पर मैं तुम्हें नहीं छोड़ूँगी। अपने हृदय-मन्दिर में भाव-पीठ पर बिठा कर मैं अपने यौवन-वन के फूलों से तुम्हारी पूजा करूँगी।

प्रवृत्ति पुण्यमयी हो या पापमयी, वह दृढ़ निश्चय की भूमि पर ही प्रखर वेग से—उद्दाम गति से प्रवाहित होती है।

## मन की बातें

स समय शान्ता अपनी जननी से अपने भावी अमङ्गल की आशङ्का की सूचना के विषय में बातचीत कर रही थी, ठीक उसी समय बलवन्तसिह और मनोरमा का हृदय-धन रामू दोनो उस आम्र-कानन वाले प्रासाद में बैठ कर कथोपकथन कर रहे थे। कभी आम की डाल पर से कोयल कूक उठती थी, कभी कोई अन्य पक्षी भी अलाप उठता था। योगियों और महात्माओं का यह स्वभाव होता है कि वे संसार के समस्त दुःखों को अपने विकार-विहीन हृदय पर हँसते-हँसते सहन कर लेते हैं; और अपनी अद्भुत क्षमता से वे उन्हें परम कल्याण मे परिणत कर देते हैं। आम्र-वृक्ष भी उसी भाँति उस उत्तप्त वायु को अपनी आन्तरिक शीतलता और पराग प्रदान करके उसे शीतल एवं सुरभित बना रहे थे।

बलवन्त—रामू ! आज तो तुम्हारी परम प्रसन्नता का दिन है; आज तो तुम विजयी बीर की भाँति एकान्त विजय प्राप्त करके मनोरमा के मधुर यौवन की सुन्दर राजधानी में प्रवेश करोगे।

रामू—आशा तो ऐसी ही है। पर नही मालूम क्यों मन-वाञ्छित फल को प्राप्त करके भी प्रफुल्लित नही है। रह रह कर कोई कह उठता है कि मै ऐसे भयङ्कर कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करने जा रहा हूँ, जिसका परिणाम एकान्त अशुभ होगा। एक बार मन में यह आता है कि मै इसी क्षण तुम्हारे इस ललितपुर से भाग जाऊँ। मुझे पछतावा सा हो रहा है कि क्यों मैंने तुम्हारा निमन्त्रण स्वीकार किया, पर भावी की प्रबलता अमिट है—हिमाचल की भाँति अटल है।

बल०—आश्चर्य की बात है रामू! तुम ऐसी बहकी-बहकी बातें करते हो। तुम क्या वास्तव में अपने इस प्राप्त सौभाग्य का, अपने इस देव-दुर्लभ वाञ्छित फल की उपलब्धि का तिरस्कार कर दोगे? आज क्या तुम महेन्द्रा-तट पर न जाकर अपनी हृदयेश्वरा मनोरमा को निराश कर दोगे?

रामू—बलवन्त! यदि ऐसा कर सकता होता, तो मैं अवश्य ऐसा ही करता। पर मै निर्बल हूँ; इतने प्रबल आकर्षण की उपेक्षा करना मेरे लिए सम्भव नही है। इतने सुन्दर प्रलोभन का तिरस्कार करके भाग जाना मेरे लिए, मेरे जैसे दुर्बल हृदय वाले के लिए, मेरे जैसे आत्म-बल-विहीन के लिये सहज नही है। वह शीतल, कोमल कर-कमल; वह विमल, ललित, लावण्य; वे आँखो के स्वच्छ सुन्दर, निर्मल मोती सजीव से होकर मेरी आँखों के सामने नाच रहे हैं। मैंने स्वयं अपने हाथों से उसके आँसू पोंछे थे, स्वयं उसे

उस चाँदनी रात में, एकान्त, निर्जन, निकुञ्ज में प्रेम का उद्दीपन-राग सुनाया था। मै उसे प्रेम के पवित्र नाम पर आज आमन्त्रित कर आया हूँ; मैं जाऊँगा, अवश्य जाऊँगा। अपने ही अनुरोध की क्या आप ही रक्षा नही करूँगा?

बल०—तुम्हे निश्चय तो है कि वह अवश्य तुम्हारे प्रणय-निमन्त्रण को स्वीकार करके वहाँ आवेगी। स्त्री है, धोखा दे देना, अनुरोध का तिरस्कार कर देना उसके लिए असम्भव नही है।

रामू—अवश्य आवेगी। मैंने स्पष्ट रूप से उसकी सलज्ज दृष्टि मे प्रणय के स्वर्णाक्षरो मे लिखी हुई उसकी अनुमति को पढ़ा था। वह धोखा देना नही जानती है। वह सरल, निर्बोध, कपट-शून्य बालिका है। मैं ही हृदयहीन होकर उसके शान्तिमय पारिवारिक जीवन को अपनी विकार-वासना की शान्ति के लिए नष्ट एवं ज्वालामय बनाने जा रहा हूँ। पर उपाय नही है, रुकना असम्भव है। पाप का रूप सामने है, पर तिरस्कार कर देने की शक्ति नहीं है। यह पर्वत-शिखर से फिसल जाने के उपरान्त रोकने सा निरर्थक—व्यर्थ प्रयास है। एक घूँट सुरा का पीकर दूसरा घूँट थूक देने सा निष्फल प्रयत्न है।

बल०—रामू! आज तो तुम्हारी धार्मिक प्रवृत्ति इस बहती हुई प्रबल प्रचण्ड लू से भी अधिक बलवती एवं वेगवती हो उठी है। आज तो तुम आध्यात्मिक परिताप के केन्द्र से बन गए हो। यदि तुम्हें पीछे ऐसा ही पश्चात्ताप करना था, तो तुम उस दिन क्यों गए थे? क्यों तुमने उसे आँखों की भाषा में आमन्त्रित करके

इस निर्जन निकुञ्ज में बुलाया था, और फिर बुला कर क्यों उसे रस और रति की सरिता में स्नान कराया था ?

रामू—रूप के प्रबल आकर्षण से उद्भ्रान्त होकर उसका रूप बड़ा मोहन था; उसमें अपूर्व आकर्षण था। वह सरल, सहज कटाक्ष; वह अस्फुट मन्द हास्य और उस पर वह पिपासामयी विस्फारित दृष्टि—बलवन्त ! मै इन तीनों के सम्मिलित आक्रमण से अपने निर्बल हृदय की रक्षा न कर सका। मैं मन्त्र-मुग्ध सर्प की भाँति बिना सोचे, बिना समझे उधर ही को दौड़ पड़ा। उस रूप के प्रबल मद में मेरा दुर्बल विवेक विलीन हो गया।

बल०—और तब आज सहसा यह वेदान्त-सम्मत धर्मज्ञान तुम्हारे रूप-मुग्ध हृदय में कैसे प्रवेश कर गया ?

रामू—ठीक स्वाभाविक रीति से। भयङ्कर रोष के प्रशमित होंने पर किए हुए पाप-कर्म पर पश्चात्ताप होता ही है। सुरा के मद के शान्त हो जाने पर गत काल की दुर्घटनाओं पर, कुत्सित कर्मों पर परिताप होता ही है। पर हाय ! इस निर्बल पश्चात्ताप और दुर्बल परिताप में उस विकार को—रोष और मद की पुनरावृत्ति को—पूर्णरूप से परास्त कर देने की शक्ति तो नहीं है। जब फिर से बोतल सामने आ जाती है, तब की हुई प्रतिज्ञा टूट जाती है। जब वह मधुर मदमयी स्मृति, जब उस ललित लावण्यमयी लवङ्ग-लता के मधुर विकम्पन एवं मनोहर विकास की लीलाओं के सामने नाचने लगती है, तब परिताप और पश्चात्ताप को एक ओर

अर्द्धचन्द्र देकर हृदय की प्रबल वासना उन्ही की ओर प्रधावित होने लगती है।

बल०—हो सकता है। तुम्हारे इन आडम्बरपूर्ण दार्शनिक विचारों पर तर्क एवं विचार करने का यह उपयुक्त अवसर नहीं है। तुम्हें मैं यह बताना चाहता हूँ कि मैंने तुम्हारी मनोरमा की सखी का पता लगा लिया है। वह हमारे यहाँ के एक प्रतिष्ठित स्वर्गीय वैश्य की बाल-विधवा कन्या है। पर तुमने ठीक ही अनुमान किया था कि उसको प्रणय-पाश में आबद्ध करना उतना सहज व्यापार नहीं है, जितना तुम्हारा था।

रामू—एक प्रकार से असम्भव है। उस ऊषाकाल के समय मैंने उसके मुख पर जो पवित्र प्रभा देखी थी, उसे देख कर मैं एकबार ही विस्मय से अभिभूत हो गया था। आन्तरिक पवित्रता से प्रोद्भासित, सहज लज्जा से उल्लसित एवं अतुल गम्भीरता से निर्मल, उसका शान्त, विकार-शून्य वदन-मण्डल देख कर मेरी इच्छा हुई कि मैं उसके श्रीचरणों मे शिर नवा दूँ। मुझे उस समय ऐसा ज्ञात हुआ मानो स्वयं महामाया अवतार लेकर इस व्यथित धराधाम पर आई हैं; और सारे संसार का दुःख उनके स्निग्ध, करुण मुख पर प्रतिफलित हो रहा है। बलवन्त! अच्छा हो, यदि तुम इस देवी को हस्तगत करने की चेष्टा से विरत हो जाओ। डर है कि कहीं तुम इस प्रयत्न में अपनी आत्मा का आलोक न खो बैठो।

बल०—ठीक है रामू! 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' तुम

जो आज धर्माचार्य्य का सा उपदेश दे रहे हो, इसका कारण क्या है ? मैं शान्ता को प्राप्त करने के प्रयत्न से विरत हो जाऊँ और तुम मनोरमा के कोमल कपोल का परिचुम्बन करो ! धन्य हो रामू ! तुम्हारे स्वार्थ की भी कोई सीमा है ? तुम तो वास्तव मे बड़े भयङ्कर मित्र हो।

रामू—अप्रसन्न होने की बात नही है बलवन्त ! इस विश्व मे मैं तुमसे बढ़ कर किसी को भी अपना सुहृद नही मानता । तुम मेरे बाल-सहचर हो। कही तुम शान्ता के सतीत्व को नाश करने की चेष्टा मे किसी भयङ्कर दैवी आपत्ति से प्रहृत न हो जाओ—इसी आशङ्का से मैंने तुम्हे इस मार्ग से विरत करने का प्रयास किया है। शान्ता और मनोरमा मे आकाश-पाताल का अन्तर है। शान्ता सहन-शक्ति की परिसीमा है—पातिव्रत्य की सरला, लज्जामयी पवित्र प्रतिमूर्ति है। जब मैंने मनोरमा को महेन्द्रा-तट पर आने के लिए इङ्गित किया था, उस समय मैंने देखा था कि शान्ता की दृष्टि चञ्चल, विकारमयी, पिपासा-मयी नहीं थी ; वह स्थिर, पवित्र, शान्त एवं करुण थी । वह इधर-उधर नहीं देखती थी, वह धरिणी की ओर देख रही थी । मनोरमा और मैने पर्य्याप्त समय तक आँखों-आँखो में बातें कीं, उस दिन के उपरान्त फिर भी कई दिन तक हम दोनो की दृष्टि एक-दूसरे का आलिङ्गन करती रही, पर उस महासती ने एक बार भी नहीं देखा, उसे बोध भी नही हुआ कि हम दोनों धीरे-धीरे किधर चले जा रहे है। वह पाप के कलुषित स्पर्श से परे

है, वह प्रातःकाल की शोभा की भाँति पवित्र है। स्वयं महामाया उसकी रक्षा करती है। कलियुग की कालिमा, विकार की व्यथा, वासना की ज्वाला—उस तक पहुँच ही नही सकती। इसीलिए इस पाप-प्रयत्न से विरत रहने के लिए मै तुमसे बार-बार आग्रह करता हूँ।

बल०—पर मैं अपने हृदय से विवश हूँ। शान्ता के प्रति मेरी विकार-वासना उत्पन्न हो गई है। एक प्रबल ज्वाला की भाँति मेरे हृदय की अभिलाषा उसे प्राप्त करने के लिए हाहाकार कर उठी है। रामू! अनेक सुन्दरियो ने मेरे इस हृदय को अपने आनन्दमय आलिङ्गन से परितृप्त किया। फ्रान्स की विलासिनी इङ्गलैण्ड की तरङ्गमयी रमणी, इटली की सुमन-सज्जिता सुन्दरी, काश्मीर की केसर-वर्णा किशोरी—सब मेरे लिए सुलभ पदार्थ की भाँति मिलीं और मैंने तृप्तिपूर्वक उनके सौन्दर्य्य सलिल की शीतल धारा मे स्नान किया। पर शान्ता को देख कर जैसे मैं उस सुख को तुच्छ मानने लगा हूँ; उसे प्राप्त करने के लिए मैं विकल हो उठा हूँ। गजमोती को देख कर मोती का सौन्दर्य्य तुच्छ मालूम होने लगा है, कोहनूर की आभा अन्य साधारण रत्नों की प्रभा को मन्द कर देती है। उसकी वह भोली सूरत, स्वच्छ दृष्टि, उसकी वह उज्ज्वल, ललित, कुन्दन की सी कान्ति—मेरी आँखो मे बस गई है। कुछ भी हो—सोने की लङ्का लुट जाय, परिवार का परिवार नष्ट होजाय, तथापि 'शान्ता न परित्यजामि।' रावण की भाँति मेरा भी यह दृढ़

सङ्कल्प है—इस विषय मे मैं तुम्हारा उपदेश नही सुनूँगा—तुम्हारी अनुनय-विनय व्यर्थ है रामू।

रामू—मेरा और तुम्हारा दोनो का दुर्भाग्य ! तुम यदि चाहो तो मै असह्य वेदना सहकर भी मनोरमा छोड़ सकता हूँ। यदि तुम केवल इसीलिए इस प्रणय-लीला के अनुष्ठान में व्रती होते हो कि मैंने मनोरमा का प्रणय प्राप्त कर लिया है, तो मैं तो अपने इस शरीर के साथ उस प्रणय को सदा के लिए चिता में भस्म कर सकता हूँ।

वल०—सो नहीं होगा। सारा संसार भी यदि भस्म हो जाय और उस धधकती हुई चिता में स्वयं धर्म जगदीश्वर सहित कूद पड़े, तो भी शान्ता की प्राप्ति की चेष्टा से विरत नही होऊँगा। जाने दो रामू। हृदय की प्रवृत्ति है। उसका रोकना सहज नही है। भयङ्कर परिणाम का पूर्ण ज्ञान भी उसकी गति में बाधा नहीं डाल सकता। शान्ता ने मेरे हृदय में स्थान कर लिया है। सीता के हृदय पर रावण का अधिकार नहीं था, पर रावण के मन-मानस में तो सीता-सरोज सदा ही सरसित रहता था। शान्ता को मैं प्रणय में आबद्ध न कर सकूँ—यह और बात है, पर मै उसे छल से, बल से, कपट से और अन्त में इन सब उपायो में विफल होकर, स्पष्ट अत्याचार से वशीभूत करने की चेष्टा करूँगा। यदि वह इतने पर भी वश में न आई, तो उसका हृदय विदीर्ण कर डालूँगा। और उसके उस तप्त रुधिर को शरीर में मल कर एक बार उसकी चिता के आलोक में ताण्डव-नृत्य करूँगा,

और फिर उसी में—उसी धाँय-धाँय करती हुई अग्नि मे कूद कर प्राण-त्याग कर दूँगा।

बलवन्तसिंह के नेत्र रक्त वर्ण हो गए; उनका नासापुट तप्त श्वास से स्पन्दित होने लगा, उनके मस्तक पर भयङ्कर रोष की रेखाएँ प्रकट हो गईं। उनके चौड़े, कठोर वक्षस्थल में अवरुद्ध हृदय उनकी पसलियों के प्रति भीषण आघात करने लगा, उनकी मुट्ठी बँध गई आर वे मृत्यु के सजीव अत्याचार की भाँति भंयङ्कर प्रतीत होने लगे। उन्हे देख कर ही साधारण कवि भी रोष की उन्मत्त मूर्ति की कल्पना कर सकता था।

रामू ने सोचा कि उनको और अधिक उत्तेजित करना ठीक नहीं। वह उन्हे उसी अवस्था में छोड़ कर दूसरे कमरे में चला गया और वहाँ जाकर एक कोच पर लेट गया।

सच है, उन्मत्त को उपदेश देना क्या है, उसे एक नूतन भयङ्कर काण्ड के लिये उत्तेजित करना है।

उद्भ्रान्त उन्माद का अट्टहास विनाश के आगमन की दारुण सूचना है।

## चौदहवाँ परिच्छेद

### परिणाम

ण्य का सङ्कल्प हो या पाप की धारणा, कम से कम जब इनमे से एक को भी हृदय पूर्ण निश्चय के साथ स्वीकार कर लेता है, तब उसकी उद्भ्रान्त चञ्चलता तो अवश्य दूर हो जाती है। मनोरमा ने अब इस बात का दृढ़ निश्चय कर लिया कि चाहे कुछ भी हो, चाहे लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जायँ; चाहे मातृ-कुल, पितृ-कुल, पति-कुल तीनों भ्रष्ट हो जायँ; चाहे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों छिन जायँ, पर वह उस युवक के प्रणय-पाश में अवश्य आबद्ध होगी, तब उसके मन की उद्भ्रान्त कल्पना एवं सन्देहमयी विकलता बहुत बड़े अंश में शान्त हो गई। विभिन्न विचारों के तुमुल-संग्राम का कोलाहल दृढ़ निश्चय की वज्र गम्भीर ध्वनि में विलीन हो गया। जब तक दो प्रकार के सिद्धान्त-दल उसकी विचार-शक्ति को पूर्ण वेग से

आक्रान्त किये हुए थे, जब तक पाप-पुण्य की भ्रान्तमयी कल्पना उसे उद्विग्न किए हुई थी, तब तक उसे कल नही थी। उसका मन विमूढ़ भाव से एक अज्ञात ज्वाला में पड़ कर जल रहा था। पर वह बात अब नहीं रही। वह रात्रि के द्वितीय प्रहर के आगमन की बड़ी उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा करने लगी। वह अपने मिलन-मुहूर्त के शीघ्र आगमन के लिए एकान्तरूप से उद्विग्न हो उठी।

बड़ी प्रतीक्षा के उपरान्त सूर्य्यदेव अपने पश्चिम-प्रासाद में प्रवेश करने के लिये समुद्यत हुए। उस प्रासाद के स्वर्ण वर्णरञ्जित द्वार-देश पर खड़े होकर वे एक बार फिर अपने उस विशाल साम्राज्य की व्यवस्था को देखने लगे। मनोरमा ने जल्दी-जल्दी घर का काम-काज करना प्रारम्भ कर दिया। घर के काम-काज में आज जिस उत्साह से वह लगी हुई थी, वैसी स्फूर्ति का उसने आज तक कभी परिचय नही दिया था। पाप में क्या स्फूर्ति नहीं है? लालसा मे क्या एकान्त आसक्ति नहीं है? पतन में क्या उन्माद नही है? मनोरमा का म्लान हृदय-सुमन स्फूर्ति के स्पर्श से खिल उठा। सारे दिन जो मुख कुम्हलाया हुआ था, वह धीरे-धीरे शीतल सान्ध्य समीर के स्पर्श से विकसित होने लगा। जो शरीर क्लान्त सा पड़ा हुआ था, वह एक नवीन आवेश से उत्फुल्ल होकर स्फूर्तिमयी गति के साथ घर के कर्म-व्यापार मे लग गया। सुन्दरी मनोरमा वासना के सहवास से प्रमत्त होकर विलासमय रति-रङ्ग की रसमयी धारा मे अवगाहन करने के लिए व्यग्र हो उठी।

मिश्र जी के लिए उसने विजया बनाई। विजया की मात्रा कुछ अधिक रखी गई, और उस पर भी उसमें धतूरे के दो चार बीज, एकाध कुचले का टुकड़ा भी पीस दिया गया। मनोरमा उन्हे तीव्र मद की मूर्च्छा मे अचेत करना चाहती थी। महेन्द्रा-तट पर निर्जन, सुरभित निकुञ्ज मे उसका हृदयेश्वर उसके स्वागत की आयोजना करेगा। मनोरमा उसे कृतकृत्य करने जायगी। उसका वह शिथिल, दुर्बल, जर्जर, वृद्ध पति कहीं उसके मार्ग का बाधक न हो जाय, इसीलिए उसने उन्हे शास्त्र एवं समाज से अनुमोदित परन्तु स्वयं अस्वीकृत पति-देव को तीव्र मद में पूर्णरूप से अचेत कर देने की व्यवस्था की।

नित्य की अपेक्षा आज कुछ विशेष सुस्वादु भोजन की भी व्यवस्था की गई। मिश्र जी के लिए आज कुछ घृताप्लुत मिष्ठान्न भी प्रस्तुत हुआ। मद की तीव्रता मनुष्य को अचेत भी कर सकती है; और उसके चेत को अक्षुण्ण रख कर उसे अत्यन्त विकल भी कर सकती है। नशा पीकर बहुत आदमी रात भर सो नहीं सकते, बहुत से नशे मे तीन दिन आँख तक नही खोलते। मद की विकलता मे निद्रा-विहीन होकर कहीं मिश्र जी उन्मत्त प्रलाप न कर उठें। इसीलिए उस अग्नि-ज्वाला को दबाए रखने के लिए, तथा पति को पूर्णरूप से अचेत करने मे मिष्ठान्न को परम साहाय्य मान कर, उसने उन्हे बलि-पशु की भाँति भर-पेट मिष्ठान्न भोजन कराया।

मिश्र जी को आज उसने विधिपूर्वक स्नान भी करवाया; उनके खल्वाट मस्तक पर उसने कुछ सुगन्धित तेल का भी प्रलेप किया;

साफ धोती निकाल कर उसने उन्हें पहनाई, शीतल जल से उनका कलेवर शान्त किया। इसके उपरान्त उसने खुली हुई छत पर उनकी चारपाई बिछाई। चारपाई के भी विन्यास में आज नूतनता थी। गुदगुदा गद्दा, उस पर सफेद चादर और उस पर एक कोमल तकिया। जिससे मिश्र जी चारपाई पर पहुँचते ही निद्रा अथवा मूर्च्छा दोनो मे से किसी की भी गोद में पतित हो जायँ, इसके लिए मनोरमा ने आज कौशल-पूर्वक पूर्ण व्यवस्था की। मनोरमा ने आज अपनी पापमयी अभीष्ट-सिद्धि के लिए अपने पति की ऐसी सेवा की जैसी उसने कभी नही की थी। मिश्र जी ने स्वप्न में भी इस सौभाग्य की आशा नहीं की थी। जिस दिन से मनोरमा ने उनके उस भग्न, दरिद्र गृह मे प्रवेश किया था, उस दिन से लेकर आज तक मनोरमा ने उनकी ऐसी मधुर, सुन्दर सेवा नहीं की थी। मनोरमा ने आज अपने जीवन में अपने पापमय सङ्कल्प की पूर्ति के लिए जैसी पति की एकान्त सेवा की, उसका आनन्द पाकर मिश्र जी और भी मदोन्मत्त हो गए। वे पृथ्वी से उठ कर एक बार ही सातवें आकाश पर पहुँच गए।

विजया की तरङ्ग ने उनके निर्बल मस्तिष्क पर पूर्ण प्रभाव जमा लिया। मनोरमा के कोमल कर-स्पर्श ने उनके आनन्द की वृद्धि की; मिष्ठान्न ने उनके उदर की परितुष्टि की; कोमल अस्तीर्ण से ढकी हुई शय्या ने उनके अस्थिमात्र शरीर को परम सुख पहुँचाया; बहती हुई शीतल समीर ने उनके उत्तप्त ललाट के प्रस्वेद-बिन्दु को

हिम-कण में परिणत कर दिया। मिश्र जी इतने सुख को पाकर, इतने आनन्द की सहसा उपलब्धि करके, आनन्द से विभोर होकर निद्रा की कोमल गोद में लेट गए। मनोरमा घृणा की हँसी हँस-कर नीचे अपने कक्ष में उतर आई।

अपने कमरे मे आकर मनोरमा ने अपना मलिन वस्त्र उतार दिया और एक उज्ज्वल साड़ी से अपना कान्तिमय कलेवर आच्छादित किया। उसने सुचारु रूप से अपना केश-विन्यास किया, मस्तक पर रोली का तिलक लगाया; गले में अपने पिता का दिया हुआ चन्द्रहार पहिना; हाथ की कोमल अँगुली मे माता की दी हुई अँगूठी पहिनी। अपने हाथ के कढ़े हुए रूमाल को उसने अपने उन्नत वक्षस्थल को ढाँकने वाली कञ्चुकी मे रक्खा। कदाचित् आज उसे उस युवक के अश्रु-विन्दु अथवा प्रस्वेद-कण बदले मे पोछने पड़ें। इस प्रकार से अपना सरल शृङ्गार करके मनोरमा महेन्द्रा-तटवर्ती विलास-कुञ्ज मे अपने जीवनेश्वर से साक्षात् करने के लिए जाने को प्रस्तुत हुई।

दर्पण को लेकर वह अपने मुख-चन्द्र को देखने लगी। देखते-देखते वह अपने आप ही कहने लगी—ओह! यह यौवन, यह प्रफुल्ल कान्ति, क्या इस दुर्बल, शिथिल वृद्ध के लिए है? मेरी यह उमङ्ग की नदी क्या इसके पैरो को प्रक्षालित करेगी? मेरे हृदय की वासना क्या उसके स्पर्श से सन्तुष्ट हो सकती है? समाज! शास्त्र!! तुम्हारी व्यवस्था मन की ज्वाला को शान्त नहीं कर सकती। तुम्हारे वाक्यो के आडम्बर में

क्या हृदय का स्पन्दन छिप सकता है? तुम्हारे परलोक के भय-प्रदर्शन से उन्मत्त अभिलाषा त्रस्त होकर क्या अपने आनन्दमय पथ पर विहार करने से विरत रह सकती है? न! यह सब असम्भव है—व्यर्थ प्रयास है!

अपना यह विकच यौवन-सुमन, अपनी यह उल्लसित वासना-लहरी, अपनी यह प्रफुल्ल कमल-कान्ति—मै उस सुन्दर युवक के चरणो में अर्पण करूँगी। मूर्ख पति! तू निद्रा की गोद मे अचेत पड़ा है—सोता रह! तेरी इस अनवछिन्न मूर्च्छा ही के लिए मैंने आज तेरी ऐसी सेवा की थी। नहीं तो तू वृद्ध, शिथिल, जर्जर, निर्मम, हृदय-हीन पशु क्या मेरी आराधना का—मेरी सेवा का पात्र है? मेरे जीवन को तू ने नष्ट किया है, तेरी जीवन-शान्ति को मै छिन्न-भिन्न कर दूँगी। अपने स्वार्थ के लिए, तू ने अपनी शिथिल काम-वासना की वेदी पर निष्ठुर बन कर मेरी बलि दे दी है—मै अपने हृदय की अभिलाषा की पूर्ति के लिए तेरे सुख-राज्य की निर्मम बन कर हत्या कर डालूँगी। समाज बुरा कहे या भला, भगवान् अपने चरणों में रक्खें या ठुकरावें; मै प्रतिहिंसा की प्रतिमा बन कर जलूँ या जिऊँ, पर इस समय मुझे मेरे इस निश्चित सङ्कल्प से कोई नही हटा सकता। सह लिया—बहुत कुछ सह लिया। समाज! आँखें फाड़ कर देखो! शास्त्र, लोचन खोल कर देखो!! तुम्हारे दोनो के मस्तक पर लात मार कर आज मनोरमा अपने प्राणेश्वर से, अपने जीवन-धन से, स्वेच्छा से बनाए हुए पति से भेंट करने के लिए अभिसारिका बन कर निकुञ्ज बन

की ओर जा रही है। सामर्थ्य हो तो रोको! मनोरमा तुम्हारी व्यवस्था को—तुम्हारे नियमों को, तुच्छ अपदार्थ मात्र—निःस्सार प्रलाप मात्र समझती है।

पाप के अहङ्कार-गर्जन में धर्म्म का विमल सङ्गीत अन्ततः कुछ काल के लिए अवश्य विलीन हो जाता है; और वासना की बलि-वेदी पुण्य के तप्त शोणित से सदा रञ्जित रहती है!

## षड्यन्त्र

कुर बलवन्तसिह अपने सुसज्जित कमरे मे बैठे हुए थे। सामने मेज़ पर रक्खी है सुरा और पास ही एक कुर्सी पर बैठी है एक युवती सुन्दरी। युवती की अवस्था लगभग बीस-बाईस वर्ष की है। युवती परम रूपवती है, पर अत्यन्त तीव्र विलास से उत्पन्न होने वाली मलिनता की स्पष्ट छाया उसके मुख पर परिलक्षित हो रही है। रात्रि के लगभग दस बजे होगे, बाहर आम्र पल्लव के ऊपर स्निग्ध चन्द्रिका नाच रही है।

बलवन्तसिह ने कहा—कुछ भी हो रामकली, पर इस विषय मे तुम्हे मेरी सहायता करनी ही होगी।

रामकली—मुझे इन्कार नही है, पर सारा गाँव शान्ता के शील को सराहता है, और उसकी माता पर देवी के समान श्रद्धा

रखता है। आज तक किसी ने उसे ऐसी जगह खड़े तक नहीं देखा, जहाँ कोई झूठमूठ भी उस पर उँगली उठा सके। रात-दिन वह अपने घर में बैठी-बैठी रामायण पढ़ा करती है या काढ़ती-सीती रहती है। उसकी माता रात-दिन उसके साथ रहती है। वह यदि कही जाती है तो केवल नदी पर जल लेने के लिए। उस समय तो नदी की ओर सारा गाँव का गाँव ढल पड़ता है। तब बताओ ठाकुर साहब, मैं उसे कैसे वश मे कर सकती हूँ ?

बल०—तुम क्या नहीं कर सकती हो ? आकाश मे चँदोवा लगा सकती हो; पानी मे आग प्रज्ज्वलित कर सकती हो, हवा मे महल बना सकती हो। यदि मैं ही तुम्हे यह बता सकता होता कि तुम अमुक काम करो, अमुक काम मत करो—तो तुम्हें ही क्यों मैं इस काम में सहायता देने के लिए बुलाता। रामकली ! धन से हो, छल से हो, बल से हो—किसी भाँति तो शान्ता को फाँसना ही होगा। एक बार जाल में फँस जाय फिर वश में ले लाना मेरा काम है।

रामकली—पर उसे फाँस लेना क्या सहज है ? मेरा तो उससे परिचय भी नहीं है। शान्ता से परिचय करना क्या सहज है ? सुनती हूँ, शान्ता के यहाँ मनोरमा को छोड़ कर और कोई स्त्री अधिक नहीं आती-जाती। और यदि कोई कभी चली भी जाती है, तो शान्ता की माता के कारण ऐसी बात मुँह से नहीं निकाल सकती, जो शील और धर्म्म के विरुद्ध हो।

बल०—मैं यह सब कुछ नहीं मानूँगा। मेरा धन तुम्हारे आधीन है, तुम चाहे जितना ले सकती हो। तुम जिस प्रकार की सहायता चाहो, मैं देने को तैयार हूँ; पर शान्ता को मै अवश्य चाहता हूँ। तुम्हें यह काम करना ही होगा। इस सम्बन्ध मे मैं कोई प्रतिवाद नहीं सुनूँगा।

राम०—तुम मनोरमा के द्वारा यह काम क्यो नहीं कराते। तुम्हारे मित्र रामू क्या सहायता नहीं दे सकते। तुमने जो कुछ कल कहा था, उससे तो यही मालूम होता था कि मनोरमा पूर्ण रूप से रामू पर मुग्ध है। और शायद ठाकुर साहब, आप यह भी जानते होंगे कि जो स्त्री पाप से या पुण्य से किसी को अपना हृदय दे देती है, वह उसके लिए सब कुछ करने को—हत्या तक करने को तैयार हो जाती है। स्त्री का प्रेम उचित-अनुचित का विभेद नही मानता। रामू है कहाँ ?

बल०—रामू मनोरमा से मिलने के लिए महेन्द्रा-तट पर गया है। आज मनोरमा उससे वहाँ भेंट करने को आवेगी। नहीं—रामकली, रामू इस काम को नहीं करेगा। रामू तो मनोरमा से ही प्रेम करने के लिए परिताप प्रकट कर रहा था, वह तो मेरी ही प्रेरणा से—मेरे ही आग्रह से गया है। रामू शीघ्र ही चला जायगा, वह मेरा अतिथि है। मैं इस बात की चेष्टा करूँगा कि वह मनोरमा को अपने साथ ही ले जाय। इस प्रकार शान्ता की चिर-सहचरी मार्ग से हट जायगी। तब तुम क्या उसकी सहचरी का स्थान नही ग्रहण कर सकतीं ?

राम०—दुष्कर है। यद्यपि मेरे आचरण के विषय मे तथा मेरे निज के विषय में इस गाँव मे कोई कुछ नहीं जानता, पर तो भी कठिन है। मैंने अपनी सखी ही से इन सब बातो का पता लगाया है। वह कहती थी कि यद्यपि अनेक किशोरिकाएँ और युवतियाँ शान्ता के घर समय-समय पर जाती हैं, पर शान्ता किसी से विशेष प्रेम नहीं करती। केवल मनोरमा ही से उसका अधिक स्नेह है। उसी के साथ महेन्द्रा-तट पर जल लेने के लिए वह जाती है।

बल०—पर जब मनोरमा मार्ग से हट जायगी, तब उसके खाली स्थान पर अधिकार करना तुम्हारे लिए क्यो इतना दुष्कर होगा, जितना तुम चित्रित करती हो? तुम्हारी कृपा से अनेक सुन्दरियो का यौवन-धन मैंने प्राप्त किया है, पर जैसी इस बार मै तुम में निर्बलता देख रहा हूँ, वैसी तो तुमने कभी नही दिखाई थी।

राम०—जो सच पूछते हो ठाकुर साहब, तो वास्तव में जो सती है; जो मन, कर्म्म, वचन से सब प्रकार से पातिव्रत्य को अपनाए हुए हैं, उससे भगवान् भी डरते हैं। जिन सुन्दरियो को लाकर मैंने तुम्हारे पलङ्ग पर सुला दिया था, वे मेरी ही तरह विलासिनी स्त्रियाँ थी। उन्हे भोग की लालसा थी; धन की चाह थी; तुम्हारे रूप-रस को पीने की इच्छा थी। पर शान्ता वास्तव मे सती है—डर लगता है कि कहीं इस काम मे मैं अपना पाप-पूर्ण जीवन भी न खो बैठूँ। धर्म्म शान्ता का सहायक है।

बल०—तुम्हारी यह मूर्खता है। रामकली! यह कलियुग है, सतयुग नहीं। अब पतिव्रता के शाप से न अग्नि डरती है, न जल। अब न उसके शाप से कोई भस्म हो जाता है, न उसके आशीर्वाद से कोई राजा ही बन जाता है। शान्ता सती है, पर उसका सतीत्व कोई मन्त्र-रक्षित लोहे का किला नहीं है, जो तोड़ा न जा सके।

राम०—ठाकुर साहब! शायद तुमने अभी तक स्त्री को पहिचाना ही नहीं। शान्ता तो पुण्यमयी है, पापिनी भी यदि न चाहे तो तुम उसके शरीर पर हाथ नहीं लगा सकते। शायद तुमने विलासिनी स्त्रियों की 'ना-ना' को एवं भोग में लगी रहने वाली रमणियों के झूठे आँसुओं को देख कर ही अपना यह मत निश्चित किया है।

बल०—जाने दो इस बहस को। रामकली, तुम्हें यह काम करना ही होगा। इसके किए बिना तुम्हारा निस्तार नहीं है। क्या तुम मेरी इस प्रार्थना को—इस आकुल विनय को स्वीकार नहीं करोगी? कहाँ गया तुम्हारा वह वचन, कहाँ गई तुम्हारी वह प्रतिज्ञा? तुम तो कहती थीं कि मैं तुम्हारे लिए सब कुछ कर सकती हूँ, सर्वस्व छोड़ सकती हूँ।

राम०—क्या नहीं किया। पर जो मेरी शक्ति के परे है, उसे मैं कैसे कर सकती हूँ? लँगड़ा हिमालय की चोटी से सञ्जीवन बूटी कैसे ला सकता है? अन्धा हीरे की कनी को कैसे पहिचान सकता है? गूँगा गाना कैसे गा सकता है?

बल०—यह सब तुम्हारा व्यर्थ का आडम्बर है, रामकली! मैं शान्ता को बिना प्राप्त किए रह नहीं सकता। तुम्हें यह करना ही होगा। रामकली, मैं तुमसे अन्तिम बार अनुरोध करता हूँ कि तुम इस काम में मेरी सहायता करो। नहीं तो, नही तो मैं अपने इस जीवन को समाप्त कर दूँगा, और उस हत्या का अपराध पड़ेगा तुम्हारे सिर पर। तुम मेरी भीषण प्रतिज्ञा की बात जानती हो, मैं झूठ नही बोलता हूँ।

राम०—ठाकुर साहब, ऐसा नहीं होगा। यदि वास्तव में तुम शान्ता के बिना जीवित नहीं रह सकते, तो मैं उसे वश में करने की भरपूर चेष्टा करूँगी। तुम जानते हो बलवन्त, तुम्हारे लिए, तुम्हारे सुख के लिए ऐसा कोई पाप नहीं, जो मै नहीं कर सकती। जानते हो क्यो? मैं जानती हूँ, तुम्हें नरक होगा और मैं तुम्हारा साथ नरक में भी नहीं छोड़ सकती। पाप न करने से नरक कैसे मिलेगा?

बलवन्तसिंह हँस पड़े, रामकली का हाथ अपने हाथ में लेकर वे बोले—रामकली! तुम्हारे इन आशापूर्ण वचनों से मै बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। सुनो, तुम्हें इस गाँव मे कोई नहीं जानता है। वह जो तुम्हारी सखी है, उनको भी इस षड्यन्त्र मे सम्मिलित करना होगा। तुम उनकी छोटी बहिन बनकर वहाँ रहो। धीरे-धीरे शान्ता के परिवार से घनिष्ठता स्थापित करो। मुझे विश्वास है कि मनोरमा के भाग जाने के आघात को शान्ता की माँ नहीं सह सकेगी। वह अवश्य ही बीमार पड़ जायगी। तुम्हारी सखी

ने जो कुछ तुम्हे बताया है, उससे यही विदित होता है कि शान्ता की माँ मनोरमा को शान्ता के ही समान मानती है। उस समय— ऐसा समय आने पर—तुम शान्ता के यहाँ उसकी निरन्तर सेवा के बहाने रात-दिन रहना और वैद्यराज की दी हुई औषधि की ऐसी व्यवस्था करना कि शान्ता की माँ इस जीवन की ज्वाला से विमुक्त हो जाय। तब—तब शान्ता का हस्तगत करना अधिक कठिन कार्य्य नहीं रह जायगा।

राम०—ठीक है, ऐसा ही करूँगी। पर एक बात है, यदि यह रहस्य प्रकट हो गया तो एक बार इस गाँव में ऐसा भयङ्कर तूफान उठेगा कि जिसमे तुम्हारा यह वैभव और मेरा यह जीवन—दोनों नष्ट हो जायँगे।

बलवन्त फिर ठठाकर हँस पड़े और बोले—रामकली, तुम स्त्री हो। तुम्हे बड़ा भय मालूम होता है। तुम्हारा यह स्वाभाविक धर्म्म है, पर बलवन्तसिंह इन तुच्छ बातों से नहीं डरता।

रामकली चुप हो गई—उससे कुछ भी कहते-सुनते न बन पड़ा। रामकली का हृदय अनेक पापों के निरन्तर अनुष्ठान से बड़ा कठोर हो गया था, पर तो भी वह इस नूतन पाप के परिणाम की कल्पना करके काँप उठी। उसे ऐसा मालूम हुआ, मानो वह गोहत्या करने जा रही है—मानो वह चुपके से सोते हुए बालक का गला दबाने जा रही है।

ठाकुर बलवन्तसिंह ने कहा—रामकली, तुम सहसा विवर्ण क्यों हो गई? तुम्हें इतना भयभीत न होना चाहिए। ठाकुर

बलवन्तसिंह के जीवित रहते क्या तुम पर कोई आँख उठा सकता है; तुम निश्चिन्त रहो।

रामकली के मुख पर हँसी की—निराश, व्यथित हँसी की—एक मलिन रेखा उदय हुई। उसने कहा—ठाकुर साहब, जो कुछ भी हो। तुम्हें भी नहीं छोड़ सकती; तुम्हारी आज्ञा को भी नहीं तोड़ सकती। तुम्हारे हाथ में मेरी निर्बलता की कुञ्जी है। मैं तुम्हें एकान्त स्नेह करती हूँ—इसी कारण तुम्हारे लिए प्रत्येक पाप-कर्म मे बिना विचारे प्रवृत्त हो जाती हूँ।

ठाकुर बलवन्तसिह ने युवती का कपोल-चुम्बन कर लिया। स्नेह-भरे स्वर मे कहा—प्यारी रामकली! वास्तव में तुम्हारे इस अकारण स्नेह का बदला मैं नहीं दे सकता हूँ।

राम०—चाहती भी नहीं। यह कहकर रामकली उठ-खड़ी हुई।

बलवन्तसिंह ने पूछा—कहाँ जाती हो?

राम०—क्यो? अपनी सखी के यहाँ जाती हूँ; जहाँ मैं ठहरी हूँ।

बल०—न, आज जाने की आवश्यकता नहीं है। आज यहीं रहो।

रामकली ने इस आग्रह का प्रतिवाद न किया।

विमुग्ध पाप स्वतन्त्र पाप से कहीं अधिक भयङ्कर है।
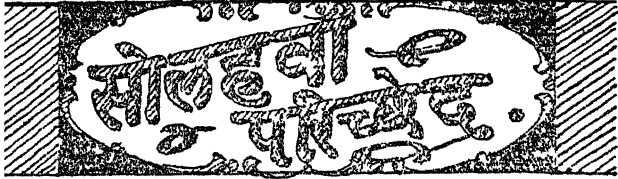
## रामकली का परिचय
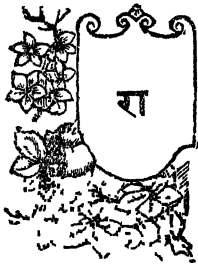
मकली क्षत्रिय-कन्या है। ललितपुर से चार कोस पर एक गाँव था; उसका नाम था महेशपुर। वही उसके पिता रहते थे। उस गाँव मे विशेपतया ब्राह्मणो की बस्ती है। कन्या रामकली धीरे-धीरे सोलह बरस की हो गई, पर वे उसके विवाह का कोई ठीक-ठाक न कर सके। तब तो वे बड़े उद्विग्न हो उठे। जहाँ जाते कोई माँगता २०००); और कोई-कोई तो ५०००) तक माँग बैठते। बेचारा दरिद्र क्षत्रिय किशनसिंह अपनी समस्त सम्पत्ति को बेचकर अधिक से अधिक ५००) एकत्रित कर सकता था। क्या करता—मन मसोस-मसोस कर रह जाता। हिन्दू-समाज में कन्या और वर दोनो का क्रय-विक्रय होता है। जिसे चाहे, रुपया देकर ख़रीद लीजिए। चाहे कैसी कानी, कुबड़ी, लूली, लँगड़ी, फूहड़ लड़की हो—रुपया चाहिए। आपको सुन्दर से सुन्दर, कुलीन से कुलीन वर मिल जायगा। और वर की अवस्था चाहे

७० की हो, चाहे ८० की; काने हों चाहे कुबड़े, अन्धे हों या बहिरे; पर रुपए के प्रबल प्रताप से वे षोड्शी सुन्दरी युवती को जायदाद की भाँति ख़रीद सकते हैं। पर रुपये के बिना बाज़ार में घुसते ही धक्के मिलते है। दरिद्र किशनसिंह रामकली के योग्य कोई वर बाज़ार से नही ख़रीद सका, ५००) रुपये में उस समय उन्हें कोई बूढ़ा भी नही मिला।

अन्त मे उन्होंने डोला दे दिया। वेद-मन्त्रो के बीच मे, स्त्रियो के गाली से भरे हुए गाने के बीच में वे उसे एक विशेष व्यक्ति के साथ गठबन्धन कराके, एक खड़े हुए खम्भ के चारों ओर सात बार न घुमा सके। पर उन्होंने नाममात्र की रीति पूरी करके, विवश होकर उसे एक पितृ-मातृ-हीन वर के हाथ में सौप दिया। रामकली क्रीत-दासी की भाँति उसके घर को आलोकित करने के लिए आई। पर भाग्य के साथ जब 'दुर' उपसर्ग अनवच्छिन्न रूप से जटित हो जाता है, तब वह कभी किसी को चैन से नही बैठने देता। भयङ्कर प्लेग में रामकली का पति कराल काल का कवल बन गया। बड़ी कठिनता से अवलम्ब मिला था; वह भी जल्दी ही चुपके से खिसक गया। इधर माता-पिता भी चल बसे। रामकली एकाकिनी, अनाथिनी होकर, संसार के अन्धकार में उद्भ्रान्त होकर बड़े विकल भाव से दौड़ने लगी।

पर धीरे-धीरे शोक का वेग कम हो गया। धीरे-धीरे रामकली संसार के कामो में फिर से प्रवृत्त होने लगी। और युवावस्था के उस उन्माद में वह एक ब्राह्मण-युवक के चङ्गुल में फँस गई।

ऋषियों की सब बातें कलियुग में निस्सार हो गई हों, सो बात नहीं है। जब उन्होंने लिखा था कि 'न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति' अर्थात् स्त्री को कभी स्वतन्त्र होकर नहीं रहना चाहिए, तब सम्भवतः उनका यही अभिप्राय था—ज्ञान-शून्य रमणी किसी अभिभावक के बिना संसार के प्रलोभन में पड़कर परिभ्रष्ट हो सकती है। धीरे-धीरे रामकली उस युवक के कपट-जाल में फँसकर अपना सतीत्व खो बैठी।

पर जब वह उस दशा को प्राप्त हुई कि जिसमे पहुँचने से विधवा और कुमारी बहुत डरती हैं, तब तो उसकी आँखें खुल गईं। उसका नशा उतर गया। पर अब क्या हो सकता था? इधर उसकी यह दशा देखकर वह ब्राह्मण-युवक भी भाग गया। रामकली को भ्रष्ट करके, उसे इस भयङ्कर दशा में छोड़कर वह नर-पिशाच अन्तर्हित हो गया। शैतान प्रच्छन्न वेश में आया था; शैतानी करके भाग गया। बेचारी रामकली बड़ी व्यग्र हो उठी।

एक दिन रामकली ने विचारा कि इस भ्रष्ट जीवन से मृत्यु भली है। ऐसा सोचकर वह आत्म-हत्या करने के लिए नदी की ओर चली। महेशपुर के प्रान्त-देश को प्रक्षालित करती हुई कोई नदी नहीं बहती है। जब कोई पर्व इत्यादि होता है, तो एक महेशपुर से ही क्या, आसपास के सभी गाँवों के लोग महेन्द्रा में स्नान करने आते हैं।

महेन्द्रा की इधर बड़ी महिमा है। महेन्द्रा इस प्रान्त की मन्दाकिनी है। इसी महेन्द्रा में कूदकर डूब मरने के लिए चार

कोस का मार्ग अतिक्रम करके रामकली उसके तट पर पहुँची। उस समय रात्रि का प्रथम प्रहर अपनी ड्यूटी समाप्त करने ही वाला था, आकाश में पञ्चमी का चन्द्रमा वक्र छुरिका की भाँति स्थित था।

पर शास्त्र ने लिखा है कि पाप-जीवन अपनी प्रबल ज्वाला में जलने के लिए बहुत दिनों तक जीवित रहता है। उसका अवसान जल्दी नहीं होता। पापी बिना पूरा दुःख भोगे मृत्यु की शीतल छाया नहीं पा सकता। रामकली महेन्द्रा में घुसी; धीरे-धीरे आगे बढ़ी। घुटने तक, कमर तक, गर्दन तक और फिर रामकली का सारा शरीर जल में मग्न हो गया। पर दैवयोग से बलवन्त उस ओर से आ रहे थे; उन्होंने यह काण्ड देखा। उन्होंने किसी अज्ञेय प्रेरणा के वशीभूत होकर रामकली को कूद कर बचा लिया और इस प्रकार उसे पाप की ज्वाला से बचने का साधन प्राप्त नहीं करने दिया। वे उसे निकाल कर तट पर ले आये। थोड़ी देर तक सेवा-सुश्रूषा करने के उपरान्त वह सचेत हो गई। बहुत-कुछ पूछने पर, बहुत-कुछ आश्वासन देने पर—बहुत-कुछ सान्त्वना देने पर रामकली ने अपना सारा हाल विस्तारपूर्वक ठाकुर बलवन्तसिंह को सुना दिया। विलासी बलवन्त इस प्रकार एक भ्रष्ट युवती को, पतित रमणी को पाकर परम प्रसन्न हुए। उन्होंने जान लिया कि रामकली अब उन्हीं की होकर रहेगी।

रामकली के बच्चा पैदा हुआ। पर वह होते ही मर गया। शायद

निरन्तर व्यथा ने, प्रबल मानसिक आघात ने बच्चे का जीवन नष्ट कर दिया। रामकली को अपने बच्चे के मरने का वैसा तीव्र और सच्चा शोक नही हुआ, जैसा उन माताओ को होता है जो अपने आराध्य पति के पूर्ण प्रणय की प्रतिमा-स्वरूप अपने बच्चे को समाज की सेवा के लिए प्रबल करती है। बलवन्तसिह ने यह काम इतनी गुप्त रीति से सम्पादन किया कि किसी को कानोकान ख़बर न हुई। इस उपकार और सेवा से उपकृत होकर रामकली ने अपना यौवन, भ्रष्ट यौवन बलवन्त के अर्पण कर दिया।

पर बलवन्त थे विलासी और लम्पट। वे क्या कभी एक युवती के यौवन और सौन्दर्य्य से परितृप्त रह सकते थे। उन्होने रामकली को ललितपुर से आठ-दस कोस दूर एक गाँव में अपनी एक चिर-परिचिता वृद्धा के पास भेज दिया। रामकली वहाँ ही रहने लगी। बलवन्तसिंह धीरे-धीरे रामकली को जिस कामों में नियोजित करने लगे, उनका आभास हम ऊपर के परिच्छेद में दे चुके हैं। रामकली पतिता रमणी थी, चरित्रहीना भ्रष्ट युवती थी, वह बलवन्त की कृपा ही उसका शेष अवलम्ब थी। बलवन्त ने उसके जीवन के साथ उसे सामाजिक अपमान से भी बचाया था। अतः रामकली बलवन्त की किसी इच्छा एवं आज्ञा का प्रतिवाद नही कर सकती थी। इसीलिए वह युवतियों को धन-लोभ एवं छल-बल से लाकर ठाकुर बलवन्तसिंह की अङ्क-शायिनी बनाती थी। मानव-स्वभाव कुछ ऐसा घटित हुआ है कि वह संसार को

अपने ही रङ्ग में रँगना चाहता है। रामकली भ्रष्ट थी, वह अन्य विलास-प्रिया युवतियों को भी, जिन्हें पर्य्याप्त साधन प्राप्त नहीं थे, जुटा कर भ्रष्ट कर देती थी और अपने इस कुत्सित व्यापार में उसे शैतानी सन्तोष प्राप्त होता था।

जब कभी बलवन्त चाहते, रामकली को बुला लेते। ललितपुर की एक सुन्दरी युवती से उसका सौहार्द हो गया था। उस सौहार्द को उत्पन्न करने का श्रेय था बलवन्त को। वह युवती भी बलवन्त की प्रणयिनी थी और बलवन्त ने उन दोनों का परस्पर परिचय करा दिया। रामकली जब आती तब अपनी इसी सखी के यहाँ ठहरती।

पर आज जब शान्ता के विषय में बलवन्त ने ऐसा भयङ्कर प्रस्ताव किया, तब रामकली किसी अज्ञात भय से काँप उठी। उसे ज्ञात हुआ कि मानो वह एक महा वीभत्स काण्ड करने जा रही थी, जिसका परिणाम निश्चय रूप से बड़ा भयङ्कर होगा। तूफ़ान हो या भूकम्प; अग्नि लगे या बाढ़ आवे; प्लेग हो या महामारी, कुछ न कुछ भयङ्कर अनिष्ट घटित होकर अवश्य संसार को कँपा देगा। रामकली काँप उठी। पर जिन्होंने स्त्री-चरित्र का अनुशीलन किया है, वे जानते हैं कि भ्रष्ट चरित्र वाली स्त्रियों की निर्बलता उनकी विषय-वासनामयी लालसा में निहित होती है। आप उनके इसी मर्म-स्थल पर बाण-प्रहार करके उन्हें परास्त कर सकते हैं। आप इस निर्बलता की कुञ्जी को लेकर उनसे भयङ्कर से भयङ्कर कार्य्य करा सकते हैं। रामकली भी इसी नि ैलता के

कारण बलवन्त की उँगली पर, उनके आँख के इशारे पर नाचती थी। उसकी प्रत्येक आज्ञा का वह बिना सोचे-समझे पालन करती; उसकी प्रत्येक इच्छा को बिना विचारे वह पूरी कर देती। इसी लिए अनन्तः वह शान्ता के विषय में किए हुए बलवन्त के उस कुत्सित प्रस्ताव की सफलता में योग देने के लिए उद्यत हो गई। वह जानती थी, वह समझती थी कि सीता-हरण रूपी रावण के अन्तिम अत्याचारमय पाप की भाँति वह उसका अन्तिम पाप है। वह यदि इस चेष्टा में इस लोक को छोड़कर चली गई, तो विशेष आश्चर्य्य की बात नही। रामकली मृत्यु-भय से, नरक की ज्वाला की कल्पना से काँप उठी!

भय पाप का अनुगामी है; क्योंकि पाप को आलोक से सहज घृणा है।
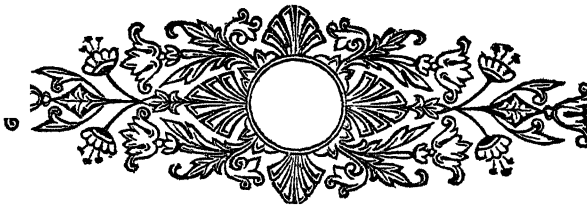
## लालसा की लीला

तीया का चौदह कलायुक्त चारु चन्द्रमा नील उन्मुक्त आकाश में स्थित होकर मनोरमा और रामू के हृदयों के रस को यथेष्ट उद्दीपन दे रहा था। सुरभित, शीतल समीर छायामयी सहचरी की भाँति उनके शरीर में गुदगुदी उत्पन्न करके उन दोनों से अव्यक्त रूप में परिहास कर रही थी। कोकिल दूर, आम्र-पल्लवों के अभ्यन्तर से कोमल कूक-कूक कर उन दोनों से रसमय व्यङ्ग कर रही थी। महेन्द्रा की कलकलमयी तरङ्ग-माला शृङ्गारमयी कविता को गा-गाकर उन्हे आनन्द से विभोर कर रही थी। निकुञ्ज-वन परकीया-नायिका की प्रणय-लीला एवं उप-पति-नायक की विलास-क्रीड़ा से विलसित हो उठा था। स्फटिक, स्वच्छ शिला पर बैठकर वे दोनों—रामू और मनोरमा—एक-दूसरे

की प्रीति सुधा-धारा से अपने-अपने मन-प्राणों को शीतल कर रहे थे।

मनोरमा ने कहा—सुन्दर युवक ! तुमने आज अपना परिचय देने को कहा था।

युवक ने कहा—परिचय ? परिचय लेकर क्या करोगी प्राणेश्वरि ! जब तुम इस प्रणय-कर्म्म के लिए परिताप करती हो, जब तुम इस मार्ग को कण्टकाकीर्ण देखकर बार-बार पीछे हटने की चेष्टा करती हो, तब परिचय प्राप्त करने से क्या लाभ है ?

मनोरमा—न सुन्दर युवक ! हटती तो पहले ही दिन पीछे हट जाती। अब तो मैं इतने आगे बढ़ आई हूँ कि हटने की इच्छा करने पर भी हटना एक बार ही असम्भव है। चाहे परिताप की प्रबल अग्नि में होकर हो, चाहे पुण्य की शीतल छाया मे होकर हो; कण्टकों के ऊपर से हो, चाहे फूलो के कोमल आस्तीर्ण पर से हो; पर मैं इस मार्ग पर आगे बढ़ूँगी, मैंने ऐसा निश्चय कर लिया है। यदि ऐसा न करती तो आज इस समय समाज और धर्म्म के शिर पर लात मारकर, शील और सङ्कोच को पैरों से ठुकराकर, पुण्य एवं पातिव्रत्य का एकान्त निरादर करके और विश्वास और विवेक का तिरस्कार करके तुम्हारे पार्श्व-देश में इस शिला पर आकर न बैठती। मेरा आना ही मेरे निश्चय का परम प्रमाण है।

युवक ने गम्भीर भाव में कहा—सो मानता हूँ, हृदयेश्वरि ! पर तो भी मैं देखता हूँ कि तुम्हारे प्रसन्नमुख-कमल पर एक

प्रकार की विषाद-छाया ने गहरी छाप लगा दी है। मेरी प्राणों से प्यारी! जिस महायज्ञ का अनुष्ठान विषाद रूपी अमङ्गल से प्रारम्भ होता है, वह क्या फलप्रद हो सकता?

मनोरमा ने एक प्रकार के भर्त्सना-भरित स्वर में कहा—पर मैं यह नही सोचती सुन्दर युवक! आनन्द और आपत्ति दोनों को मैं निश्चिन्त भाव से आलिङ्गन करने के लिए सदा प्रस्तुत हूँ। तुम ऐसी बात क्यों सोचते हो? तुमने क्या एक स्त्री के हृदय को विकारमय बनाकर उसे पैरो से ठुकरा देने का सङ्कल्प किया है? और उसी कपट अभिनय की यह क्या प्रस्तावना है? यदि ऐसा है—यदि मेरी चञ्चल कल्पना ने स्थिति के शुद्ध स्वरूप को पहिचान लिया है—तो आज इसी रात्रि में, चन्द्रमा की चाँदनी से नहाई हुई इसी निकुञ्ज-स्थली में, इसी स्फटिक-स्वच्छ शिला पर, इसी महेन्द्रा की कलकलमयी रागिनी सुनते-सुनते तुम्हारे पार्श्व-देश में मैं अपनी बलि दे दूँगी। युवक! इसके लिए भी प्रस्तुत होकर आई हूँ।

मनोरमा ने धीरे-धीरे अपनी कञ्चुकी में से एक तीक्ष्ण छुरी निकाली। वह धीर, गम्भीर भाव में कहने लगी—देखते हो, मेरे सुन्दर युवक! इसकी कराल जिह्वा विषमयी है। तुम्हारा आलिङ्गन यदि प्राप्त न कर सकी, तो मृत्यु का आलिङ्गन तो अवश्य ही प्राप्त करूँगी। मनोरमा अब निराश होकर, तिरस्कृत होकर घर नहीं लौटेगी; और जन्मभर के लिए अपने प्रथम प्रणय-पात्र की सुन्दर प्रतिमा से वियुक्त तथा अपमानित होकर वह तिल-तिल करके नहीं

जलेगी। इस आत्म-ग्लानि की अग्नि रौरव-ज्वाला से भी अधिक तीव्र है। इसकी तुलना में मेरा वर्त्तमान व्यथामय जीवन परिमाणु के समान प्रतीत होता है।

युवक ने मनोरमा का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—न, प्राणेश्वरि! सो नहीं होगा। 'अपना नहीं ख्याल है, तेरा ख़याल है।' उस दिन जो तुम्हारा उद्विग्न भाव देखा था, आज भी तुम्हारे मुख पर जो विषाद की एक स्पष्ट छाया देख रहा हूँ—उसी से मैंने यह परिणाम निकाला था कि तुम मेरे प्रबल आकर्षण का तिरस्कार भले ही न कर सकी हो, पर तुम इस अनुचित प्रणय-व्यापार से सुखी नहीं हो। इसीलिए मैंने यह निश्चय किया था कि मैं ऐसा कोई काम नहीं करूँगा, जिसके कारण तुम्हें आजन्म आत्म-ग्लानि में जलना पड़े। यह निःस्वार्थ, शुद्ध, प्रोज्ज्वल प्रेम के अनुरूप कार्य्य नहीं है। पर मैं तो तुम्हारी इस विकसित चरण-माधुरी पर अपना सर्वस्व, अपने हृदय का रुधिर तक अर्पण कर देने को प्रस्तुत हूँ।

युवक अपने हृदय के भावोन्मेष में उठ खड़ा हुआ और सहसा उसने मनोरमा के कमल-कोमल चरणों पर घुटने टेक दिए। वह एक दृश्य था। यदि उसमें अनुचित प्रणय का आभास न होता; यदि वह समाज से अनुमोदित, धर्म से दीक्षित एवं शास्त्र से समर्पित प्रेम-व्यापार होता, तो वह एक अनुपम स्वर्गीय दृश्य होता। पर पाप में भी सौन्दर्य्य है, पाप में भी प्रोज्ज्वलता है, नागेश्वर के शीश पर भी प्रोज्ज्वल मणि है, मृत्यु के कराल कर में भी जगमग-जगमग करती हुई कृपाण है, हलाहल-हृदय हीरे में भी

प्रदीप्त प्रभा है। ऐसा मालूम होता था कि चन्द्रमा की उस विमल चाँदनी मे स्वयं देवराज इन्द्र अहिल्या की प्रणय-भिक्षा के लिए उसके कुसुम-चरणों में प्रणिपात कर रहे थे, स्वयं व्यास-जनक महर्षि पाराशर अपनी उस उत्थित काम-वासना की परितृप्ति के लिए अलौकिक सुन्दरी मत्स्यगन्धा के प्रफुल्ल पाद-पद्म मे अपनी समस्त साधना की सुमनाञ्जलि समर्पण कर रहे थे, स्वयं देदीप्यमान सूर्यदेव कुमारी कुन्ती के रक्तोत्फुल्ल पदारविन्द में अपना सप्तराग-रञ्जित प्रोद्भासित किरीट रखने के लिए नत हो रहे थे, स्वयं देवाधिदेव महादेव अपने तृतीय नेत्र की प्रखर ज्वाला से भी अधिक तीव्र अपने हृदय की प्रदीप्त प्रवृत्ति को शान्त करने के लिए कान्ति-मयी किरात-किशोरी के प्रसन्न गुलाब जैसी सुन्दर चरण-श्री में अपनी महा महिमा की भेंट अर्पित कर रहे थे। कविता के समान मधुर, आनन्द के समान उज्ज्वल, पारिजात के समान सुरभित एवं तन्मयता के समान विमुग्धकर वह दृश्य था।

मनोरमा ने बड़े स्नेह से उस युवक को हाथ पकड़ कर उठा लिया, एवं उन्हें अपने पार्श्व-देश में बड़े आदरपूर्वक बिठाकर वह मधुर स्वर मे कहने लगी—युवक! प्राणेश्वर! तुम चाहे कोई हो। तुम्हारी सुश्री पर मै उसी दिन मोहित हो गई थी। पर तुम्हारे इन उदार, पवित्र, उच्च भावो ने मुझे एकान्त रूप से वशीभूत कर लिया है। पर जीवन-धन! अब तो हमने प्रणय के अनन्त महासागर में अपनी नौका छोड़ दी है—चलने दो, बहने दो। आकाश से चाहे चन्द्रमा की सुधा-धारा बरसे, चाहे प्रलय-पयोधर

से गम्भीरगर्जन के साथ अविरल जल-धारा पतित हो—पर चलने दो इस नौका को। दिशा का ज्ञान, परिस्थिति की चिन्ता—छोड़ दो इन बातों को। पार लगे, चाहे अतल रसातल में डूब जाय; तरङ्गो पर मृदु मन्द गति से नाचे, चाहे क्रोधमयी लहरों के आघात-प्रतिघात मे यह चूर-चूर हो जाय, पर रोकने की, रोककर सोचने की आवश्यकता नही। छोड़ दो, तोड़ दो लङ्गर, बढ़ने दो; और आओ हम दोनों अपनी सम्मिलित रागिनी मे उन्मत्त हो जायँ। पुण्य की शान्ति-वल्लकी का स्वर न सुनाई पड़े, न सही। आओ, प्यारे, अपनी विकारमयी, वासनामयी प्रीति के सप्तम स्वर में हम पाप का भी कोलाहल विलीन कर दें। परागपूर्ण शीतल समीर का सुखद स्पर्श न प्राप्त हो, न सही। आओ मेरे हृदयेश्वर, हम अपनी इस वासना की ज्वाला मे परिताप की अग्नि को भी निहित कर दें। शिव-लोक न मिले, न सही। चलो शैतानपुरी में ही चल कर अपना घर बसावें। आओ! मेरे हृदय के अन्यतम अधिपति! आओ! हम दोनो अविच्छिन्न सम्बन्ध में बँध जायँ। पुण्य के प्रहार से हम वियुक्त न हो सकें, पाप के आघात से हम चूर-चूर न हो सकें। इस प्रकार आओ, हम इस संसार के विधि-निषेध का तिरस्कार कर दें।

युवक—तब तुम इस विषाद-छाया को क्यो धारण किए हुई हो?

मनोरमा—वह भी दूर हो जायगी। मेघ का उत्थान हो गया है, बरस कर वह अन्तर्हित हो जाएगा। पर यह विषाद-छाया क्षणभर मे तो अन्तर्हित होने की नहीं, हृदयेश!

युवक—न सही, पर तुम इसे सतत दमन करने की चेष्टा करोगी न हृदयमणि !

मनोरमा—अवश्य। तुम्हारे हृदय पर हृदय रखकर—तुम्हारे सहवास का सुख भोगकर मैं इस दुश्चिन्ता को दूर कर दूँगी। मैं स्त्री हूँ—अबला हूँ, एक बार ही मैं इसके प्रबल प्रभाव को दूर नही कर सकती। परिणाम की चिन्ता मैंने छोड़ दी है। जब एक बार निश्चय कर लिया, तब उसके लिए जीवन का भी उत्सर्ग कर दूँगी। सुख न मिलेगा, दुख की आग में कूदकर अपने आप को भस्म कर दूँगी। परितृप्ति न मिलेगी, निरन्तर पिपासा की तप्त तरङ्ग-माला में डूब कर प्राण दे दूँगी। आशीर्वाद न मिलेगा, शाप के विधान से पाषाणी बन जाऊँगी। पर प्यारे युवक ! तुम, केवल तुम, मुझे परित्याग मत कर देना।

युवक—न प्राणेश्वरि ! तुम्हे हृदय के सुवर्ण सिंहासन पर बैठाकर मै आदरपूर्वक तुम्हारी पूजा करूँगा। तुम मेरे मन की ज्योति बन कर मेरे अन्धकार को मिटाना; मेरे ताप की विकलता को मेघ-माला बनकर शीतल करना; मेरे उन्माद की औषधि बनकर उसे प्रशमित करना; मेरे विश्व-पथ की प्रदीप्त माला बनकर उसे आलोकित करना; मेरे प्रणय की प्रतिमा बनकर, मेरे मनोरथ-रथ पर चढ़कर, तुम अभिलाषा के नन्दन-निकुञ्ज में विहार करना; मेरे हृदय-मन्दिर की देवी बनकर मेरी प्रेमाञ्जलि को स्वीकार करना। प्राणेश्वरि ! तुम मेरी सर्वस्व होकर, मेरी आत्मा होकर, मेरी बुद्धि होकर, मेरी प्राण-समीर होकर—मुझे, जिधर

चाहे उधर, अपनी इच्छा के अनुसार सञ्चालित करना। मैं तुम्हारा क्रीत-दास हूँ।

यह कहकर उसने मनोरमा को आलिङ्गन कर लिया। वासनामय, मदमय मधुर चुम्बन से दोनों के अधर एक-दूसरे मे लोह-चुम्बक के समान सम्बद्ध हो गए। उनकी मद-भरी, रस-भरी, वासना-भरी एवं अरुणमयी आँखों से मानो विकारमय विलास की वेगवती धारा बह चली।

चन्द्रमा ने ऊपर से और भी मद-धारा बहा दी; कोकिल ने पञ्चम स्वर में शृङ्गारमयी रागिनी गाकर उस मदिरा के मद को और भी बढ़ा दिया; समीर ने और भी झूम-झूम कर नृत्य करना प्रारम्भ कर दिया; महेन्द्रा ने अपनी कलकल ध्वनि को पञ्चम में पहुँचा दिया। वे दोनों विमुग्ध होकर, निश्चित होकर, तन्मय होकर एक-दूसरे की समर्पित की हुई प्रोज्ज्वल सुरा को पीकर, आनन्द की विमल सुषुप्ति में पतित हो गए!

मनोरमा ने कहा—युवक! अब तुम अपना परिचय दो; अपने इस आनन्द में मैं उसे पूछना तक भूल गई।

युवक ने कहा—हृदय का परिचय पा लिया; आँखों ने प्रेम की अव्यक्त भाषा में लिखे हुए प्रेम के इतिहास को पढ़ लिया; कानों ने अस्फुट वाक्यों में श्रुति-मन्त्रों की भाँति निहित आनन्द की परिभाषा को सुन लिया; आन्तरिक परिचय तो तुमने पा ही लिया होगा, प्राणेश्वरि!

मनोरमा—हाँ, पर वाह्यिक परिचय के लिये मेरी उत्कण्ठा वैसी ही बलवती है।

युवक—वह भी मैं अभी शान्त करता हूँ, जीवनेश्वरि! आओ इस वाह्यिक परिचय को प्राप्त करके तुम अपनी उत्कण्ठा को शान्त करो। वह भी एक विचित्र कहानी है। सुनकर तुम चकित, स्तम्भित और कदाचित् व्यथित हो जाओगी।

मनोरमा ने उस युवक के गले में बाँह डाल दी; युवक उसके प्रफुल्ल मुख-कमल की ओर अनिमेष दृष्टि से देखने लगा।

युवक ने अपनी विचित्र, करुण-कथा कहना प्रारम्भ किया।

मदमयी रति के अभिनव विलास की ओर से उदासीनता धारण कर लेना कितना दुष्कर, कितना कठिन है? उसके शिर पर पाद-प्रहार करना तो असम्भवप्राय है।

## रामू का परिचय

णेश्वरि ! मैं आज जो रहस्य-कथा तुम्हारे सामने उद्घाटित करता हूँ, वह समस्त विश्व की दृष्टि से छिपी हुई है। इस समय संसार में ऐसा कोई नहीं, जो उसे जानता हो। समय के भूत-पृष्ठ पर वह लिखी हुई है अवश्य; पर उस पर किसी की दृष्टि नहीं पड़ सकती। पर आज तुम्हारे इस गम्भीर स्नेह को देखकर, तुम्हारी इस निस्वार्थ-प्रवृत्ति को देखकर मैं उसका उद्घाटन करता हूँ। एक प्रकार से मैं तुम्हारे हाथ में अपने सर्वस्व की कुञ्जी दे रहा हूँ। इससे ही तुम्हें मेरे निस्स्वार्थ प्रणय की गम्भीरता का पता लग जायगा। तुमने कहा था—तुम चाहे कोई हो; पर मैं तुम पर मोहित हूँ। तुम्हारे इसी आश्वासन-वाक्य पर भरोसा रखकर मैं तुम्हारे हाथ में अपना मान, यश, वैभव सब सौंपता हूँ।

संसार की दृष्टि में मै वेदान्ताचार्य्य श्रीमान् पण्डित ज्ञानेन्द्रनाथ जी तर्कालङ्कार का एक मात्र पुत्र हूँ। वे अयोध्या में रहते थे। भारतवर्ष की विद्वत्मण्डली उन्हे अपना शिरोमणि मानकर उन पर परम श्रद्धा रखती थी। उनके अगाध पाण्डित्य, पवित्र चरित्र एवं ऋषि के तुल्य तपोमय जीवन ने उनके यशः-सौरभ को दूर-दूर तक फैला दिया था। उन्हीं पुण्यश्लोक महर्षि का एक मात्र पुत्र कहकर संसार को मै अपना परिचय देता हूँ।

पर बात ऐसी नही है। चार वर्ष की बात है। उसी साल मैं ने विश्वविद्यालय की सबसे ऊँची परीक्षा में सफलता प्राप्त की थी। मैं उन्हें बापूजी कहता था; बापूजी उस समय रोग-शय्या पर पड़े हुए थे। मै और उनकी परम साध्वी स्त्री—मेरी मातृदेवी—उनकी सेवा में सतत रत रहते थे। फाल्गुन सुदी ११ के प्रातःकाल का समय था, मातृदेवी स्नानादि से निवृत्त होकर बापूजी के लिए पथ्य इत्यादि की व्यवस्था करने के लिए पाकशाला में गई हुई थीं। उस समय मै अकेला ही उनकी रोग-शय्या के पास बैठा हुआ था। प्रायः प्रातःकाल के समय सभी रोगियों की क्लान्त-श्री कुछ-कुछ प्रफुल्ल हो जाती है। बापूजी उस समय आँख मींचे हुए लेटे थे, पर थोड़ी ही देर में उन्होंने अपनी आँखें खोल दीं। एक बार ही मानो उनकी आँखों से पवित्रता और करुणा की धारा सी निकल पड़ी। उनके मुख की कान्ति वैसी ही थी, यद्यपि वह शरीर से बहुत दुर्बल हो गए थे। प्रातः नित्य ही अयोध्या के प्रसिद्ध वैद्य, कविराज, विद्वान्, प्रतिष्ठित सज्जन बापूजी को

देखने के लिए आते थे। पर अभी अधिक सबेरा था—लगभग साढ़े छः बजे होंगे—अभी उन लोगो के आने का समय नहीं हुआ था। खुली हुई खिड़की से, शीतल समीर पर चढ़कर सूर्य की प्रथम किरण बापूजी के पूज्य पाद-पद्म पर आकर नाचने लगी थी। शीतल प्रातःवायु ने उनके ताप को प्रशमित कर दिया था।

बापूजी वास्तव में ऋषि थे। दुःख में, सुख में कभी वे विचलित नही होते थे। वे इस भयङ्कर रोग में भी शान्त थे, महाज्वर भी उनके आत्म-संयम पर कणभर प्रभाव नहीं डाल सका था। उन्होंने मेरी ओर बड़े स्नेह से देखा और कहा—रामू! सामने का द्वार बन्द कर दो। मेरे पास और खिसक आओ, मुझे तुमसे कुछ विशेष बात कहनी है। सुनते ही मेरा हृदय काँप गया, उनके उन वाक्यों मे मुझे उनकी इहलीला की समाप्ति की सूचना तथा किसी भयङ्कर रहस्य की अस्पष्ट छाया छिपी हुई प्रतीत हुई। मैंने उनकी आज्ञा का पालन किया। मैं उनके पास—बहुत पास बैठ गया। चुपचाप बड़ी उत्कण्ठा से उनकी बात सुनने के लिए आकर मैं प्रतीक्षा करने लगा।

क्षणभर की शान्ति के उपरान्त बापूजी बोले—बेटा! मैं तुझे एक ऐसा रहस्य बताने वाला हूँ, जिस पर पहले तो सहसा तुझे विश्वास ही न होगा; और जब तुझे उसकी सत्यता पर विश्वाश हो जायगा, तब तू अपने हृदय में एक प्रकार की तीव्र वेदना एवं ग्लानि का अनुभव करेगा। मैंने इस रहस्य को परम गोपनीय मन्त्र की भाँति, अपने हृदय की पिटारी में छिपा रक्खा

था। इस समय इस रहस्य को केवल दो व्यक्ति जानते हैं, एक मैं और दूसरी तेरी माँ। और थोड़ी ही देर में तू भी उस रहस्य को जान जायगा। मैं ने निश्चय किया था कि मैं इस रहस्य को कदापि किसी के सामने तेरे सामने भी नही उद्घाटन करूँगा, पर गत रात्रि भर के तीव्र तर्क के उपरान्त मैंने यही उचित समझा है कि मैं उस रहस्य को तेरे सम्मुख प्रकट कर दूँ। तुझे दुःख तो होगा, पर उसका छिपा रखना भी तो तेरे साथ घोर अन्याय होगा। इस रहस्य के भार को मेरी आत्मा सहन न कर सकेगी। इसी लिए उसका उद्घाटन और भी अनिवार्य्य हो गया है। संसार का कोई कर्म्म-व्यापार ऐसा नही है, जिसे मैंने गुप्त रूप से सम्पादन किया हो; सूर्य्यदेव की भाँति, जो मेरी आत्मा के सम्मुख प्रकट हुआ है, विश्व ने भी उसे उसी रूप मे देखा हैं। इसे चाहे तो निर्बलता कह, चाहे सबलता; पर मेरी आत्मा इस रहस्य के अन्धकार को धारण करने में असमर्थ सी सिद्ध हो रही है। पर इस रहस्य को बताने से पहले मैं तुझसे यह प्रतिज्ञा करा लेना चाहता हूँ कि तू संयमपूर्वक इस रहस्य की रक्षा करेगा और आत्म-ग्लानि की वेदना से एकान्त वशीभूत होकर कोई ऐसा कर्म्म नहीं करेगा, जो शास्त्र, धर्म्म, समाज एवं आत्मा द्वारा अनुमोदित न हो। बेटा! पहिले मुझे इसका विश्वास दिला दे।

मेरी आँखों में आँसू बह रहे थे, मैंने उनके चरणों को छूकर कहा—बापूजी! आपके प्रत्येक वाक्य पर मैं वेद-मन्त्र की भाँति श्रद्धा और विश्वास रखता हूँ। मैं आपके श्रीचरणों की शपथ

खाकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं संयमपूर्वक इस रहस्य की रक्षा करूँगा। एकान्त विश्वास-पात्र, अभिन्न-हृदय सुहृद के अतिरिक्त मैं इसकी चर्चा किसी के आगे नहीं करूँगा। सहस्र-सहस्र बिच्छुओं के दंशन की ज्वाला जैसी आत्म-ग्लानि को भी मैं दमन करने की सतत चेष्टा करूँगा।

वे स्थिर, शान्त एवं गम्भीर स्वर में बोले—तो सुन, तू हमारा औरस पुत्र नहीं है; धर्म्म-पुत्र है।

सहसा शिर पर जैसे कोई वज्र मार दे, जैसे पीछे से कोई बहुत नीचे ढकेल दे—इस प्रकार की मेरी दशा हो गई। मेरे मन में यह आया कि कदाचित् बापूजी पर उन्माद का प्रथम आक्रमण हुआ है, और उसी की तीव्रता में वे ऐसा प्रलाप कर रहे हैं। मैंने उनकी ओर देखा—वे स्थिर, शान्त, एवं निर्विकार थे। उन्माद का उनमें कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ा। वे मेरी इस उद्भ्रान्त दशा को देखकर कहने लगे—सो मैं जानता था। इसका प्रभाव क्या होगा ? सो मुझे भली-भाँति विदित था। अच्छा बेटा! तुम शान्त होकर अपनी इस जन्म-कथा के रहस्य को सुनो। मैं कहना प्रारम्भ करता हूँ।

वे कहने लगे—सुन, तेरे पिता राठौर-क्षत्रिय थे, वे मेरे सहपाठी थे, परम मित्र थे। हम दोनों का किशोर-जीवन साथ ही साथ बीता था, युवावस्था के प्रभात के प्रथम प्रहर में भी हम दोनों ने साथ ही साथ विहार किया था। एक ही गुरुदेव के श्री-चरण-तल में बैठकर हम दोनों ने विद्या-लाभ किया था। पर

हम दोनों की रुचि में बड़ा विभेद था। उनका प्रेम था साहित्य पर, मेरा झुकाव था अध्यात्म विद्या की ओर। साहित्य की श्रृङ्गारमयी कविता ने, काशी के चरित्र-हीन पुरुषो के निरन्तर साहचर्य्य ने तथा उनके जन्मगत विलासी स्वभाव ने उनके जीवन की गति को पलट दिया। वे चरित्रहीन हो गए। पाण्डित्य ने संसार की समस्त प्रबल शक्तियों की भाँति उनके जीवन को निकृष्ट बनाने मे बड़ी भारी सहायता दी। गुरु जी के ही यहाँ हम दोनो रहते थे। और वही गुरु जी की एक विधवा भतीजी भी रहती थी, विधवा युवती थी, परम सुन्दरी थी। गुरु जी अपने सारे शिष्यों पर पुत्र से भी अधिक स्नेह करते थे और हम सारे शिष्य उनके अन्तःपुर में आते-जाते थे। गुरुदेव तपोवन-विहारी ऋषि की भाँति सरल-स्वभाव थे; उन्होने कभी नहीं सोचा था कि शिष्य भी गुरु के साथ विश्वासघात कर सकता है। तुम्हारे पिता और उस युवती विधवा में प्रणय हो गया। धीरे-धीरे वह ब्राह्मण-विधवा गर्भवती हो गई।

यह रहस्य कैसे छिप सकता था। वह गुरु जी पर प्रकट हो गया। उनका वृद्ध, दुर्बल, सरल मन इस आघात से बड़ा विकल हो गया। वे इस दुर्वह कलङ्क-कालिमा के अपवाद-भय से बड़े व्यग्र हो उठे। मैं उनका सब में प्रिय शिष्य था; उन्होंने एकान्त में मुझे बुलाकर, आँखों मे आँसू भरकर बड़े करुण, व्यथित शब्दो में कहा—ज्ञानेन्द्र, तू मुझे औरस सन्तान से भी अधिक प्रिय है। मैंने अपने हृदय की समस्त विभूति एवं अपने

ज्ञान की सारी सम्पत्ति तुझे दे दी है। बेटा! मैं इस वृद्धावस्था में इस कलङ्क की अग्नि को सहन नहीं कर सकूँगा। तू क्या मेरी रक्षा करेगा?

मैंने उनके चरणों की रज मस्तक पर लगाकर, हाथ जोड़कर कहा—देव! मै आपका क्रीत-दास हूँ। अपने प्राण देकर भी मैं इस कलङ्क-कालिमा को दूर करने की भरसक चेष्टा करूँगा। मेरी बहिन का पुत्र, मेरा पुत्र बनकर संसार में प्रसिद्ध होगा। मैं उन्हें अपने यहाँ ले जाऊँगा। मैं विद्याध्ययन कर चुका हूँ, आपके आशीर्वाद से मैंने भगवती भारती के चरणारविन्द का एक-दो बिन्दु मकरन्द पान कर लिया है। मैं आपसे बिदा लेकर अपनी बहिन के साथ देश को जाऊँगा। देश में जाकर मैं अपनी स्त्री के पास इन्हें रक्खूँगा। यह जो पुत्र प्रसव करेंगी, वह मेरी स्त्री की गोद में खेलेगा, वह हम दोनो के आदर की वस्तु होगा। इस भाँति उस बालक की भी रक्षा होगी और आप भी, आपका पुण्य यश भी कलङ्क-कालिमा से बच जायगा।

गुरुदेव गद्गद् हो गए; उन्होने वाष्पावरुद्ध वाणी में कहा—वत्स, मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम परम ज्ञानी हो; तुम निश्चय निर्विकार योगेश्वर होगे। तुमने ऐसा बड़ा स्वार्थ-त्याग किया है, जैसा संसार के इतिहास मे विरल है। बेटा! वर माँगो, मैं निश्चय तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करूँगा। इस कलियुग में भी गुरु का आशीर्वाद सफल होता।

मैंने उनके पूज्य पाद-पद्म में प्रणाम करके कहा—देव! मैं

प्राण देकर भी आपके वात्सल्य और निःस्वार्थ ज्ञान-दान से उऋण नहीं हो सकता। मानूँगा नहीं, देव! अस्वीकार मत करना। मैं यही माँगता हूँ कि मेरे कोई पुत्र न हो। मैं और मेरी स्त्री इसी गर्भ-स्थित पुत्र-पात्र में अपने दाम्पत्य जीवन के समस्त स्नेह और सारे सुखों को सुरक्षित रख सकें।

गुरुदेव स्तब्ध हो गए, आन्तरिक आनन्द से उनके करुण लोचन जलार्द्र हो गए। वे बोले—वत्स! तेरे इस महान् स्वार्थ-त्याग की महिमा के सामने इन्द्र का स्वर्ण सिंहासन भी तुच्छ प्रतीत होता है। मैं जानता हूँ, तू मानेगा नहीं। यह प्रस्ताव तेरे हृदय से निकला है; यह कपट-व्यापार नही है। और तेरी सुख-शान्ति के लिए यह आवश्यक भी है। मैं तुझे वर देता हूँ कि तू महात्मा भीष्म की भाँति अपुत्र रहकर भी देवताओं की दी हुई सलिलाञ्जलि से अक्षय पुण्य पितृ-लोक में सन्तुष्ट हो।

थोड़ी देर के लिए बापूजी चुप हो गए, वे फिर कहने लगे—बेटा, मेरी स्त्री, अपनी माँ के स्वभाव को तू पहिचानता ही है। वह मुझमें एकान्त श्रद्धा रखती है। उसने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया; और तुम मेरे वही पुत्र हो—मेरी आत्मा के वही आधार हो। गुरुदेव के आशीर्वाद से मेरे और कोई पुत्र नहीं हुआ। तुझे ही लेकर हम दोनों अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत करते थे। मै तेरा धर्म्म-पिता हूँ, तू मेरा धर्म्म-पुत्र है।

मैंने आतुर होकर पूछा—मेरे पिता-माता का क्या नाम था? वे अब कहाँ हैं, बापूजी!

बापू जी ने आँखों में आँसू भरकर कहा—वे हैं अक्षय स्वर्ग-धाम में, जहाँ उनसे मैं मिलने जा रहा हूँ। बेटा! तुम्हारे पिता का नाम था समरसिंह और तुम्हारी माँ का नाम था सरला। तुम्हारी माँ उसी दिन अनन्त धाम को चली गईं, जिस दिन तुमने सूर्य्य की प्रथम किरण देखी थी। तुम्हारे पिता में सबसे बड़ा अवगुण या गुण यह था कि वे आवेश में आकर सब कुछ कर डालते थे। जिस दिन गुरु जी ने मुझे यह सब कथा सुनाई, उसी दिन वे सायङ्काल को जब मुझे मिले तब मैंने उनके उस अनुचित कर्म्म के लिए उनकी तीव्र भर्त्सना की; और उसी दिन—द्वादशी की मध्य रात्रि में—उन्होंने मन्दाकिनी के अगाध सलिल में कूद कर प्राण दे दिए।

मेरी आँखों से अविरल आँसुओं की धारा बहने लगी। वे फिर कहने लगे—बेटा! मैंने तेरा लालन-पालन किया, तुझे यथाशक्ति किसी बात का अभाव नहीं होने दिया। बेटा! बुरा मत मानना, मैं पुरानी प्रथा का जीव हूँ, संस्कार पर मेरा अखण्ड विश्वास है। मेरी धारणा है कि माता और पिता के जीवन का पुत्र पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। श्रुति का यह वाक्य 'आत्मा वै जायते पुत्रः' असत्य नहीं है। मैंने पहले ही से कल्पना कर ली थी कि तुम्हारा स्वभाव विलासी होगा। मेघदूत की निरन्तर आवृत्ति में तुम्हारा गर्भाधान-संस्कार हुआ था। इसीलिये, जिसमें विलासी जीवन के ही योग्य तुम साधन प्राप्त कर सको, मैंने तुम्हें अर्थकरी तथा विलासिनी पाश्चात्य शिक्षा

दिलाई और तुम्हें उसमे पण्डित बना दिया। बेटा, निरन्तर विलासमय जीवन भी शुद्ध रह सकता है। तू अपने जीवन को भी शुद्ध और विमल रखना। सौन्दर्योपासना ही विलास की मुख्य आराधना है; पर इस उपासना मे शुद्ध भाव रखना ही तेरा कर्त्तव्य है। गुलाब का सौन्दर्य्य वाराङ्गना के शिर-प्रदेश मे भी शोभित हो सकता है, और देवता के पवित्र किरीट मे भी विलसित हो सकता है। भगवती तेरी रक्षा करें॥

बेटा! अब देर नहीं है, अब चल रहा हूँ। तू ही मेरा उत्तराधिकारी है, तूही हमारा दाह-कर्म्म करना, तूही हमें पिण्ड-दान देना। देखना आत्म-ग्लानि के आवेश में अपने पिता की भाँति आत्म-घात मत कर लेना। यदि ऐसा हुआ तो हम पितृ-लोक में प्यासे रहेगे। बोलो बेटा! मेरी आज्ञा का पालन करोगे? यद्यपि मैं तेरा वास्तविक पिता नहीं हूँ, पर तो भी तू मेरा धर्म्म-पुत्र है। तुझे मैं अपने औरस पुत्र ही की भाँति मानता हूँ।

मैने उनके चरण पकड़ लिए। उनके उस महत्, पवित्र, उदार चरित्र का आभास पाकर मैं गद्‌गद् हो गया; श्रद्धा से मेरा हृदय भर गया। मैने कहाँ—बापूजी, आप ही मेरे पिता हैं। आपने मुझे मनुष्य बनाया है, आपने मुझे सामाजिक अपमान से बचाया है। आप मेरे वास्तविक पिता से भी बढ़कर हैं, मेरे ईश्वर हैं। मै इतना कृतघ्न नहीं हूँ, मैं आपकी सारी आज्ञाओं का पालन करूँगा।

बापूजी ने मेरे मस्तक पर हाथ रखकर मुझे आशीर्वाद दिया।

फिर बोले—बेटा! जाओ, अपनी माँ को बुला लाओ। अब विलम्ब नहीं है।

मैं जल्दी से माता जी को बुला लाया। वे स्थिर, शान्त होकर उनके पर्य्यङ्क के पास आकर खड़ी हो गईं। बापूजी बोले—रामू की माँ! अब विलम्ब नहीं है। मैं यहाँ से प्रस्थान कर रहा हूँ; बिदा दो।

वे महासती बोलीं—जैसी प्रभु की आज्ञा। अपनी चरण-रज मुझे दीजिए। मैं भी आपके साथ चलूँगी।

इतना कहकर मातृदेवी ने उनके चरण-तल में भक्ति-भाव से प्रणाम किया; उनकी चरण-रज को उठाकर मस्तक पर लगा लिया। उन्होंने फिर मेरी ओर देखा और अपना वर-प्रद कर-कमल मेरे मस्तक पर रखकर मुझे आशीर्वाद दिया। हिमाचल का समस्त हिम उतना शीतल नहीं हो सकता, जितना कि उनका पुण्यमय कर-कमल था। मैंने उनकी चरण-रज मस्तक पर लगा ली।

बापूजी ने आँखें मींच लीं; मैंने उनके मुख में गङ्गाजल दिया; उन्हें उठाकर गोबर से लिपी हुई पृथ्वी पर सुला दिया। वे अनन्त निद्रा में सो गए। उसी समय वे महासती भी उनके पाद-प्रान्त में लेट गईं। पातिव्रत्य के अखण्ड योग-बल से उन्होंने भी प्राण-त्याग कर दिया। मैंने एक ही समय में उन दोनों का एक ही चिता पर दाह-कर्म्म किया।

मैंने उनकी सारी सम्पत्ति, उनके कर्म-काण्ड और अन्य धर्म्म-

कार्य्यों में लगा दी। मैंने उस सम्पत्ति का अपने भोग-विलास के लिए उपभोग करना उचित नहीं समझा। मुझे तो वे साहित्याचार्य्य ( D. Litt. ) बना गए थे; मुझे तो उन्होंने अक्षय निधि दे दी थी। मैं पटना कॉलेज में प्रोफेसर हूँ, और अब इस समय मैं प्रोफेसर रामेश्वरप्रसाद, एम्० ए०, डी० लिट्० के नाम से प्रसिद्ध हूँ।

यही मेरी करुण जीवनी है। तुम्हारे गाँव के जमींदार ठाकुर बलवन्तसिंह मेरे बाल-सखा और सहपाठी हैं। उनके निरन्तर संसर्ग से मेरा जीवन विलासमय हो उठा है। पर तो भी मैंने अपने जीवन को बापूजी के कथनानुसार पवित्र ही रक्खा है। मैं उन्हीं के यहाँ अतिथि होकर आया था, पर यहाँ तुमने अपनी रूप-माधुरी पर मुझे मुग्ध कर लिया और सब मेरा सारा सुख, सारा आनन्द तुम्हारी ही कृपा पर अवलम्बित है।

* * *

मनोरमा ने कहा—प्राणेश्वर! तुम्हारी अद्भुत करुण-कथा है, मानो स्वर्ग और नरक का, पुण्य और पाप का अद्भुत सम्मिश्रण हो।

रामू—पर हाँ! यह एक रहस्य है।

मनोरमा—मैं इसकी प्राणों के समान रक्षा करूँगी।

रामू—अच्छा प्राणेश्वरि! अब तुम्हें मेरे साथ पटना चलना होगा। चलोगी?

मनोरमा—चलूँगी, अवश्य चलूँगी—तुम्हारे बिना संसार शून्य के समान है; अन्धकारमयी, दुर्गन्धमयी कन्दरा के तुल्य है। तुम ही प्रकाश हो; तुम ही सर्व-सन्तापहारिणी वायु के शीतल झोके हो।

रामू—तब सप्तमी की रात्रि को यही मिलना—सब प्रबन्ध ठीक रहेगा।

पाप की प्रमत्त गति का अन्त कहाँ है ? कदाचित् वहीं पर, जहाँ मृत्यु-केशरी चुपचाप अन्धकारमय बन में अपने आहार पर आक्रमण करने के लिए सर्वदा सचेत बैठा रहता है!

## माता का उपदेश

ल्याणी, शान्ता और मनोरमा तीनों ही शान्ता की कोठरी में बैठी हैं। शान्ता माता की आज्ञानुसार स्वयं जाकर मनोरमा को बुला लाई थी। दोपहर का समय है, बाहर बड़ी गरमी है। तीनों घर के काम-काज से निपट चुकी हैं।

कल्याणी ने कहा—बेटी! तू आजकल बहुत कम आती है। अब तो तुझे बुलाना पड़ता है। क्या तू मुझसे कुछ अप्रसन्न है? अहा! बेटी! तेरा गुलाब का सा मुँह कुम्हला गया है।

मनोरमा—न माँ, तुम मेरी माँ हो। तुमसे मैं क्या अप्रसन्न हो सकती हूँ? तुम्हीं मेरी वास्तव में माँ हो। उन माता-पिता के अत्याचार से व्यथित होकर यदि मैं तुम्हारा सरल-पवित्र स्नेह न पाती, तो क्या मैं जीवित रह सकती थी? पर माँ! अपनी इस

व्यथा की निरन्तर धधकने वाली अग्नि को मैं क्या करूँ? इससे किसी समय मेरा निस्तार नहीं है। यह मुझे हर समय जलाती रहती है।

कल्याणी—सो जानती हूँ, मेरी बेटी! इसीलिए मैंने तुझे बुलाया है। समाज के अत्याचार ने, पिता के अनाचार ने एवं पति के स्वेच्छाचार ने तेरे कोमल कलेजे को टूक-टूक कर दिया है—यह बात मुझसे छिपी नहीं है। मैं जानती हूँ, युवती के हृदय की वासना का मुझे ज्ञान है; पर बेटी! हम अबलाओं का एकमात्र उपाय है सन्तोष। संयम के साथ व्यथा की धधकती हुई ज्वाला को दमन करके, भगवती महासती के श्रीचरणों का आश्रय लिए बिना हमारा कल्याण नहीं है। मैंने तुझे इसीलिए बुलाया है बेटी! कि मैं तुझे बता दूँ कि दुःख की अग्नि में निरन्तर असन्तोष और रोष की घृत-वर्षा करने से वह शान्त नहीं होने की। उसको प्रशमित करने के लिये शान्ति और सन्तोष की हिम-शीतल जलधारा से उसका अभिषेक करना होगा। भाग्य के विधान पर विश्वास करना हमारा कर्त्तव्य है। हम दुखी जन यदि भाग्य को छोड़कर समाज, पति, पिता, पुत्र को कोसने लगें, तो हमारा जीवन शान्तिमय नहीं बन सकता; उसमें तो प्रच्छन्न रूप से रोष के बहाने पाप प्रवेश कर जायगा।

मनोरमा ने धीरे से कहा—पर माँ! ऐसा करना सहज तो नहीं है।

कल्याणी—सो मानती हूँ बेटी! किसी का भी दमन करना

सहज नहीं है। साधारण से साधारण, निर्बल से निर्बल अपदार्थ का भी दमन कठिन है। यह तो सिंह से भी अधिक पराक्रमी व्यथा-भाव है। पर बेटी, कठिन को देखकर ही क्या भयभीत होकर कर्त्तव्य-पथ से विरत हो जाना चाहिए ? भगवान् ने गीता में कहा है कि निरन्तर अभ्यास से यह चपल मन वश में आता है, और इतने पर भी अनेक जन्म मे सिद्धि प्राप्त होती है। तब बेटी, निरन्तर अभ्यास ही मुख्य वस्तु है। अभ्यास का ही दूसरा नाम है तप। तप के बिना सिद्धि केवल असार-स्वप्न के समान है। बेटी, प्रतिहिंसा से परिताप घटता नहीं, बढ़ता ही है। कोई मनुष्य किसी की हत्या करके जिस प्रकार सुखी नहीं हो सकता, उसी प्रकार यदि कोई पाप के प्रतिकार के लिए प्रतिहिंसा का आश्रय ले, तो उसे उसमें सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। एक पाप के लिए दूसरा पाप, दूसरे के लिये तीसरा, इस प्रकार पाप-कर्मों का एक जाल सा बन जाता है, और जाल का गूँथने वाला स्वयं ही उसमें फँस जाता है। दरिद्री के असन्तोष की भाँति, जीर्ण ज्वर की व्यथा की भाँति वह पापमय जीवन जटिल होता जाता है, और उसकी उस जटिलता को भेद करके बाहर निकलना एक बार ही असम्भव हो जाता है। इसीलिये हमें चाहिए कि हम अपनी पापमयी प्रतिहिंसा का अभ्यासपूर्वक दमन करें। जब मनुष्य धीरे-धीरे पापमयी प्रतिहिंसा का परित्याग करके, अपने समस्त पार्थिव और अपार्थिव सम्बन्धों को तथा ज्ञात और अज्ञात कर्मों को भगवती के श्रीचरण-तल मे अर्पण कर देता है, तब स्वतः ही उसके हृदय में एक अक्षय,

स्वर्गीय शान्ति की सुधा-धारा प्रवाहित होने लगती है। बेटी ! तू भी अपने इस दारुण दुख को—अपनी इस भीषण व्यथा को महासती के श्रीपाद-पीठ को सतत प्रक्षालित करने वाली मन्दाकिनी में निमग्न कर दे। बेटी, तेरा वही दुःख तेरे अखण्ड तप मे परिणत हो जायगा।

मनोरमा—माँ ! तुम्हारी वाणी में तो मानो अमृत भरा है; पर ऐसा करना क्या सबके लिए सम्भव है ? क्या सभी तुम्हारी जैसी तपोमयी हैं ?

कल्याणी—हाँ ! जो चाहे वह इस आन्तरिक अनुभूति का आनन्द ले सकता है। मार्ग भी विकट नहीं है। साधना के लिये सरल दृढ़ता, निश्चित सङ्कल्प एवं निस्वार्थ त्याग की परम आवश्यकता है। डाकू रत्नाकर तप करके महर्षि वाल्मीकि हो गए; गणिका तक तप के प्रभाव से तर गईं। वासना को बाँधकर रखना एकान्त असम्भव है ! उसे तो एक ओर से हटाकर दूसरी ओर लगा देना ही उचित है। प्रतिहिंसा से यह वासना विकृत हो जाती है, इसीलिए इसका पोषण करना नितान्त भयङ्कर है बेटी ! एक नहीं, सहस्र-सहस्र स्त्रियों ने अनेक अग्निमयी व्यथाओं को सहकर भी वासना को प्रतिहिंसा के संसर्ग से बचाया है। सीता, सती, सावित्री इन तीनों के सारे जीवन ही निस्वार्थ त्याग के कलङ्क-शून्य चित्र हैं। ये ही हम अबलाओं की आदर्श हैं। इन्हीं के बल से, इन्हीं के अनुकरण से हम भव-सागर से पार हो सकती हैं। दूसरा कोई साधन नहीं है।

शान्ता—ठीक कहती हो माँ, इनके पवित्र चरित्रों का अध्ययन करने से स्वतः ही हृदय में शान्ति-धारा प्रवाहित होने लगती है, मन पवित्रता के प्रकाश से परिपूर्ण हो जाता है। अहा ! यह पावन चरित्र पातिव्रत्य के पुण्य सागर के तीन अक्षय रत्न हैं। यह कैसी अनोखी प्रभा से देदीप्यमान हैं। माँ, इनकी गाथा पढ़ते-पढ़ते तो जी ऊबता ही नहीं। एक बार पढ़कर बार-बार पढ़ने को जी चाहता है। बार-बार पढ़कर यही जी में आता है कि यदि ये कहीं मिल जायँ, तो इनके चरणों पर शिर रखकर इन्हीं के लोक को चली जाऊँ।

कल्याणी—तू भी यही कर बेटी मनोरमा ! तेरे हृदय को शान्ति मिलेगी। और तू यदि निरन्तर व्यथा की चिन्ता करेगी, तो यह व्यथा और भी भयङ्कर रूप धारण कर लेगी; और उसकी धधकती हुई ज्वाला में, बेटी—तू शायद भस्म हो जाय।

मनोरमा काँप उठी। कल की घटना उसकी आँखों के सामने नाचने लगी। महेन्द्रा-तट का वह गुप्त प्रणय-व्यापार उसकी स्मृति-सरिता के ऊपर प्रवाहित होने लगा। वह कम्पित स्वर में बोली—पढ़ने में तो चित्त ही नही लगता माँ ! मन में एक कीड़ा सा लग गया है, वह निकाले भी नहीं निकलता। एक आग सी लग गई है, वह बुझाए भी नहीं बुझती।

कल्याणी—कीड़ा निकल जायगा, आग बुझ जायगी। छोड़ दो बेटी प्रतिहिंसा को। सामाजिक अत्याचार का प्रतिकार पाप के द्वारा नहीं होगा, वह होगा अक्षय पुण्य से। व्यभिचार,

दुराचार, रोष, कलह—इसकी औषधि नहीं हैं। इसकी औषधि है—अपने अधिकारों की पुण्यमयी चर्चा। तुम सती का अनुकरण करो। पुरुष यदि महादेव नहीं बन सकते, तो न सही। दो में से यदि एक भी अङ्ग अच्छा है, तो आशा है कि उसकी सहायता से दूसरा भी स्वस्थ हो जाय; पर यदि दोनों ही शिथिल हो गए, तो इस हिन्दू-जाति का निस्तार नहीं है। बेटी! तेरा यह व्यथित भाव, तेरी यह नास्तिक कल्पना मुझे शङ्कित कर रही है। तेरा यदि कुछ भी अनिष्ट हुआ; तू यदि अपने पवित्र पथ से तिल भर भी हट गई, तो मैं—तेरी बुढ़िया माँ—जीवित नहीं रह सकूँगी। बेटी मनोरमा! तुझे मैं अपनी औरस सन्तान से अधिक मानती हूँ। तू और शान्ता मेरी दोनो आँखें हैं। तेरा पतन मेरा काल होगा।

मनोरमा फिर काँप उठी। हाय! कल्याणी क्या जाने कि मनोरमा तो पहले ही पतित हो चुकी है। शास्त्र के समस्त उपदेश, गुरुजन के सारे हित-वचन एवं पुण्य का सारा बल, सब मिलकर भी अब उसे नहीं बचा सकते। कल्याणी जिए या मरे, मनोरमा तो पाप-पथ पर अग्रसर हो चुकी; अब लौटना एकान्त असम्भव है।

मनोरमा हृदय के आवेश में रोने लगी। रोते-रोते कल्याणी के पुण्यपाद-पद्म में लेट गई। उन्होंने उसे उठाकर कलेजे से लगा लिया। अपने पवित्र आँचल से उसके अश्रु-बिन्दु पोंछकर वे सान्त्वना से सरसित शब्दों में कहने लगीं—बेटी! अधीर मत

हो ! मैं तुझे निरन्तर अपने पास रक्खूँगी। तेरी व्यथा को अपनी अविरल सान्त्वना से दूर कर दूँगी। मेरी मनोरमा ! हम बहुत पवित्र वस्तु हैं। हमे पग-पग पर भय है। इसीसे हम अपवित्रता से बहुत डरती हैं। उसके स्पर्श मात्र से हम कलङ्कित हो सकती हैं। बुरी भावना मात्र हमारे पूर्ण पतन के लिए पर्याप्त है। स्वच्छ, शुभ्र वस्त्र पर कृष्ण बिन्दु बड़ी तीव्रता से प्रकट होता है; पर काले वस्त्र पर नहीं। चन्द्रमा में कलङ्क स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है; पर अन्धकार में नहीं। इसीलिए हमें सदा पुण्य का पवित्र आश्रय लेना चाहिए। बेटी ! आ, मैं तुझे अपनी गोद में बिठाकर इसी पुण्य-मन्त्र की दीक्षा दूँगी।

पर माँ कल्याणी ! तुमसे पहले ही प्रतिहिंसामयी वासना उसके कानों में मन्त्र फूँक चुकी है; और तुम्हारी दीक्षा पुण्य, धर्म और स्वयं जगदीश्वर को भी साहाय्य रूप में पाकर शरद् के वर्षा-विहीन मेघ-गर्जन की भाँति, मनोरमा के हृदय के झुलसे हुए शान्त-पादप को फिर से हरा-भरा करने में असमर्थ सिद्ध होगी !!

जब मूल ही पर कुठाराघात हो चुकता है, तब शीतल सलिल का सिञ्चन, अनुकूल जलवायु की सहायता पाकर भी, एक निरर्थक प्रयास के समान हो जाता है !!

## षड्यन्त्र का आरम्भ
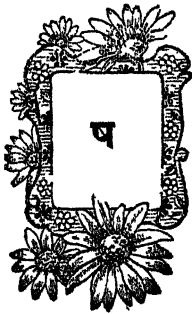
ड्यन्त्र का कार्य्य-क्रम तो निश्चित हो ही चुका था, अब उसे कार्य्य में व्यवहृत करने का भी पूर्ण रूप से प्रबन्ध होने लगा। बलवन्त के स्वभाव का परिचय पाठक पा ही चुके हैं ; वह शैतानी प्रवृत्ति की लीला की क्रीड़ा-भूमि था।

लगभग दिन के चार बजे थे, लू का भी वेग कम हो चला था। गर्मी का उत्ताप भी धीरे-धीरे शान्त होने लगा था; और वे वीथिकाएँ, जो अब तक निर्जन पड़ी थीं, धीरे-धीरे मानव-समूह के आने-जाने से मुखरित होने लगी थीं। सोने वाले उठने लगे थे ; युवक-युवती अपने सायङ्काल के कृत्यों के लिए साधन जुटाने में लग गए थे। स्त्री-पुरुष सब ही विश्राम के उपरान्त श्रमसिद्ध कार्य्यों में लग गए थे। ललितपुर चार घण्टे की नीरवता के उपरान्त फिर कोलाहलमय हो गया।

ऐसे समय में दो स्त्रियों ने शान्ता के घर में प्रवेश किया। शान्ता और उसकी माँ दोनों ही शान्ता की कोठरी में बैठी थी। शान्ता मन्द स्वर से रामायण की वह गाथा सुना रही थी, जिसमें श्रीत्रैलोक्य सन्तापहारिणी भगवती मन्दाकिनी के दुकूल पर खड़ी होकर जगज्जननी सीता जी उनसे प्रार्थना कर रही थीं कि वे अपने परमाराध्य पति एवं वात्सल्य-भाजन देवर के साथ वन से कुशलपूर्वक लौटकर फिर उनका पुण्य-दर्शन प्राप्त करें। कल्याणी तन्मयी होकर, आँखों में आँसू भरकर इस पुण्य-गाथा को सुन रही थीं।

शान्ता की माँ ने दोनों का स्वागत किया। शान्ता स्थिर, शान्त भाव से बैठी रही। शान्ता ने उस पवित्र मन्द मुस्कान के साथ, जो केवल आत्मानुभूति के मुख पर शोभित होती है, पूछा—बेटी रम्पा! तू कहाँ थी? अबकी तो तू बहुत दिनो में आई। बेटी! यह तेरे सङ्ग में कौन हैं?

रम्पा ने कहा—माँ! घर के काम-काज से छुट्टी ही नहीं मिलती। मैं तो कई बार आने-आने को करती थी, पर समय ही नहीं मिला। यह मेरी फुफेरी छोटी बहिन हैं। इनका नाम है चन्दा। माँ! अभी थोड़े दिन हुए इनका कपाल फूट गया और यह इस सुकुमार अवस्था ही में अनाथिनी हो गईं। इनका घर तो है आगरे में, पर मैंने इन्हें अपने पास कुछ दिन रहने को बड़े आग्रह से बुला लिया है। हम दोनो दुखिया आपस मे मिल-भेंट कर रो लेंगी, और यहाँ इसका मन भी बहल जायगा।

कल्याणी के सरल नयन सलिलपूर्ण हो गए। वे बड़े करुण स्वर से बोलीं—हा! विधाता का विधान ही बड़ा रहस्यमय है! अहा! यह फूल सा कोमल शरीर और उस पर यह वज्र का सा कठिन प्रहार! जगज्जननी, तुम्हीं अवलम्ब हो।

रम्पा बोली—माँ, क्या किया जाय? भावी बड़ी प्रबल है, उससे बचना बड़ा कठिन होता है। माँ! मुझे ही देखो, मेरे माथे में सिन्दूर है, हाथ में चूड़ी है, पर फिर भी दुखी हूँ। कौन जानता था कि साधु-सङ्ग का ऐसा परिणाम होगा? कौन जानता था कि वे उन भण्ड, निर्मम साधुओ के बहकावे में आकर मुझे इस असहाय अवस्था मे छोड़कर चले जायँगे, और जन्म भर के लिए मेरा सारा सुख नष्ट हो जायगा?

कल्याणी ने बड़े मृदुल स्वर मे कहा—हाँ बेटी, भावी बड़ी प्रबल है। ओहो! वह लड़का कैसा सुन्दर था, गाँव भर में उसके चरित्र की ख्याति थी, उसका न कोई बैरी था, न विरोधी; सब उसे आशीर्वाद देते थे, और वह सब समय सब के काम के लिए तैयार रहता था। पर वह भी भ्रान्त हो गया और तुझे छोड़कर चला गया। बेटी! क्या उसकी कुछ ख़बर नहीं मिली?

रम्पा—न माँ, जब से वे इस अभागिनी को छोड़कर गए, तब से उनका कोई समाचार नहीं मिला। काशी, वृन्दावन, हरिद्वार, अयोध्या—सभी जगह उन्हे ढुँढ़वाया, पर उनका कहीं पता न चला। भगवान् जाने वे कहाँ हैं? माँ! पूर्वजन्म का पाप है, उसी का फल भोग रही हूँ।

कल्याणी ने सान्त्वना देते हुए कहा—बेटी! सन्तोष धारण करो। सन्तोष ही हम स्त्रियों का एकमात्र सहायक है। बेटी! धर्म का आश्रय लेकर, अपने प्यारे पति के श्रीचरणों का ध्यान करते-करते इस नश्वर जीवन को बिता दो। अगले जन्म में तुम चिर-सौभाग्यवती होगी।

रम्भा—माँ! इसके अतिरिक्त उपाय ही क्या है? हम अबला हैं, हम अत्याचार का प्रतिकार नही कर सकती। अत्याचार की बलि-वेदी पर प्राण-त्याग करना ही हमारे भाग्य की अटल लिपि है। हमारे पास और कोई उपाय नही है।

कल्याणी—बेटी! ऐसा मत सोचो। अत्याचार की भावना भी बुरी है। अत्याचार कुछ नहीं है। जब भाग्य का विधान है, तब किसका दोष? उपायान्तर न होने से जो काम किया जाता है, उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता बेटी! यदि तुम्हारे पास घी नहीं है, तो तेल तो तुम खाओगी ही। पर यदि घी के कुण्ड के कुण्ड भरे हों और तुम उसे खाना छोड़ दो, तो यह तुम्हारा त्याग है। अत्याचार का प्रतिकार करना हमारे लिए साध्य नही है, यह सोचकर अत्याचार के सामने शिर झुकाना कायरता है। पर प्रतिहिंसा बुरी है; और अत्याचार का प्रतिकार केवल पुण्यमय सन्तोष से हो सकता है, इस भाव से प्रेरित होकर जब तुम शान्ति धारण कर लोगी, तब तुम्हे उस अत्याचार के अभ्यन्तर में भी ऐसी एक पुण्य आभा दिखाई पड़ेगी, जिसे देखकर तुम्हारे मन और प्राण शीतल हो जायँगे। पाप पुण्य बन जायगा; व्यथा भगवती

गङ्गा की शीतल धारा बन जायगी। तुम अनुभूति को, आत्म-सन्तोष को पाकर परम पुण्यमयी हो जाओगी।

रम्पा—सच है माँ! पर आपके उपदेश पर चलने के लिए बड़े तप और त्याग की आवश्यकता है। हम माया-मोहमयी अबलाएँ कैसे ऐसी साधना कर सकती हैं। संसार के सारे सम्बन्ध तो छोड़ देना एक बार ही सम्भव नहीं है।

कल्याणी—न बेटी, संसार के कोलाहल में रहकर भी यह तप किया जा सकता हैं। जङ्गल में जाने की आवश्यकता नही, केवल मन-प्राण से भगवती महासती की आराधना करो; बेटी! सीता, सती, सावित्री का चरित्र पढ़ो। व्रत, नियम, संयम का अभ्यास करो। सब कुछ सिद्ध हो जायगा। तप कठोर नहीं है; हमारे संस्कारो का रूपान्तरमात्र है। हम नित्य दोनों समय बिना भूख के भी खाते हैं, तब हमें व्रत कठिन प्रतीत होता है ; पर यदि हम अपनी बुभुक्षा को संयम के द्वारा उसकी सीमा से अधिक न बढ़ने दें, तो व्रत का पालन कठोर बात नहीं रह जायगी। हम बाजे की आवाज़ सुनते ही सब काम छोड़कर छत पर चढ़ जाते हैं, पर यदि हम अपने हाथ के काम में मनोयोगपूर्वक लग जायँ, तो हमारी कर्णेन्द्रिय हमारी नयनेन्द्रिय को उत्तेजित न कर सके। बेटी, यदि हम महामाया का चरणाश्रय ग्रहण कर लें, तो पापमयी वासना हमें स्पर्श तक न कर सकेगी।

रम्पा—माँ! तुम्हारे मुँह से मानो अमृत झरता है, तुम्हारे पास आने से मानो एक शान्ति सी मिलती है; और इसी शान्ति

की प्राप्ति के लिए चन्दा बड़ी व्याकुल हो उठी हैं। माँ, तुम्हें अपने परम पवित्र उपदेशामृत से उसकी ज्वाला को शान्त करना ही होगा; उसके हार्दिक दुःख को दूर करना ही होगा। वह चाहती हैं कि तुम्हारे चरण-तल में बैठकर तुमसे कुछ पढ़ें, और अपनी आजीविका के लिए कुछ सीना-काढ़ना सीखें। माँ, तुम उन्हें अपने पवित्र आश्रय में रखकर उनके हृदय की आँखें खोल दोगी, तो मेरे ऊपर बड़ा उपकार होगा। हाय! यह मेरी बड़ी प्यारी बहिन हैं। माँ, यह तुम्हारी दया की भिखारिनी हैं।

कल्याणी—अहा! इसमें क्या है? बेटी चन्दा, तू दोपहर को नित्य ही आ जाया कर। मनोरमा, शान्ता और तू—तीनों बैठा करना, सीना-पिरोना करना, अच्छे-अच्छे चरित्र पढ़ना और सुन्दर-सुन्दर कथाए पढ़कर उनपर विचार करना। बेटी! इसमें दया की क्या बात है? यदि अपने जीवन में मैं किसी को कुछ उपदेश करके, कुछ पढ़ाकर, कुछ बताकर उसके व्यथित हृदय को शान्त कर सकूँ, तो इसमें उपकार की क्या बात है? यह तो मेरा कर्त्तव्य ही है। हम विधवाओं का संन्यासी-जीवन है; संन्यासी-जीवन विरक्त होकर भी संसार के कल्याण के लिए अग्रसर होता है; संसार के सम्बन्ध को तोड़कर भी उसमें एक सुमधुर रस का सञ्चार करता है। संसार को कर्त्तव्य का पाठ पढ़ाता है; विश्व को मार्ग दिखाता है और विश्व को अपने करुण-शीतल उपदेश से शान्त करता है। सो हम यदि अपना कर्त्तव्य-पालन करती हैं, तो उसमें प्रशंसा की कौन बात है? बेटी चन्दा, तू निस्सङ्कोच

भाव से नित्य आया कर, शान्ता के सत्सङ्ग से तुझे शान्ति मिलेगी। रम्पा और चन्दा दोनो ने माता कल्याणी को प्रणाम किया, और उनकी आज्ञा लेकर वे चली गईं। पर कल्याणी—सीधी, सरल कल्याणी—क्या जानती थी कि वह नागिन को अपने गृह में आमन्त्रित कर रही है। वह नागिन—वह काली, भीषण सर्पिणी—जो उनकी प्रेमपात्री पुत्री शान्ता के पातिव्रत्य को दंशन करने के लिए लालायित हो रही थी!

पाठक-पाठिकाएँ जान गई होंगी। यदि न जाना हो, तो हम बताए देते हैं कि चन्दा नामधारिणी तो हमारी पूर्व परिचिता भ्रष्ट युवती रामकली है; और दूसरी है उसकी पति-परित्यक्ता सखी रम्पा अर्थात् रामप्यारी।

पुण्य के प्रोज्ज्वल प्रासाद में पाप के प्रच्छन्न प्रवेश को यदि कोई देख सकता है, तो केवल महामाया की सर्वव्यापिनी महाज्योति!!

# इक्कीसवाँ परिच्छेद

## रामप्यारी कौन थी ?
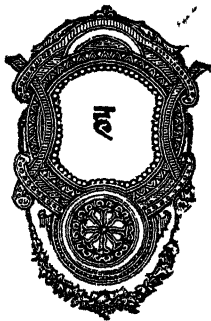
ह मारे वर्त्तमान हिन्दू-समाज में सबसे बड़ा अवगुण यह है कि उसके आदर्श तो हैं गगन-चुम्बी, पर उसके साधन हैं ठीक उसके प्रतिकूल पातालगामी। वह पङ्गु होकर हिमालय के उत्तुङ्ग शिखर पर चढ़ना चाहता है; बौना बनकर वह आकाश में हँसते हुए चन्द्रमा को पकड़ना चाहता है। इधर तो हम अपनी विधवा बहिन, बेटी और माता को आजन्म-व्यापी ब्रह्मचर्य्य-व्रत पालन करके जीवन व्यतीत करने का उपदेश देते हैं, और उधर स्वयं हम उनके सामने प्रबल काम-वासना की प्रतिमूर्ति बनकर प्रकट होते हैं। साठ वर्ष का पिता सोलह वर्ष की युवती विमाता के साथ सायङ्काल होते ही विलासमय कक्ष में प्रवेश करता है। बड़ी बहिन अपने आगत पति के पास मध्यरात्रि से तीन घण्टा पहले ही इठलाती हुई चली जाती है; भौजाई पान की लाली के रँगे

हुए ओठों को भैया के सामने रसिकता से विचकाती फिरती है; छोटी बहिन जीजा जी के पास ठीक दोपहर के समय पान देने के बहाने जाकर उनको नकोच आती है, और उनके इन कृत्यों को शुद्ध परिहास का रूप दिया जाता है। और वह विधवा—बाल-विधवा—अकेली अपनी कोठरी में पड़ी-पड़ी अपने विषमय विचारों की ज्वाला से जलती रहती है। पुरुष उसे प्रलोभन देते हैं, स्त्रियाँ उसका तिरस्कार करती हैं; और उससे इस बात की आशा की जाती है कि वह शान्त होकर सब कुछ सहे। इधर शिक्षा का अभाव, उधर कुसङ्ग का बुरा प्रभाव; एक ओर कुत्सित जलवायु, दूसरी ओर उठती हुई युवावस्था की अबाध तरङ्ग; एक ओर घर के सारे लोगों का विलासमय जीवन और दूसरी ओर कुरुचि का निरन्तर आकर्षण—तब ऐसी विषमयी स्थिति मे ब्रह्मचर्य्य-व्रत का पालन करना वैसा सहज नहीं है। भगवती की बड़ी दया हो, घटना-चक्र के कारण व्यभिचार का अवसर ही न मिले, तो चाहे विधवा का जीवन निष्कलङ्क रह सके तो रह सके। हिन्दू-समाज—प्राचीन ऋषियों के पुनीत वाक्यों पर चलने का ढोंग करने वाला यह पतित हिन्दू-समाज स्वयं उन चिर:दुखिनी विधवाओं के आदर्श वैधव्य-व्रत को खण्डित करने का आयोजन करता है। रामप्यारी और रामकली इस जर्जर, दूषित समाज-वन के अनिवार्य्य विष-वृक्ष हैं।

शान्ता-जननी कल्याणी जैसी माता का पवित्र सत्सङ्ग ही विधवा पुत्री के जीवन को पाप के आक्रमण से अभेद्य बना

सकता है। प्रलोभन से दूर एकान्त निवास हो ; वासना की दूषित वायु की वहाँ गति न हो , पवित्रता का पूर्ण प्रकाश हो ; संयम का नित्य सहवास हो ; धर्म पर अटल विश्वास हो; पुण्य का प्रोज्ज्वल आश्रय हो; निःस्वार्थ त्याग का कल्याण-विलास हो, तभी विधवा अपने जीवन के चरम उद्देश्य की पूर्ण सिद्धि को प्राप्त कर सकती है। शान्ता के स्वर्गीय सुन्दर पवित्र चरित्र की शोभा को और भी उज्ज्वल रूप में प्रकट करने ही के लिए हम रामप्यारी के जीवन की कलङ्कमयी, पर रहस्यमयी गाथा को यहाँ पर विवृत करते हैं। यदि इस उद्देश्य की सिद्धि हमें अभीष्ट न होती, तो हम कदापि इस कलङ्क-कालिमा से परिपूर्ण चरित्र के वर्णन करने का कष्ट-प्रयास न करते। पुण्य की प्रोज्ज्वलता पाप के पार्श्व-देश ही मे विशेषरूप से प्रकट होती है, मरुभूमि की जैसी तीव्र ज्वाला से जलने वाला ही मन्दाकिनी के सलिल का हिम-शीतलत्व समझ सकता है। इसीलिए हम रामप्यारी का चरित्र, जो उसने अपूर्व कपट-लीला से संसार की दृष्टि से अब तक गुप्त रक्खा है, पाठक और पाठिकाओं की भेंट करते हैं। पर जो हमारी उपरोक्त तर्क-प्रणाली से सन्तुष्ट न हों—जो शान्ता के स्वतःप्रकाश चरित्र की महत्ता के पूर्ण प्रदर्शन के लिए रामप्यारी के चरित्र की गाथा को अनावश्यक समझें, वे यदि चाहें तो इस परिच्छेद को बिना पढ़े छोड़ दें। कथा-भाग के समझने में इससे कोई अड़चन न होगी, क्योंकि यद्यपि हमारी इस कथा में वर्णित दुर्घटना को घटित करने में रामप्यारी का भी मुख्य भाग है, पर

ऊपर के परिच्छेद के अतिरिक्त हमने उसे कभी अपने पाठक-पाठिकाओं के सम्मुख अवतीर्ण नहीं किया है, और न हमारा करने का विचार ही है। इस नाटक में रामप्यारी का केवल इतना ही पार्ट था कि वह रामकली को शान्ता के यहाँ, जहाँ वह जाती-आती थी, पहुँचा दे और उस पवित्र परिवार से उसका परिचय करा दे। उसने वह कर दिया। अब रङ्ग-मञ्च पर उसको लाने की आवश्यकता नहीं है। उसके पापों का परिणाम जानने की, बहुतों की इच्छा होगी, पर हमें दुःख है कि हम उनकी इस उत्कण्ठा को सन्तुष्ट नहीं कर सकेंगे, क्योंकि उसका अन्त हमें स्वयं ही मालूम नहीं है; जानने की भी हमने चेष्टा नहीं की।

रामप्यारी की माँ का जन्म हुआ था मुरादाबाद के एक वैश्य की दरिद्र-कुटी में, पर वह ब्याही गई थी लखनऊ के एक बड़े ऊँचे धनाढ्य कुल में। विवाह के दो वर्ष के उपरान्त उसके उदर से एक बालिका उत्पन्न हुई और वही हमारी यह पति-परित्यक्ता रामप्यारी है। रामप्यारी की माँ का नाम था लाड़िली। लाड़िली विवाह के तीसरे वर्ष विधवा हो गई, और वह जिस घर की स्वामिनी थी उसी में वह दासी की भाँति, अपनी छोटी बालिका को लेकर, जीवन व्यतीत करने लगी। उसका देवर एक विषयी, लम्पट पुरुष था; उसका वृद्ध श्वसुर एक युवती पत्नी का स्वामी था; उसकी विधवा ननद एक दुराचारिणी रमणी थी। ऐसे दूषित जल-वायु में रहकर वह भी धीरे-धीरे कुमार्ग-गामिनी हो गई। 'खरबूजे को देखकर खरबूजा रङ्ग बदलता है।' पाप का निरन्तर सहवास,

सरल, निर्बोध तथा ज्ञान-शून्य को धीरे-धीरे वशीभूत करके अपने ही स्वरूप में बदल देता है।

उसी समय भयङ्कर महामारी का प्रकोप हुआ। लाड़िली का परिवार का परिवार उस महाज्वाला में भस्म हो गया। लाड़िली शेष रह गई, और कोई निकट सम्बन्धी न होने के कारण वह प्रचुर धन-राशि की स्वामिनी हो गई। बिना अभिभावक के, बिना प्रतिरोधक के, लाड़िली व्यभिचारमय, विषमय विलास में प्रवृत हो गई। पर धीरे-धीरे उन लोभी, स्वार्थी युवकों ने उसके यौवन के साथ-साथ उसका धन भी भोग डाला। लाड़िली एक प्रकार से पेट-पालन करने मे भी असमर्थ हो गई। रामप्यारी भी जवान हो चुकी थी। माता के उस वीभत्स चरित्र को देख-देखकर वह भी कुमार्ग की ओर प्रवृत्त होने लगी। कुमारी रामकली को जिस समय सरला, सलज्जा युवती होकर घर के भीतर बैठना चाहिए था, उस समय वह घर की देहरी पर खड़ी होकर अपनी अतुल रूप-राशि से युवकों का हृदय मुग्ध किया करती थी। उन्हीं दिनों ठीक उसके घर के सामने ऊँचे वैश्य-कुल का एक सच्चरित्र नवयुवक आकर ठहरा। उसने भी एक दिन रामप्यारी का वह चारु सौन्दर्य्य देखा। सरल युवक उस रूप-रत्न पर मुग्ध हो गया, और उसने रामप्यारी की माँ लाड़िली से जाकर रामप्यारी के साथ विवाह करने की इच्छा प्रकट की। उच्च-कुल, सुन्दर परिपुष्ट शरीर, यथेष्ट धनागम एवं पर्य्याप्त विद्या-ज्ञान—ऐसा सर्व-गुणोपेत वर कहाँ मिलता? लाड़िली ने शीघ्र ही उसके साथ रामप्यारी का विवाह

कर दिया। युवक का जन्म-स्थान था ललितपुर। उसके परिवार मे कोई नहीं था। वहाँ उसकी २५-३० बीघे मौरूसी ज़मीन थी, इतनी ही उसने ठेके पर ले रक्खी थी। रामकली को वह यहाँ ले आया और यह नव-दम्पति आनन्द से अपना गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करने लगे।

हरिचन्दन मे यदि भुजङ्ग-विष प्रवेश नही करता है, तो अमृत से सींचने पर भी नीम मीठा नही होता है। "स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः" कवि की यह सुन्दर उक्ति सर्वांश में सत्य है। संस्कार ही स्वभाव का जनक है; परिस्थिति ही स्वभाव की माता है। रामप्यारी जिन संस्कारों और परिस्थिति में पली थी, उनसे वह एक पुरुष के सहवास से सन्तुष्ट नही रह सकती थी। पुण्य की शीतल वायु ने उसे स्पर्श नहीं किया था; धर्म के सौरभ ने उसे आनन्दित नही किया था; पातिव्रत्य के सङ्गीत ने उसे विमुग्ध नहीं किया था। वह तो पली थी पाप के परिहास में, वासना के विकारमय पय-पान मे एवं काम-विलास की विषमयी गोद में।

वह पुरुष उसे प्राणों से अधिक प्रेम करता; उसकी प्रत्येक इच्छा की प्राणपण से पूर्ति करता; उसके मुख पर मलिनता देख कर वह उसे दूर करने के लिए सब कुछ करने को प्रस्तुत हो जाता, पर रामप्यारी प्रेम की प्रतिमा नहीं थी, वह थी लालसा की मूर्ति। मनुष्य का एकान्त, तन्मय प्रणय उसे प्रसन्न नहीं कर सकता था; उसके लिए अनेक युवकों के विलास-कुसुम के पुष्पहार की

आवश्यकता थी। परितृप्तिमयी प्रीति की आनन्द-लहरी उसे शीतल नहीं कर सकती थी, वह तो वासना की मदिरा ही को पीकर प्रमत्त बनना चाहती थी। धीरे-धीरे ललितपुर के ठाकुर बलवन्तसिंह से उसका अनुचित सम्बन्ध हो गया।

पाप अपनी गति को चाहे कितना ही प्रच्छन्न रक्खे, पर वह छिपती नहीं—उसका भेद खुल ही जाता है। एक दिन उसके पति ने उसे बलवन्त को आलिङ्गन करते हुए देख लिया। वह सरल प्रेमी युवक एक बार ही इस पापमय विश्वासघात से मर्माहत हो उठा। एक बार उसके मन में आया कि वह उसकी हत्या कर डाले, पर उसने संयमपूर्वक अपने प्रकोप को रोक लिया। एक संन्यासी उसके गुरु थे; ललितपुर के बाहर खुले हुए मैदान में उनकी पर्ण-कुटी थी। वे विचरणशील थे, पर प्रायः वर्षा-ऋतु में ललितपुर ही में आकर ठहरते थे। इस समय वे वहीं थे। उस युवक ने उनके चरणों में अपनी व्यथा निवेदन करके उनके सत्परामर्श को जानने की इच्छा की। संन्यासी गम्भीर स्वर में बोले—पुत्र! संसार में ऐसा वीभत्स चरित्र एकान्त नूतन रूप से घटित हुआ हो, सो बात नहीं है। एक समय ऐसा ही आघात राजराजेश्वर भर्तृहरि पर पड़ा था। वे भी अपनी प्रेममयी महारानी के कुत्सित व्यभिचारमय विश्वासघात पर अत्यन्त मर्माहत हुए थे, पर उन्होंने उस आघात को तप की कठोर साधना में परिणत कर दिया। संसार का भोग-विलास उनकी दृष्टि में नश्वर सिद्ध हो गया; और वे महामाया प्रकृति देवी के श्रीचरण

तल में बैठकर, गङ्गा-तटवर्ती हिमगिरि-शिला पर पद्मासन में आसीन होकर, निर्विकार, निर्भ्रान्त मन से योग का अभ्यास करने लगे। धीरे-धीरे उन्होने उस महा दुःख को परास्त कर दिया। वे यौगिक आनन्द की प्राप्ति करके इस विश्व को सच्चिदानन्दमय देखने लगे। वे पूर्ण वैराग्य को परिपोषण करके अमर हो गए। वत्स ! तुम भी उनका अनुकरण करो। हिमाचल के निर्जन काञ्चन-शिखर पर, प्रकृति के परम सौन्दर्य्य के प्रकाश मे, उन्मुक्त आकाश के नीचे, मोक्षदायिनी मन्दाकिनी के तट पर, गिरि-शिला पर ध्यानावस्थित होकर, तुम योग-साधन मे प्रवृत्त हो जाओ। निस्सन्देह तुम्हारी यह व्यथा कल्याण-साधना में परिणत हो जायगी। तुम दुःख को जीत लोगे। तुम्हारा हृदय निर्विकार, अनन्त आनन्द से परिपूर्ण हो जायगा।

वैश्य-युवक गुरुदेव के वाक्य पर विश्वास करके योग-साधना में प्रवृत्त होने के लिए उनके साथ चला गया। रामप्यारी अकेली रह गई। अभिभावक न रहने से वह और भी स्वेच्छाचारिणी हो गई, पर वह थी बड़ी चतुर। अपनी कुशल-कपटलीला से वह समाज में उसी भाँति रहने लगी, जैसे एक साधारण विधवा-रमणी को रहना चाहिए। उसके विलासमय व्यभिचार को यदि कोई जानता था तो केवल दो जन—एक रामप्यारी, दूसरा बलवन्त। रामप्यारी अब निर्द्वन्द्व हो गई। पति की सम्पत्ति का यथोचित प्रबन्ध करके वह गुप्त व्यभिचारमय जीवन व्यतीत करने लगी।

रामप्यारी शैतान की अन्तर्प्रेरणा की भाँति समाज के अङ्ग को धीरे-धीरे, चुपके-चुपके, जर्जरित करने लगी।

स्वच्छ, विमल सलिल में विहार करने वाले विकराल मकर की भाँति यह प्रेरणा प्रच्छन्न रूप से व्यक्ति और समाज के विनाश-साधन की चेष्टा में सतत रहती है।

# बाईसवाँ परिच्छेद

## कुत्सित कल्पना

सान्ध्य वायु-सेवन करने के लिए ठाकुर बलवन्त-सिंह और रामू बाहर निकले। सूर्य्य-देव पश्चिम-सागर में पतित हो रहे थे। उनकी स्वर्ण-वर्ण किरण-माला आम्र-कानन की सम्पत्ति-राशि को देदीप्यमान कर रही थी। उनमें कोमल सौन्दर्य्य था, प्रखर विलास नहीं था। सान्ध्य समीर परिहासमय पुष्प-पुञ्ज से क्रीड़ा कर रहा था। महेन्द्रा अपना अविरल सङ्गीत गाती हुई बही जा रही थी। स्निग्ध सौन्दर्य्य नृत्य कर रहा था, प्रकृति-परिवार सङ्गीत गा रहा था और परिमलमयी शान्ति ताल दे रही थी।

टहलते-टहलते वे दोनों महेन्द्रा के किनारे-किनारे मील भर निकल गए। धीरे-धीरे अन्धकार गाढ़ होने लगा। दोनों ही मौन थे; दोनों ही अपने-अपने विचारों में ऐसे तल्लीन थे कि वे सम्भवतः एक-दूसरे के अस्तित्व तक को भूल गए थे। अन्त में

लौटते समय ठाकुर बलवन्तसिंह ने उस गम्भीर चिन्तामयी शान्ति को भङ्ग करके कहा—रामू! तब तुमने कल जाने का निश्चय कर ही लिया है?

रामू—हाँ, हम दोनों ने यही निश्चित किया है। बलवन्त! एक अच्छी गाड़ी का भी प्रबन्ध तुम्हें मध्य रात्रि के समय करना होगा। तुम्हारे गाँव से स्टेशन लगभग तीन मील पर है। डेढ़ बजे रात्रि को स्टेशन से गाड़ी छूटती है। ऐसा प्रबन्ध करना जिससे हम वहाँ एक बजे तक पहुँच जायँ। हम लखनऊ होते हुए सीधे कलकत्ते चले जायँगे।

बल०—कलकत्ते? कलकत्ते क्या करने को जाओगे रामू? मनोरमा जैसी सम्पत्ति-राशि को पाकर क्या तुम अपनी नौकरी से भी इस्तीफ़ा दे दोगे?

रामू—नहीं बलवन्त! नौकरी तो करनी ही होगी। अभी कॉलेज खुलने में देर है। तब तक हम दोनों कलकत्ता नगरी के किसी निभृत कोण मे रहकर अपनी जीवन-सरिता को एक ही मे मिलाने की चेष्टा करेंगे। सम्भव है, कलकत्ते के कोलाहल में हमारी पुण्य-प्रवृत्ति की तीव्र तीक्ष्ण भर्त्सना विलीन हो जाय।

बल०—चेष्टा करोगे? क्या तुम दोनों की प्रणय-कल्लोलिनी एक नहीं हो गई है? मनोरमा ने तुम्हारे चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है। कुल, लाज, लोक, परलोक, शान्ता जैसी सखी और कल्याणी जैसी माँ—सबको छोड़कर, सबसे नाता तोड़कर, वह तुम्हारे साथ जा रही है; और तुम मूर्ख-दार्शनिक

की भाँति प्रत्येक घटना मे एक प्रकार के निःसार दुःख की कल्पना करते फिरते हो। तुम अद्भुत जीव हो रामू!

रामू—कुछ भी हो, पर न मालूम क्यो मनोरमा जैसी परम सुन्दरी को पूर्ण रूप से हस्तगत करके भी मैं उस आनन्द का अनुभव नहीं कर रहा हूँ, जो विजय में होता है। मैं तो मानो सब कुछ खोकर, एकाकी, मित्र-रहित, शत्रु-रहित होकर रणक्षेत्र के महा श्मशान के बीच मे खड़ा हूँ। हृदय पर एक बोझ सा लद गया है। मन जैसे बैठा सा जाता है। बार-बार हृदय-कोण में बैठी हुई कोई अज्ञेय प्रवृत्ति कूक उठती है—तेरा प्रणय सफल नही होगा। मैं जैसे धीरे-धीरे किसी पतन की भयङ्कर कन्दरा में पतित हो रहा हूँ; किसी विकराल आशङ्का ने मुझे भयभीत और चकित कर रक्खा है।

बल०—तब तुम इस प्रणय-मार्ग में प्रवृत्त क्यो हुए? क्या केवल आत्मा की तीव्र भर्त्सना को सहने के लिए? क्या निरन्तर धर्म-बुद्धि की प्रबल ज्वाला में जलने के लिए?

रामू—एक अज्ञेय आकर्षण के वशीभूत होकर मैं चल पड़ा था। छोड़ नहीं सकूँगा—ग्रहण अवश्य करूँगा। जिससे यह आन्तरिक परिवेदना दूर हो जाय, इसीलिए मैं जन-समूह से मुखरित कलकत्ता नगरी में जाकर अपनी आत्मा की गुहार विलीन कर देना चाहता हूँ। बलवन्त! एक परिवार नष्ट हो रहा है, सौहार्द का हृदय भग्न हो रहा है; वात्सल्य का मन्दिर ध्वस हो रहा है

लोक और परलोक दोनों टकरा रहे हैं, इसका परिणाम शुभ नही होगा बलवन्त !

बल०—कुछ नहीं होगा। तुम्हारी इस आशङ्का और उदासी का कारण मैं जानता हूँ। तुम्हारा यह प्रथम प्रणय है—तुम्हारा प्रथम आनन्द-मिलन है। पहली बार तुमने एक स्त्री के चरण-तल मे अपने सर्वस्व की अञ्जलि प्रदान की है। नए प्रेमी की नई उत्तेजना ऐसी ही होती है। बात-बात मे उसे आशङ्का होती है, पग-पग पर वह प्रणय-भङ्ग के भय से उद्विग्न हो उठता है। मैं शान्ता के हृदय को—मनोरमा से कहीं अधिक दुर्भेद्य एवं कहीं अधिक पवित्र हृदय को—भग्न करना चाहता हूँ, पर मुझे कुछ भय नहीं है, कुछ आशङ्का नहीं है। मैंने अनेक सुन्दरियो के सौन्दर्य्य-रस का पान किया है। मैं जानता हूँ—विश्वास करता हूँ कि संसार का धर्म-भय केवल एक आडम्बर है। कुशल ऋषियो ने अपनी स्थापित की हुई समाज-संस्था को सुरक्षित रखने के लिए यह ढोंग रचा है। वाह ! मधुर अधर चुम्बन, विमल, शीतल आलिङ्गन, आनन्दमय, विलासमय परिरम्भण—यह सब क्या पाप के स्वरूप हैं ? कदापि नही रामू ! भगवान् ने स्त्री और पुरुष को एक-दूसरे के आनन्द-साधन का सहायक बनाया है। स्त्री-पुरुष का प्रणय—स्वतन्त्र प्रेम—सनातनधर्म है; और उसमें विधि-निषेध की व्यवस्था करना केवल एक स्वार्थमयी कपट-लीला है। वास्तव में यदि देखा जाय, तो वह एक प्रकार से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के मूल में कुठाराघात करना है। इन्हीं विधि-निषेधमय संस्कारों के

बीच में तुम सदा विचरे हो; शास्त्रों की चर्चा निरन्तर तुम्हारे कानों मे गूँजती रही है, उन्मुक्त वायु-मण्डल मे तुमने कभी विहार नहीं किया और इसीलिए तुममे यह उदास-भाव, यह असार धर्म-विवेक परिलक्षित हो रहा है रामू !

रामू—कुछ भी हो, तुम्हारे यह सिद्धान्त मुझे मान्य हो, सो बात नही है; पर इस समय मेरे पास विशेष खण्डन-मण्डन के लिए इतना समय नहीं है। पर इतना अवश्य कहूँगा—स्वभाव से विवश हूँ कि यदि व्यक्तिगत स्वेच्छाचार सामाजिक स्वतन्त्रता का विरोधी है, तो उसे दूर ही से प्रणाम करना श्रेय है। तब भी जाने दो; कुछ भी हो, मैंने जब पाप किया है तो उसे अन्त तक निबाहूँगा। बलवन्त ! तुम हमारा सारा प्रबन्ध ठीक कर दोगे न ? तुम्हारे ही ऊपर इस गुप्त प्रणय-व्यापार की सफलता सम्पूर्ण रूप से अवलम्बित है।

बल०—अवश्य ! तुम मेरे बाल-सखा हो, तुम्हारे लिए मेरे पास अदेय कुछ नहीं है। मैं आज ही से सब प्रबन्ध करना आरम्भ करता हूँ। स्टेशन-मास्टर मेरे मित्र हैं, उन्हे लिखकर मैं तुम्हारे लिए एक दूसरे दर्जे का कम्पार्टमेण्ट रिजर्व करा दूँगा, जिससे तुम निरर्थक बाधाओं से परिमुक्त होकर आनन्द से यात्रा करो। मेरी गाड़ी कल रात्रि को प्रस्तुत रहेगी। मैं तुम्हारा सारा प्रबन्ध कर दूँगा। तुम्हारे पास अधिक सामान तो होगा नहीं ?

रामू—नहीं, मनोरमा से मैंने कह दिया है कि वह पहिनने

के वस्त्र मात्र ही ले ले। ऐसे मामलो में बहुत झमेला ठीक नहीं होता है। बलवन्त ! वह पुरुष-वेश मे होगी !

बल०—पुरुष-वेश मे ? अहा ! कैसा सुन्दर मालूम होगा, मानो एक देव-किशोर हो, मानो एक सजीव नक्षत्र हो। रामू ! तुम बड़े सौभाग्यशाली हो। ऐसा सौन्दर्य्य संसार मे सबके भाग्य मे नही होता। थोड़े दिनो मे जब तुम्हारा यह उदासभाव तिरोहित हो जायगा, तब तुम निश्चय मुझे धन्यवाद दोगे। मैंने ही तुम्हारे इस प्रणय को उत्तेजित किया है, नही तो तुम तो छोड़ ही चुके थे।

बलवन्त हँसने लगे। रामू के मुख पर भी हास्य की एक रेखा प्रकट हुई। वे बोले—बलवन्त ! तुम्हें मै पहले ही से धन्यवाद देता हूँ। पर तुम्हारे प्रणय-व्यापार का क्या समाचार है ?

बल०—अच्छा ही है। रामकली ने शान्ता के हृदय पर प्रभाव जमा लिया है। शान्ता की माँ कल्याणी भी उस पर प्रेम-भाव प्रकट करने लगी है। मै पहले ही कह चुका हूँ कि छल से, बल से, धन से, शक्ति से—किसी भाँति हो, शान्ता को मैं अवश्य अपनी अङ्कशायिनी बनाऊँगा। मेरा सदा का स्वभाव रहा है कि कठिनता से प्राप्त होने वाली वस्तु की उपलब्धि में मैं और भी अध्यवसाय और आवेश से प्रवृत्त होता हूँ। मनोरमा से विच्छिन्न होते ही शान्ता को मेरी होना पड़ेगा। ललितपुर मे रहकर मेरे प्रणय का निरादर कर सकने वाली कोई युवती नही है।

रामू—पर वह ललितपुर छोड़ भी सकती है ?

बल०—कहाँ जायगी ? संसार मे उसके लिए ठौर नही है। पति का घर नष्ट हो चुका है, सम्बन्धियों का उसे पता नही। तब पितृ-विहीन घर को छोड़कर वह इस विशाल सहाय-शून्य संसार में कहाँ जायगी ?

रामू—शायद भगवती की गोद मे।

बल०—सो नहीं होगा। प्राण-मोह बड़ा प्रबल होता है। वैभव का प्रलोभन बड़ा भयङ्कर होता है। इस प्रकार का साहस सहज नहीं है।

रामू—शायद ऐसा ही हो। जो कुछ हो, समाचार देना।

बल०—अवश्य।

बलवन्तसिह को इतनी बात समझने की शक्ति नहीं थी कि पतिगत-प्राणा पतिव्रता के लिए महामाया की विशाल, गुलाब सी कोमल गोद सदा उन्मुक्त रहती है। जो अपनी सतीत्व-रक्षा प्राणपण से करना चाहती है, उसके उस महारत्न को बलपूर्वक छीनने मे स्वयं जगन्नियन्ता जगदीश्वर एवं महा शक्तिशाली शैतान दोनों के दोनों असमर्थ सिद्ध होते हैं !!

## आन्तरिक व्याकुलता
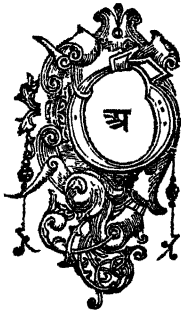
न्त में वह दिन आ ही पहुँचा, जिस दिन सारे सम्बन्धो को निर्दयतापूर्वक छिन्न-भिन्न करके मनोरमा ललितपुर को छोड़कर जाने वाली थी। यह स्वाभाविक है कि जब कोई जीव अपने चिर-परिचित एवं चिर-सहचर से वियुक्त होता है, और विशेषतया जन्म भर के लिए बिदा होता है, तब उसके मन में एक प्रकार का प्रबल मोह उत्पन्न होता ही है। यह मोह पुण्यात्मा के हृदय में भी होता है और पापात्मा के भी। मेवाड़-गौरव महाराणा प्रतापसिंह अपनी कुटी में पड़े-पड़े इसी प्रबल मोह के कारण प्राण-त्याग नहीं कर पाते थे; पर इस प्रकार का मोह इतना पवित्र होता है कि उसके चरणों में मोहातीत मोक्ष भी नतशिर होकर प्रणाम करता है। दूसरे प्रकार का मोह उन क़ैदियों मे होता है, जो अपनी क़ैद की अवधि समाप्त करके कारागार से बाहर निकलने पर

अनुभव करते हैं। अपने भयङ्कर सहचरों का विच्छेद, वीभत्स असन-वसनों का वियोग उन्हें मोह से विह्वल कर देता है, उनकी आँखों से उस समय आँसू बहने लगते हैं। मनोरमा भी आज इसी प्रकार के अनिवार्य्य मोह से बड़ी उद्विग्न हो रही थी। आज प्रत्येक चिर-परिचित वस्तु उसे नूतन रूप मे प्रतीत हो रही थी; सारे सम्बन्ध किसी अज्ञात आभा से चमक उठे थे। वह उनसे चिरकाल के लिए वियुक्त हो रही थी। ललितपुर की वह कलकल-नादिनी सरिता, वह कोकिल-कूजित आम्र-कानन, वह शस्य-श्यामला वसुन्धरा, वह उन्मुक्त विशाल आकाश—सब मानो उसे तर्जनी दिखाकर इस भयङ्कर कर्म के भयङ्कर परिणाम की सूचना दे रहे थे। उसका भग्न गृह आँखों में आँसू भरकर उसे रोकने का प्रयत्न कर रहा था; उस घर की सारी सामग्री हाथ जोड़कर उससे ठहरने के लिए प्रार्थना कर रही थी। मनोरमा बड़ी व्याकुल हो उठी और व्याकुलता की उस ज्वाला में स्थित होकर वह स्वगत-भाव मे कहने लगी:—

"सब छूट जायगा, आज ही सबसे दूर हो जाऊँगी। यह सुन्दर भूमि, यह मनोरम आम्र-बन, यह आनन्दमयी महेन्द्रा—सबसे विछोह हो जायगा। तब जो कुछ मुझे मिलने वाला है वह सस्ता नहीं है, बड़ा महँगा पड़ रहा है। पाप की प्राप्ति भी पुण्य की उपलब्धि की भाँति बड़ी कष्ट-साध्य है। सारे सम्बन्ध टूट जायँगे। जिस ललितपुर ने पिता की भाँति इतने दिनों तक अपने अन्न-जल से मेरे इस शरीर को परिपुष्ट किया, वह भी छूट जायगा

और उसके साथ ही साथ छूट जायँगी प्यारी बहिन शान्ता और परम प्रेममयी माँ कल्याणी !! हाय ! उन्होंने कितने प्रेम से मुझे अपनाया था ? वह मेरी धर्ममयी धर्म-माता मुझे कितने दुलार और लाड़ से गले लगाती थीं ? उन्होने मुझे माता के स्नेह के अभाव का कभी अनुभव ही नहीं होने दिया ; उन्होने उस रिक्त मातृ-पीठ को पूर्ण कर दिया था। शान्ता और मैं दोनो उनकी आँखों की पुतली थीं। हाय ! मैं अभागिनी आज उनकी एक आँख की ज्योति नष्ट करके जा रही हूँ। मैं जानती हूँ कि उनके कोमल हृदय पर मेरे इस दुष्कर्म से गहरी चोट पड़ेगी, वह कदाचित् इस असह्य आघात को इस वृद्धावस्था में सहन न कर पावें। हाय ! ये मेरी जैसी पापात्मिका पुत्री के लिए कहीं प्राणत्याग न कर दें ?

"उस दिन उन्होंने मुझे बुलाकर कैसा शान्तिमय, पवित्र उपदेश दिया था। मेरे लिए उन्होंने कैसी सच्ची व्याकुलता प्रकट की थी। मै उनकी बात न मान सकी और उनकी उस श्रुति के समान वाणी की अवज्ञा कर रही हूँ। मान भी मैं कैसे सकती थी ? मैं तो वैसी पुण्यमयी, वैसी सौभाग्यमयी नहीं। मैं तो पाप के गड्ढे में पूरी तौर से उतर चुकी हूँ। पाप पाप पर प्रलुब्ध होता है ; पुण्य पुण्य पर प्रेमासक्त होता है। मेरे पाप की छाया ने मेरे हृदय को अन्धकारमय बना दिया है ; तब पुण्य का प्रभाव उस पर कैसे पड़ सकता है ? वासना ने मन को धर्म के प्रति कठोर बना दिया है। तब उस पाषाणमयी भूमि में पवित्रता का

पुष्प कैसे प्रस्फुट हो सकता है ? हाय ! मैं बड़ी अभागिनी हूँ, बड़ी पापिन हूँ, बड़ी नीच हूँ, बड़ी पामर हूँ !!

"शान्ता ! प्यारी शान्ता !! तुमने मुझे सहोदरा से भी अधिक स्नेह किया। मुझे बड़ी मानकर मुझ पापिन में स्नेहमयी श्रद्धा रक्खी। मैंने ही चाहे कुछ कह लिया हो; उसके कोमल हृदय को मैंने ही चाहे अपनी विकारमयी बातों से विक्षुब्ध कर दिया हो, पर उस महासती ने कभी मुझसे कुछ नहीं कहा, कभी स्वप्न में भी मेरे ऊपर वह विरक्त नहीं हुई। उसका प्रेम हिमाचल के शीतल निर्झर की भाँति, अक्षय, अमर, शीतल बना रहा। और हाय ! आज अन्त मे उसीके साथ मै विश्वासघात कर रही हूँ ! यदि माँ कल्याणी मेरे इस कलङ्क-समाचार को सुनकर इतनी मर्माहत हुईं कि उन्होंने इस पापपूर्ण, मत्सरमय संसार को छोड़ दिया तो शान्ता पर भी विपत्ति आने की सम्भावना है। कामुक युवकों की दृष्टि उस परम साध्वी पर भी पड़ सकती है। यह मेरी निश्चित धारणा है कि चाहे कुछ हो, पर शान्ता अपने पवित्र सतीत्व की प्राण देकर भी रक्षा करेगी; पर तब भी वह अत्याचार के चङ्गुल मे फँस सकती है। उसे अनेक दुःख उठाने पड़ सकते है। हा दैव ! इस अनर्थ का भी उत्तरदायित्व मेरे ही पाप के भार से अवनत शिर पर पड़ेगा ? हा दैव ! मेरा निस्तार नहीं है !!"

मनोरमा रोने लगी। मनोरमा का विवेक यद्यपि भस्म हो चुका था, पर उसकी चिता में से एकाध चिनगारी चमक उठती

थी। उसीके प्रभाव से मनोरमा रो पड़ी—हाहाकार कर उठी। विवेक और धर्म सहोदर हैं।

पर जब मनुष्य पाप की अग्नि में भस्म होने लगता है, तो वह कभी-कभी उसे प्रशमित करने के लिए आत्म-प्रतारणा तक करने को कटिबद्ध हो जाता है। निराशा के समुद्र मे गिरकर, बाड़वाग्नि से परिवेष्ठित होकर जब वह दूर तक—बहुत दूर तक, आँख दौड़ाने पर भी शान्ति-तट को नहीं देख पाता है, तब वह आत्म-प्रतारणा रूपी तिनके को पकड़कर, उसका असार अवलम्ब लेकर अपने आपको बचाने का निरर्थक प्रयत्न करता है। मनोरमा ने भी यही किया। आँखों के आँसू पोछकर वह आप ही आप कहने लगी—

"कोई किसी का नहीं है। शान्ता और कल्याणी मेरी कौन हैं? निरन्तर रहने से इतना सौहार्द और प्रेम अवश्य हो गया है। मै चली जाऊँगी, दो-चार दिन मे वे इस घटना को भूल जायँगी। कौन किसका है? कौन किसकी चिन्ता करता है? सब अपने-अपने सुख में, अपने-अपने स्वार्थ में मग्न हैं। प्रेम और मित्रता सब दिखावा है। दिखावा धीरे-धीरे स्वभाव में परिणत हो जाता है। बचपन में मुँह बिचकाने वाले शिशु बड़े होने पर भी मुँह बिचकाने लगते हैं। प्रेम और सौहार्द पहले साधारण परिचय से उत्पन्न होते हैं; निरन्तर दर्शन से परिपक्व होते है; और धीरे-धीरे वे स्वभाव में परिणत हो जाते हैं। दिखावा सच्चा हो जाता है; स्वप्न प्रत्यक्ष हो जाता है। भाई के मरने पर क्या

भाई मर जाता है? पिता के मरने पर क्या पुत्र प्राण दे देता हैं? पुत्र के गत होते ही क्या माता अन्न-जल परित्याग कर देती है? मेरा जीवन स्वयं इसका एक जाज्वल्यमान उदाहरण है। मुझे बलि-वेदी पर चढ़ाकर मेरे माता-पिता कैसे प्रसन्न हुए थे? तब मैं ही क्यो इन तुच्छ, असार सम्बन्धों के लिए अपने सुख की तिलाञ्जलि दे दूँ? और इस तिलाञ्जलि देने से लाभ ही क्या है? इस वृद्ध, शिथिल पति का अत्याचार सहन करना होगा; अपने हृदय की बढ़ती हुई वासना में तिल-तिल करके जलना होगा; जब तक जीवन रहेगा तब तक इसी प्रकार व्यथा के आघात से मनोमन्दिर विध्वंस होता रहेगा। बिना सींचे यह सुन्दर यौवन-वन सूख जायगा; भगवान् की दी हुई विभूति बिना आदर के, बिना चिन्ता के नष्ट हो जायगी। क्या लाभ है? संसार स्वार्थ की रङ्गभूमि है। जहाँ तक हो सके आनन्द, सुख और परितृप्ति को किसी भाँति भी प्राप्त कर लेना चाहिए। क्या रक्खा है? व्यर्थ है यह भण्ड आडम्बर। पाप-पुण्य सब व्यर्थ, निस्सार प्रपञ्च है। इनके पीछे आनन्द और विलास की तिलाञ्जलि दे देने वाला मूर्ख है, कम से कम मनोरमा तो इतने अच्छे अवसर को, इन व्यर्थ के धार्मिक भावो के चरणों में बलि देने की नहीं।"

कहने को तो मनोरमा यह सब कह गई, पर वह अपनी आत्मा को धोखा देने मे कण भर भी सफल नहीं हुई। उसकी आत्मा ने उसके इस कपटपूर्ण नास्तिक तर्क को स्वीकार नहीं

किया। उसके हृदय में इन कुत्सित विचारों के आते ही सहस्र-सहस्र बिच्छुओं के तीव्र दंशन की ज्वाला प्रज्ज्वलित हो उठी। वह भयङ्कर पाप कर रही थी; सरल शान्ता और शान्तिमयी कल्याणी के साथ विश्वासघात कर रही थी; कुछ भी हो, समाज के सम्मुख स्वीकृत पति के हृदय में विषाक्त छुरिका घुसेड़ रही थी; और इतने पर भी वह अपनी आत्मा के सम्मुख अपने आपको निरपराध सिद्ध करना चाहती थी। पर आत्मा ने न्याय के आसन पर बैठकर, उसके कथन को स्वीकार करने में अपनी असम्मति प्रकट की और स्पष्ट रूप में उसे दोषी कह दिया।

तब तो मनोरमा और भी विकल हो उठी। वह अपने विकृत स्वरूप को देखकर और भी भयभीत हो गई; अपने अपराध के गुरुत्व को जानकर वह और भी उद्विग्न हो गई। वह पाप से निवृत्त होने का मार्ग ढूँढ़ने लगी। पर यह असम्भव था। वासना का प्रबल वेग था; पति का अकारण अत्याचार था; समाज का निर्मम नियन्त्रण था—मनोरमा को उच्छृङ्खल बनाने के लिए यही तीनों बातें पूर्णरूप से पर्य्याप्त थीं। पर मनोरमा चाहती थी कि यदि सम्भव हो, तो वह इस पाप की भीषणता को कम कर दे। पर पाप का अनुष्ठान तो अनिवार्य्य है; केवल प्रश्न यही था कि उसका वीभत्स स्वरूप कुछ अंश में कम भयङ्कर हो जाय तो अच्छा है। यदि वह किसी भाँति शान्ता और शान्ता-जननी को अपने इस पाप-कर्म की परिणाम-ज्वाला से अल्पांश में भी सुरक्षित रख सकने में समर्थ

हो सके, तो कुछ न कुछ अंश में उसके हृदय की ज्वाला सन्तोष की विमल शीतल धारा से शान्त हो सकेगी।

बहुत देर तक वह यही सोचती रही, पर समझ मे कुछ न आता था। वह कभी बैठ जाती; कभी टहलने लगती; कभी बाहर जाती और कभी अन्दर आती। अथवा विकल-भाव से इधर-उधर घूमने लगती; पर यह निश्चित न कर सकती कि वह क्या करे, किस उपाय का वह अवलम्बन करे; किस साधन का वह आश्रय ले; किस उपाय का उपयोग करे? उसे विश्वास था—उसकी आत्मा स्पष्ट भाव से कह रही थी—कि शान्ता और कल्याणी को उसके कुकर्म के परिणाम से जितना ही अधिक परिताप होगा, मनोरमा को उससे दश लक्ष गुना अधिक दण्ड भोगना होगा, इसीलिए वह व्यग्र हो उठी। वह सोचने लगी कि किस प्रकार शान्ता और कल्याणी को उस आगत वज्र-प्रहार से बचावे, जिसका मूल कारण वह स्वयं थी। अन्ततः उस आघात की भीषणता को कम ही कर सके। मनोरमा सोचते-सोचते पागल सी हो गई।

बहुत देर तक वह सोचती रही, धीरे-धीरे दिवस का अवसान हो गया। मनोरमा के जाने में अब केवल दो प्रहर और शेष रह गए; पर अब तक मनोरमा निश्चित न कर सकी कि वह क्या करे। वह छत पर चढ़कर सूर्य्यदेव की किरण-माला का नृत्य-विलास देखने लगी। सहसा उसके मन में भाव उठा—

"पाप के प्रायश्चित्त का प्रारम्भ होता है प्रकाश से। जबसे पाप का गुप्त रूप प्रकट होने लगता है, तभी से पाप का दण्ड भी

प्रारम्भ होने लगता है। अपने हृदय के कलुषित भावो को, अपने पापमय कृत्यों को, पूर्णरूप से प्रकट कर देना ही पापी के निस्तार का एकमात्र पुण्य-मूलक साधन है। मै जानती हूँ कि मेरे इस गुप्त प्रणय के रहस्य को कोई नहीं जानता है। मैं चली जाऊँगी तब भी कदाचित् इस विषय मे किसी को कुछ भी नहीं मालूम होगा। विभिन्न-विभिन्न कल्पनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं, पर निश्चित व्यापार का पता किसी को नहीं लग सकता। कारण कि अब तक इस विषय में तीन जन ही है जो कुछ जानते हैं; इनके अतिरिक्त और कोई नही जानता। एक मैं, दूसरा रामू और तीसरा जमींदार। जमींदार अपनी अप्रतिष्ठा के लिए उस रहस्य का उद्घाटन नहीं करेगा; रामू और मै तो यहाँ से चले ही जायँगे। हम दोनो को किसी ने बात करते तक नहीं देखा, अतः इस सम्बन्ध मे किसी को सन्देह तक नही हो सकता। तब मैं अपने इस पाप-कृत्य को ब्यौरेवार शान्ता और उसकी माता पर क्यों न प्रकट कर दूँ? इसके करने से मेरे हृदय का बोझ भी हलका हो जायगा, और वे भी इस सम्बन्ध मे अन्धकार में नहीं रहेंगी। पर मैं यह तब करूँगी जब मैं यहाँ से चली जाऊँ, नहीं तो यह काण्ड और ही रूप धारण कर लेगा। पुण्य हो या पाप, हत्या हो या बलिदान, पर मैं उसे छोड़ तो सकती नहीं। चलूँ—चल कर शान्ता को एक पत्र लिखूँ। रात ही को उसे दे आऊँगी और उसे अपनी शपथ दिला दूँगी कि वह उसे कल आठ बजे से पहले न पढ़े; और आठ बजे मैं यहाँ से कई नदी पार पहुँच जाऊँगी।

मुझे पूर्ण रूप से विश्वास है कि वह मेरी शपथ की अवज्ञा नहीं करेगी।"

मनोरमा इस बार आत्म-सन्तोष की मरीचिका का दर्शन पाकर शान्त हो गई। उसकी विकलता का कुछ अंश प्रशमित हो गया।

पर मनोरमा नहीं जानती थी कि उसके उद्भ्रान्त हृदय ने एक ऐसी कल्पना की थी, जो शान्ता और कल्याणी के हृदय को शान्त करने की अपेक्षा और भी विकल और ज्वालामय बना देगी।

कभी-कभी अज्ञान सुख का कारण होता है और ज्ञान महा व्यथा का!!

## गृह-त्याग

नोरमा जिस समय पत्र लिखकर अपने कमरे से बाहर निकली, उस समय रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत हो चुका था। मिश्र जी को भोजन करा चुकने के बाद ही मनोरमा पत्र लिखने बैठी थी। विजया की तरङ्ग में भर पेट मिष्ठान्न खाकर मिश्र जी शीतल समार की थपकियों के कोमल स्पर्श से शीघ्र ही निद्राभिभूत हो गए। मनोरमा के पत्र लिखने में इसीसे कोई व्याघात नहीं हुआ।

अब मनोरमा शान्ता से शेष साक्षात् करने तथा धर्ममाता कल्याणी के श्रीचरणों में अन्तिम बार प्रणाम करने के लिए चली। पत्र को उसने अपनी कञ्चुकी में रख लिया, वह स्वयं उसे शान्ता को देगी।

तारों भरी रात्रि थी; रात्रि का अञ्चल एकदम घन-श्यामल हो रहा था। वे नक्षत्र-गण ऐसे प्रतीत होते थे, मानो चञ्चल दामिनी किसी कारण से टूक-टूक होकर मेघ-मण्डल के विशाल वक्षस्थल पर गिर पड़ी हो। मेघ-मण्डल भी दुःख में मौन और व्यथा की अग्नि से जल-विहीन हो गया था। शान्ता अपनी छत पर चटाई पर लेटी हुई थी, वह किसी अज्ञात भावना मे तल्लीन थी। हाँ, भावना अज्ञात थी; क्योंकि उसका कोई स्वरूप नहीं था। सामने उन्मुक्त वायुमण्डल, उससे ऊपर नक्षत्र-चर्चित घन-कृष्ण गगन-मण्डल और नीचे विशाल छायामयी देवी धरित्री। शान्ता मानो इसी सौन्दर्य्य की अज्ञेय भावना मे मग्न पड़ी हुई थी। जो बिना किसी विशेष विषय की अवधारणा के, बिना किसी साकार, दृश्यमान पदार्थ की चिन्ता के, अज्ञेय भावना की तन्मयी सुषुप्ति मे विश्राम कर सकते है, वे यौगिक आनन्द की अनुभूति के एकांश की उपलब्धि अवश्य कर सकते हैं। शान्ता तन्मयी हो रही थी। शान्ता-जननी अपने पूजा-गृह में थीं, वे महामाया की ध्यान-धारणा मे तल्लीन थी।

धीरे-धीरे मनोरमा जाकर उसकी चटाई के पास खड़ी हो गई। शान्ता तन्मयी दशा को पहुँची हुई थी। उसे मालूम नहीं हुआ कि मनोरमा आई हुई है। मनोरमा चुपचाप खड़ी हो गई। तारों की उस अस्पष्ट छाया में, रजनी के उस अल्प प्रकाशित अन्धकार में उसने जो पवित्र मूर्त्ति देखी—जो पावन भाव का मूर्तिमान कलेवर देखा एवं धार्मिक विलास का जो शान्त, सरल,

सजीव शरीर देखा—उसे देखकर वह अपनी सुध-बुध भूल गई। वह एकटक से, अनिमेषलोचना होकर उस भव्य, मनोरम रमणीय रत्न को देखने लगी। अहा! यह कैसा सरल, कैसा उज्ज्वल, कैसा पवित्र, कैसा कल्याणकर था!

मनोरमा मन भरकर उस सौन्दर्य्य को देखने लगी। आजन्म अब उसे वह अक्षय लावण्य देखने को नहीं मिलेगा। वह स्वरूप प्रेम से पवित्र, व्रत से उद्दीप्त, धर्म से शान्तिमय, संयम से सरस, आत्म-दमन से दर्शनीय, आन्तरिक अनुभूति से आनन्दपूर्ण एवं सारल्य से सन्तोषमय था। मनोरमा उस प्रदीप्त अथच स्निग्ध, कठोर अथच कोमल, दुर्दान्त अथच सरल, शान्त अथच वीर, विचित्र चरित्र के उस सजीव चारु चित्र को देखकर अपना मन-प्राण शीतल करने लगी। इस प्रकार वह भी तन्मया सी हो गई।

मनोरमा उस रूप-माधुरी को लगभग पन्द्रह मिनिट तक देखती रही। तब उसने पुकारा—शान्ता!

शान्ता चौंक पड़ी, अपनी आध्यात्मिक तन्मयी अवस्था से जाग्रत अवस्था में आ गई। वह उठ बैठी। हाथ पकड़कर उसने मनोरमा को बड़े आदर से, बड़े स्नेह से अपने पास बिठा लिया। पूछने लगी—बहिन! तुम कब से खड़ी हो?

मनोरमा—लगभग पन्द्रह मिनिट से मैं तुम्हारा यह पवित्र मुख देख रही थी।

शान्ता—तब तुमने मुझे पुकारा क्यों नहीं?

मनोरमा—पुकार कर क्या करती ? पुकारने की सच पूछो तो सुध ही नही रही। तुम्हारी स्वाभाविक शोभा, तुम्हारी पवित्र प्रभा देख रही थी। आज तुम्हारे अन्तर के आनन्द से समुद्भासित जैसी तुम्हारी सुन्दरता देखी, वैसी मैने कभी नही देखी थी। अहा ! वह कैसा पवित्र सौन्दर्य्य था। इस अन्धकारमयी रजनी में वह उज्ज्वल तारिकाराशि से भी अधिक ज्योति के साथ चमक रहा था। वह प्रोज्ज्वल था, पर प्रखर नहीं था; वह सरल था; स्निग्ध था; सुकुमार था। उसे देखकर आँखें शान्त होती थीं, मन शीतल होता था; सरल बालक की प्रसुप्त मुख-श्री जैसा, फूटते हुए अङ्कुर की प्रथम विकास-लीला के जैसा, माता के दूध की प्रथम धार के जैसा, यौगिक साधना की बाल-किरण के जैसा, वह बड़ा सुन्दर था, बड़ा मनोरम था, बड़ा शीतल था। बहिन ! अब कदाचित् वैसा सौन्दर्य्य जन्म भर देखने को नहीं मिलेगा ! बुरा किया, तुम्हें जगा दिया। विशेष प्रयोजन न होने से मैं कदापि ऐसा न करती।

शान्ता ने कुछ सलज्ज भाव से, कुछ संकुचित हृदय से और कुछ व्यङ्ग से कहा—बहिन ! तुम तो एक प्रकार से कवि हो गई हो। तुमने जो कुछ कहा वह कहाँ से सीखा बहिन ?

मनोरमा—शब्द सीखे थे पाठशाला में, और भाव का वेश देखा था इस छत पर अभी थोड़ी देर पहले। आज मैंने वास्तव में जो तुम्हारा रूप देखा था, उसे देखकर एक अक्षर भी न जानने वाला कवि हो सकता है बहिन ! यह असत्य नहीं है। पर तब

भी मन यह कहता है कि जैसे यह रूप मेरे वास्ते सदा के लिए विलीन हो गया, यह रूप-सुधाकर जन्म भर के लिए अस्त हो गया।

शान्ता—सो क्यों? मैं और तुम दोनों जब तक जीवित हैं, तब तक साथ हैं। तब तुम ऐसी कल्पना क्यो कर रही हो बहिन?

मनोरमा—जीवन और सहवास नित्य तो नहीं है। आज हम-तुम पास-पास बैठी हैं—इतने पास कि एक-दूसरे के शब्दों को सुनकर मन शीतल कर रही हैं, एक-दूसरे के श्वास के घात-प्रतिघात तक को सुन सकती है और भाग्य के निष्ठुर विधान से कल प्रातःकाल का सूर्य्य हमे एक-दूसरे से सहस्र योजन की दूरी पर देख सकता है। यह भी सम्भव है कि हममे से एक इस लोक में रह जाय, दूसरा वहाँ आकाश में चमकते हुए इन असंख्य लोकों में से किसी का प्रवासी बन जाय।

शान्ता—सो ठीक है, पर आज इस निराश भाव को क्यो व्यक्त कर रही हो मेरी बहिन!

मनोरमा—यो ही। कोई विशेष बात नही है। बात चल पड़ी, कह दिया। मैं तो आजकल उदास भी नहीं रहती। मैं तो अब निराशा को परास्त करने में लग गई हूँ।

शान्ता—सो मैं जानती हूँ बहिन! आजकल तुम जिस पूज्य भाव से मिश्र जी की सेवा मे लगी रहती हो; व्रत, नियम इत्यादि का अनुष्ठान करती हो, संयम और धर्म के साथ समय

बिताती हो; पठन-पाठन में मन लगाती हो—सो बहिन, मुझे सब ज्ञात है। पर इस समय तुम्हारी वाक्य-माला में वेदना का कुछ आभास था, जो इस अन्धकारमयी यामिनी में भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता था।

मनोरमा काँप उठी! उसके इस विकम्पन को शान्ता ने नहीं देखा। मनोरमा ने कहा—आभास मात्र था बहिन! एक प्रकार के आवेश की झलक भर थी। हाँ! तो मैं एक विशेष प्रयोजन से आई थी, पर जब तक तुम मुझको यह वचन न दे दोगी कि तुम मेरी विनय को—मानने योग्य विनय को—बिना कुछ पूछे, बिना कुछ कहे-सुने स्वीकार कर लोगी, तब तक मै नही कहूँगी?

शान्ता ने कुछ भर्त्सना, कुछ दुःख के शब्दों में कहा—बहिन, तुम्हारी कौन सी बात मैंने अस्वीकार की है। तब यह अविश्वास क्यों?

मनोरमा ने विनम्र स्वर में कहा—इसके लिए क्षमा माँगती हूँ, पर आज मै वचन लिए बिना न कहूँगी।

शान्ता ने गम्भीर होकर कहा—मैं वचन देती हूँ।

मनोरमा ने अपनी कञ्चुकी से पत्र निकाल कर शान्ता के हाथ में देकर कहा—बहिन! मैं तुम्हें यह पत्र देती हूँ। तुम इसे कल आठ बजे से पहले मत पढ़ना। पढ़कर इसे माँ जी को भी पढ़ने के लिए दे देना। इस सम्बन्ध मे मैं और कुछ नहीं कहूँगी। कल तुम्हे अपने आप ही मालूम हो जायगा। प्यारी बहिन! मुझसे कुछ मत पूछो। मैं कल आठ बजे तक इस पत्र मे लिखित

रहस्य को प्रकाशित न होने दूँगी। बहिन! अब मै तुमसे आठ बजे ही—हो सका तो—भेंट करूँगी।

शान्ता—तब क्या तुम प्रातःकाल को जल लेने के लिए नहीं चलोगी।

मनोरमा—नही। मै कल आठ बजे तक एक जप करूँगी और तब तक मैं कही नही जाऊँगी। मुझे मनुष्य-दृष्टि में नहीं पड़ना चाहिए—ऐसा ही उसका विधान है।

शान्ता का हृदय एक आशङ्का से परिपूर्ण हो गया। एक भावी अमङ्गल की सूचना उसके हृदय-गगन के सुदूर कोण पर नक्षत्र की भाँति चमकने लगी। वह एकबार ही व्यग्र हो उठी। वह उत्कण्ठित, उत्तेजित भाव मे बोली—सत्य कहना बहिन! तुमने आत्मघात करने का तो विचार नहीं किया है? सत्य कहना, यदि मेरे शिर की शपथ एवं भगवती के पाद-पद्म की शपथ खाकर तुम नही कहोगी, मुझे विश्वास नहीं दिलाओगी तो मैं अपने वचनो का पालन नहीं करूँगी। प्रतिज्ञा-भङ्ग के अपराध को करके भी, सखी को दिए वचनों को तोड़ डालने का पाप करके भी मै इस पत्र को अवश्य पढ़ डालूँगी।

मनोरमा ने बड़े धीर, गम्भीर भाव मे कहा—नहीं बहिन, तुम भी देवी हो। तुम्हारे ही चरणों की शपथ खाकर कहती हूँ कि में आत्मघात नहीं करूँगी। पर जो कर्म मैं करने चली हूँ, वह कदाचित् उससे भी भयङ्कर है।

उसी समय शान्ता की माँ ने नीचे से आवाज़ दी। शान्ता

और मनोरमा दोनों ने नीचे उतर कर उन्हे प्रणाम किया। कल्याणी ने एक हाथ शान्ता और एक हाथ मनोरमा के शिर पर रखकर आशीर्वाद दिया—सब विपत्तियों मे भगवती राजराजेश्वरी कल्याण-सुन्दरी तुम्हारी रक्षा करें।

मनोरमा अपने घर लौट आई!

* * *

मनोरमा ने देखा कि मिश्र जी बेहोश पड़े सो रहे हैं। धीरे-धीरे निश्चित, मन्थर गति से मनोरमा सारा मोह-बन्धन काट कर, सारे सम्बन्धो को तोड़कर बाहर निकली। आकाश में वे ही तारे हॅस रहे थे, छाया की कोमल शय्या पर पड़ी हुई प्रकृति सो रही थी, चिरदिन के लिए वह उस घर को, पुण्य प्रयाग तीर्थ से भी अधिक पवित्र पति-प्रासाद को छोड़कर चल दी।

मनोरमा महेन्द्रा-तट की ओर चली। गई मनोरमा! ललितपुर को छोड़कर वह चल दी, पर जितनी ही वह आगे-आगे बढ़ती जाती थी, पुण्य और धर्म उतने ही उससे पीछे छूटते जाते थे।

पाप और पुण्य—दोनो ही कर्म की सन्तान हैं; पर एक का निवास है मन्दाकिनी मुखरित स्वर्गधाम मे और दूसरे का प्रासाद है विलास-परिचुम्बित, लालसा-ललित वासना की रङ्गमयी रङ्गभूमि मे!!

## मनोरमा का पत्र

क प्रहर दिन चढ़ चुका था। गर्मी की ऋतु में इस समय सूर्य्यदेव प्रखर होने लगते हैं। शान्ता स्नान-पूजन इत्यादि से निवृत हो चुकी थी। वह मनोरमा के पत्र को पढ़ने के लिए बैठी। पत्र इस प्रकार था :—

*मेरी प्यारी बहिन शान्ता,*

*तुम्हें स्वर्गीय शान्ति मिले !*

चलते समय में भी मैं तुमसे कपट कर रही हूँ, इस ग्लानि से मेरा मन और भी विक्षुब्ध हो रहा है। पर इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था। तुम्हारे सामने अपने पतन की सारी कथा प्रकट किए बिना मैं जा भी नहीं सकती थी; और वासना की ऐसी प्रबलता थी कि मैं रुक भी नहीं सकती थी, तब क्या करती ? क्षमा करना बहिन ! तुम्हारे साथ मैंने विश्वासघात किया है,

कदाचित् इसका आघात इतना भयङ्कर हो कि तुम और माँ इसे सहन न कर सको, पर तब भी तुमसे मै अनुनय करती हूँ कि तुम अपने कोमल हृदय को शान्त रखना। कोई ऐसा कर्म मत करना, जिसे करके तुम्हे ग्लानि हो। माँ को भी समझा देना, वे अपनी प्यारी धर्म-पुत्री के इस कुकर्म से मर्माहत न हो। मैं तुम्हारे नित्य सहवास मे रहकर भी अपनी उस वासना को परास्त न कर सकी; मैं माता जी के परम पवित्र मातृ-रस में स्नान करके भी पवित्र न हो सकी—हा दुर्दैव !!

बहिन ! तुम सदा मेरे साथ रही, पर तुमने मेरे गुप्त प्रणय-व्यवहार को नहीं देखा। इसका कारण यह है कि संसार का पाप तुम्हारे सामने आने का साहस नही कर सकता, और तुम—पुण्यमयी, धर्ममयी तुम—इतनी सरल हो; अपने आन्तरिक पवित्र आनन्द में इतनी मग्न हो; अपने पवित्र योग की समाधि मे इतनी ध्यानावस्थित रहती हो कि चारों ओर होने वाले पाप के विलास-नृत्य की ओर तुम्हें देखने का अवसर ही नहीं मिलता। वासना का विकारमय सङ्गीत तुम्हारी आन्तरिक शान्ति को भङ्ग नहीं कर सकता, पत्ते-पत्ते पर किलोल करने वाला बसन्त-सखा कामदेव तुम्हारी दृष्टि पड़ते ही सरल शिशु के स्वरूप में परिणत हो जाता है।

चतुर्दशी की रात्रि का अवसान हो चुका था। पूर्णिमा का उषा-काल था। उसी दिन वह महेन्द्रा-तट से लौटते समय न मालूम कहाँ से मेरी आँखों के सामने आ गया। उसकी आँखों में सजीव

सम्मोहन था; उसके सङ्केत मे मूर्तिमान आकर्षण था; उसकी मूक-आकुल दृष्टि में शरीरधारी वशीकरण था—मै इस त्रिपाश मे फँसकर आज तुम्हे, माँ को, ललितपुर को और उस दुर्बल, क्षीण पति को छोड़कर उसके साथ न मालूम कहाँ जा रही हूँ ? जिस समय तुम यह पत्र पढ़ रही होगी, उस समय मैं तुमसे बहुत दूर—सैकड़ो कोस दूर—पहुँच चुकी होऊँगी। तुम्हारे और मेरे बीच में एक इतना बड़ा व्यवधान पड़ जायगा, जो कदाचित् जन्म भर न हटे और पुनर्जन्म मे भी हटेगा या नहीं—यह विषय भी सन्देह से शून्य नहीं है।

परलोक यदि है, तो वहाँ पर भी मेरा और तुम्हारा सम्मिलन नहीं होगा। तुम जाओगी देवाङ्गनाओं के साथ पारिजात-वन में और मैं घसीटी जाऊँगी यम के कराल दूतो से रौरव की ज्वाला मे। बहिन! तुम्हे मैं क्या बताऊँ? वह आकर्षण बड़ा प्रबल था। वह सुन्दर शैतान—वह प्यारा पिशाच—मेरी आँखों के सामने देव-किशोर के रूप मे प्रकट हुआ था। वासना के मद से मेरी आँखें रँगी हुई थी; यौवन के विकार से मेरा शरीर जल रहा था। वह शीतल, विमल जल लेकर—मनोरम, भव्य, रमणीय शोभा लेकर आया, आँखी आँखों मे उसने मुझे कुछ पढ़ा दिया; मेरे ऊपर जादू कर दिया; और मैने विजित बन्दी की भाँति, बिना सोचे और बिना विचारे अपना सर्वस्व, अपना सतीत्व—सब उसको अर्पण कर दिया। अब क्या वह सब कुछ लौट सकता है? तब कौन मुँह लेकर तुम्हारे बीच मे रहती? पाप-पुण्य का क्या मेल?

अपवित्र और पवित्र का क्या प्रणय ? व्यभिचार और पातिव्रत्य का क्या सम्बन्ध ? किसी अज्ञेय शक्ति के महत् विधान ने मुझे तुमसे वियुक्त कर दिया।

बहिन ! तुमने एक दिन कहा था कि माँग के सिन्दूर और हाथ की चूड़ी को देखकर सन्तोष धारण करना सधवा हिन्दू-ललना का धर्म है। सो ठीक है बहिन ! पर सबमें इतना संयम नहीं है; सबका हृदय इतनी ऊँची प्रवृत्ति का लीला-निकेतन नहीं है। माँग के सिन्दूर-सूर्य्य के दर्शन से हृदय-कमल नहीं खिलता है ; हाथ की चूड़ी की मृदुल-मधुर ध्वनि-मात्र से वासना परितृप्ति नहीं होती है। देखो तो बहिन, इस सामाजिक अत्याचार को। सिन्दूर के रक्त-वर्ण को धार्मिक अग्नि का स्वरूप देकर वह उसमें वासना को भस्म करना चाहता है ; चूड़ी की ललित मधुर स्वर-लहरी में वह मदन का हाहाकार विलीन करना चाहता है ! इसके दो ही उपाय हैं—या तो एकान्त संयममय तप अथवा पूर्ण विलासमय सम्भोग। पर हाय ! समाज ने वृद्ध पति के साथ विवाह कर मेरा दूसरा साधन तो नष्ट कर दिया और पहला साधन साधने की शक्ति मुझमें है नहीं।

समाज का ही दोष हो, सो बात नहीं है।। मेरी चंचल वासना एवं प्रखर काम-प्रवृत्ति ने भी मेरे इस पतन में पूर्णरूप से सहायता दी है। पर मालूम नहीं कौन सी छिपी हुई ध्वनि बार-बार मेरे हृदय में गूँज उठती है कि यदि मेरे लावण्य और यौवन के अनुरूप किसी योग्य सुन्दर युवक से मेरा पाणि-ग्रहण होता, तो

कदाचित् मेरा ऐसा पतन न होता। तुमने ठीक ही कहा था कि जिसने पति का सहवास प्राप्त करके भी वासना की परितृप्ति न कर पाई, उसके स्खलन की अनेक सम्भावना है। मेरे विषय मे ऐसा ही हुआ। वृद्ध, शिथिल, पति के सहवास ने मेरी वासना को शान्त तो नहीं कर पाया, प्रत्युत उसे और भी प्रज्ज्वलित कर दिया। मै रुक नही सकी, गिर पड़ी। तुम्हारा वाक्य पूर्णरूप से सत्य सिद्ध हुआ !

मैं जानती हूँ कि मेरी लालसा शान्त नहीं होगी ; मेरी प्यास कभी नही बुझेगी। मैंने, जो मेरा नही था, उस पर मन चलाया है; भगवान् के साम्राज्य मे चोरी करने की चेष्टा की है। व्यर्थ का कलङ्क लगेगा, आनन्द के लिए ढूँढ़ने निकली हूँ, पर बदले में परिताप पाले पड़ेगा। पर क्या करूँ बहिन ! पाप के प्रबल पाश को छिन्न-भिन्न कर देना मेरी तुच्छ शक्ति से परे है, पर तब भी एक बार मन यह कह उठता है कि यदि मुझे नरक की ज्वाला मे गिरना पड़ा, तो मेरे साथ गिरेंगे समाज के वे भी दिग्गज नेता, जो युवतियों को सदाचार-शिक्षा देने मे तो बड़े पटु है, पर जो उनकी रक्षा की आयोजना न करके प्रत्युत उनकी परिस्थिति को ऐसी भयावह बना रहे हैं कि उसमें रहकर व्यभिचार से बचा रहना उनके लिए एकान्त असम्भव नहीं तो सबसे अधिक कठिन कार्य्य अवश्य है। वे भी जलेंगे, जो कुरीति के प्राचीनत्व की दुहाई देकर उसकी भीषण परिणाम-लीला पर ध्यान नहीं देते हैं ; जो स्त्रियो को—यौवन से उन्मादिनी रमणियो को—बलात्कारपूर्वक जर्जर, शिथिल,

वृद्ध अथवा दुर्बल, सरल बालक के गले मे बाँध देते हैं। मैने तो पाप किया है, पाप की ज्वाला मे मेरा जलना तो अवश्यम्भावी है, पर तिल-तिल करके भस्म होगे वे समाज के पापी नियन्ता भी, जो धर्म के पवित्र नाम पर, कुरीति की वेदी पर युवतियों का बलिदान देते है; जो पातिव्रत्य की पावन रक्षा के नाम पर स्वेच्छाचार की अग्नि में रमणियो की आहुति देते हैं! अस्तु—

बहिन! कदाचित् तुम यह जानना चाहती होगी कि वह युवक कौन है? पर बहिन! इससे न तो तुम्हारा कोई कार्य्य सिद्ध होगा और न मै इस रहस्य को उद्‌घाटन करने का साहस ही कर सकती हूँ। पर बहिन! इतना अवश्य कहूँगी कि वह तो एक उच्च प्रवृत्ति वाला, बड़ी ऊँची शिक्षा वाला युवक है। मेरी जैसी अनेक अभागिनी अबलाएँ तो कितने ही निकृष्टतम पुरुषो के साथ चली जाती हैं। बहिन! शास्त्र की कटकटाहट सबको प्रिय नही प्रतीत होती। संसार की सब हिन्दू तथा अहिन्दू युवतियाँ इस बात को अन्तःकरण से मानने के लिए उद्यत नहीं हैं कि विवाह आत्मा आत्मा मे होता है; हृदय की प्रवृत्ति-पुञ्ज का और शरीर की वासना का इस बन्धन से केवल गौण सम्बन्ध मात्र है। मान लेतीं, हम सरल-निर्बोध युवतियाँ अवश्य मान लेती, यदि समाज निष्पक्ष रीति से स्त्री और पुरुष दोनो के लिए समान व्यवस्था देता। जब पुरुषों के लिए व्यभिचार भूषण है, तब स्त्रियाँ उसे कैसे दूषण मानेंगी? पुरुष चाहे वेश्यागामी हों या कुलाङ्गना-भोगी, पर वे चिर-पवित्र हैं। हम यदि उनके प्रखर अत्याचार से उद्‌भ्रान्त

होकर स्वप्न में भी पर-पुरुष की कामना करें, तो महा अपवित्र एवं परम वीभत्स हैं! वाह रे पुरुष-समाज!! स्वार्थ का तू कैसा विलास-मन्दिर है!

पाराशर का ऋषित्व अक्षुण्ण है, पर मत्स्यगन्धा का सतीत्व विलुप्त हो गया। अहिल्या का दण्ड है पाषाणी होना, पर इन्द्र फिर भी वेद-मन्त्रों से आराध्य अमरावती के एकछत्र अधीश्वर एवं देवताओं के सम्राट् हैं; भगवान् विष्णु भक्तों के उपास्य एवं संसार के नियन्ता हैं, पर महासती होकर भी तुलसी उनके कपट-जाल में फँसकर, असती संज्ञा को प्राप्त हो गईं। तब बहिन नहीं बनेगा—एक पवित्र रहकर मरे, दूसरा अपवित्र होकर आनन्द भोगे। इसके अन्तर की सौन्दर्य्यमयी लीला को देख सकना सबके लिए सम्भव नहीं है।

पर तब भी क्षमा करना बहिन! तुम्हारे शास्त्र (क्योंकि अब उन पर से मेरा अधिकार तो जाता ही रहा) कहते हैं कि यदि कोई पापी भी अन्तःकरण से आशीर्वाद या शाप देता है, तो वह भी निश्चय फलित होता है। यदि यह बात सत्य है और मेरा पापी हृदय भी कहता है कि यह सत्य है, तो मैं तुम्हें अन्तर से आशीर्वाद देती हूँ—मन, वचन, कर्म तीनों से, पूरी शक्ति से, सच्चे हृदय से, तुम्हे आशीर्वाद देती हूँ कि तुम धर्म के ही मार्ग पर आरूढ़ रहो। मेरे आशीर्वाद की तुम्हे आवश्यकता हो, सो बात नही है। पर मैं कहती हूँ—जोर से कहती हूँ कि यदि तुम्हारा ही अनुकरण करने वाले पुरुष भी होते; तुम्हारे एक निष्ठ

तप को देखकर यदि वे भी संयम का अभ्यास करते ; तुम्हारी पवित्र प्रवृत्ति को देखकर यदि वे भी पवित्र भावों को परिपोषण करने की सतत चेष्टा करते , तुम्हारा यह अखण्ड व्रत देखकर यदि वे भी नियमपूर्वक धर्म के बताए हुए कर्मों का अनुष्ठान करते, तो निश्चय ही इस पतित हिन्दू-समाज की दशा बहुत कुछ-सुधर जाती !

बहिन ! कौन जाने, मेरा क्या परिणाम हो ? और यह भी कौन जाने कि अन्त मे धर्म का आडम्बर—आडम्बर ही सिद्ध हो—सम्भव है, मैं अपना जीवन वासना की उल्लासमयी परितृप्ति की निरन्तर उपलब्धि करते-करते ही बिताऊँ। पर मन यही कहता है कि चाहे कुछ हो, इतना बड़ा काण्ड, इतना बड़ा विश्वासघात, इतना बड़ा नास्तिक प्रतिकार, इतना घोर अविश्वास बिना दण्डित हुए बच नही सकता। पर जो कुछ भी हो, मैने एक बार तो समाज के शिर पर लात मार ही दी है, एक बार तो शास्त्रों की मर्य्यादा को तोड़ ही दिया है, एक बार तो मै विक्षुब्ध नागिन की भाँति, शर-बिद्ध केसरिणी की भाँति, हाहाकारमयी अग्नि-ज्वाला की भाँति समाज के प्रति प्रधावित हुई ही हूँ। समाज के सब नियमो के तोड़ने के लिए प्राणों की बाजी लगाकर मैं रणाङ्गण में उतरी हूँ।

बहिन ! तुम मुझे भूल जाने की चेष्टा करना ; मनोरमा इस संसार से सदा के लिए चली गई, ऐसा समझ लेना ; और हो सके तो भगवती से प्रार्थना करना कि मैं शीघ्र इहलोक से

प्रस्थान कर जाऊँ। सम्भव है, मर कर ही इस ज्वाला से मैं मुक्त हो सकूँ। पर यदि नरक है, यदि आवागमन है, यदि पाप का परितापपूर्ण प्रायश्चित्त अनिवार्य्य है, यदि अपराध का दण्ड भोगना अवश्यम्भावी है, यदि व्यभिचार का परिणाम निश्चय रूप से भयङ्कर है, और यदि अधःपतन की अन्तिम गति अवश्य ही प्रलयाग्नि की ओर प्रधावित होती है, तब कदाचित् मरकर भी मेरा निस्तार नहीं है। तब मैं क्या करूँ बहिन ?

सहूँगी। अपने किए का फल भोगूँगी। जब किया है, तब डर काहे का ? "अङ्क लगी तो कलङ्क कहा है ?" पाप किया है तो परिताप तो भोगना ही पड़ेगा। तब मै क्यो चिन्ता करूँ बहिन ? चिन्ता तो मैंने पहले ही पाप की ज्वालामयी चिता मे भस्म कर दी। कौन सोचे ? सोचने से लाभ ही क्या है ? सोचने से भी ज्वाला बढ़ेगी ? जब कूद पड़ी, तब गहराई नाप कर क्या करूँगी ; जब चल पड़ी, तो मार्ग के काँटो को कहाँ तक बीनती रहूँगी ? धर्म को मैंने लात मार दी ; धर्म यदि मेरी टाँग पकड़कर मुझे नरक में फेंक दे, तो इसमे आश्चर्य्य की क्या बात है ? समाज पर मैंने पाद-प्रहार किया है, वह मुझे कलङ्क-कालिमा से पातकर यदि अपमान के कारागार में अवरुद्ध कर दे, तो उसमें डरने की क्या बात है ? "अवश्यमेव भोक्तव्यं यथाकर्म शुभाशुभम् ।"

बहिन ! यह पत्र श्री० श्रीमाता जी को भी दिखा देना। मैं

जानती हूँ कि वह इस आपात को न सह सकेंगी, वे मुझे तुमसे भी अधिक चाहती है। वे मेरे इस दुश्चरित्र की ऐसी निर्लज्ज-कहानी सुनकर कदाचित् मर्मान्तक पीड़ा का अनुभव करें; और सम्भव है, वे पति-लोक को भी प्रस्थान कर जायँ, पर उन्हे भी बताना ही होगा। वे इस कलङ्क-गाथा को न जानकर कदाचित् और भी व्याकुल हो उठे। तुम बहिन! सञ्जीनवी बूटी की भाँति, पूर्ण चन्द्रकला की भाँति, सरस हरि-चन्दन के शीतल प्रलेप की भाँति उनके इस आघात की व्यथा को शान्त करने की चेष्टा करना। तुम सरल, सुशील पुत्री होकर किस प्रकार इस दुश्चरित्र के रहस्य को पुण्यमयी मातृदेवी से छिपा सकती हो। न बहिन! सो नहीं होगा! तुम्हे मै कदापि माँ के प्रति विश्वासघात करने के लिए बाध्य नही करूँगी। तुम्हारे लिए भगवती की शपथ दिलाती हूँ, इस पत्र को उन्हे अवश्य दिखा देना। इतना बड़ा पाप पुण्यमयी जननी से मत छिपाना।

किसी न किसी दिन यह सब खुल ही जायगा, तब क्या मुँह लेकर तुम उनके सामने जाओगी। यदि वे जान गईं कि तुमने मेरी कलङ्क-गाथा को उनसे छिपाया है, तो कदाचित् उनका विश्वास तुम पर से भी हट जाय। तब वह बड़ा भयङ्कर काण्ड होगा। न, मैं तुम्हारी बलि न होने दूँगी। तुम्हे मेरी शपथ है, भगवती के श्रीचरणों की शपथ है, इस पत्र को उन्हे अवश्य दिखा देना। न दिखाने का परिणाम बड़ा भयङ्कर होगा।

अच्छा, माता जी से कहना—मेरी ओर से रो-रोकर कहना

कि मुझ पापिन को पुत्री बनाकर जो दुःख उन्हें सहना पड़ा है, उसके लिए वे मुझे क्षमा करें। वे उदार हैं, फिर भी माँ हैं। मुझे अवश्य क्षमा कर ही देंगी। और तुम—मेरी प्यारी छोटी बहिन शान्ता तुम—मुझे घृणित व्यभिचारिणी जानकर भी क्षमाकर देना !!

बिदा ! जन्म भर के लिए बिदा !!

तुम्हारी ही बहिन,

—पतित मनोरमा

कहना निरर्थक है कि इस पत्र को पढ़कर सरल, शान्तिमयी शान्ता बड़ी मर्माहत हुई ! वह हृदय की वेदना को न सह सकने के कारण अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी !!

पाप के लिए पुण्य का ऐसा अकृत्रिम स्नेह कैसा प्रोज्ज्वल है, कैसा पवित्र है, कैसा स्वर्गीय है !!

## वज्राघात

क उसी समय जब शान्ता मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिरी, शान्ता-जननी—कल्याणी ने उसकी कोठरी मे प्रवेश किया। प्राणोपमा पुत्री की ऐसी दुरवस्था देखकर वे भय, शोक, आशङ्का एवं विकलता से बड़ी उद्विग्न हो गईं। उन्होंने देखा—शान्ता बिलकुल अचेत है। पास में एक पत्र पड़ा हुआ है। पत्र पढ़कर रहस्य को जानने का वह अवसर नहीं था, उस समय तो सबसे प्रयोजनीय कार्य्य था शान्ता को सचेत करना। उन्होने पास ही में रक्खे हुए मिट्टी के पात्र से पानी ले लिया, शान्ता का शिर अपनी गोद में रखकर वे उसके मुख पर पानी के छींटे देने लगीं और अपने पुण्य अञ्चल से हवा करने लगीं। बड़ी चेष्टा के उपरान्त शान्ता ने आँखें खोलीं। उसने देखा

कि वह माता की गोद में पड़ी है। माता के सौम्य मुखमण्डल पर उसकी दृष्टि गई। उसने फिर अपनी आँखें मीच ली। पर इस बार मूर्च्छा का वेग नहीं था; विभिन्न विचारों की तीव्र ज्वाला का दाह था। शान्ता अपने मस्तिष्क की उस उलट-पुलट को स्थिर—शान्त करने के लिए आँखें मूँदकर चेष्टा करने लगी।

शान्ता का मस्तिष्क भयङ्कर विचारो की तीव्र अग्नि का कुण्ड हो रहा था। उसका हृदय ज्वालामयी भावनाओ का निकेतन हो रहा था। उस पर जो सहसा आघात हुआ था, उसके लिए वह प्रस्तुत नही थी। वह मनोरमा की प्रवृत्ति को जानती थी। उसकी प्रबल वासना की बात भी उससे छिपी नही थी। कुछ दिनो से मनोरमा के हृदय में जो नास्तिक भावो की लहर प्रवाहित होने लगी थी, उसका भी उसे आभास प्राप्त हो चुका था। पर इस पिछले सप्ताह मे मनोरमा की प्रकृति मे जो सुन्दर परिवर्तन उसने देखा था, उससे वह एक प्रकार निश्चिन्त सी हो गई थी। मनोरमा मिश्र जी की सेवा मे सेवामयी भार्य्या की भाँति तत्पर रहती। उसके मुख पर भी एक प्रकार की सन्तोषमयी सुन्दरता परिलक्षित होने लगी थी। शान्ता—सरल, निर्बोध बाल-विधवा शान्ता यह नहीं जानती थी कि यह सब उस गुप्त षड्यन्त्र को छिपाने का आडम्बर मात्र था। उसने स्वप्न मे भी इस बात की कल्पना नही की थी कि मनोरमा चुपके-चुपके, धीरे-धीरे पतन की ओर अग्रसर हो रही थी। शान्ता थी सरल, वह मनोरमा के इस कूट-कपट को न जान सकी। बेचारी सीधी शान्ता अपनी बहिन के इस भयङ्कर कुकर्म

की बात जानकर बड़ी दुखी हुई। इसी आघात से वह मूर्च्छित हो गई।

पर जननी के शीतल स्पर्श एवं उनकी तन्मयी सुश्रूषा ने उसकी मूर्च्छा को दूर कर दिया। धीरे-धीरे उसने अपने विचारों को स्थिर कर लिया और अपने हृदय को फिर संयम की रस्सी से बाँध दिया—अपने आघात की ज्वाला को उसने शान्त कर दिया। वह फिर एक बार स्थिर, शान्त, प्रदीप्त शिखा की भाँति प्रोज्वल हो उठी। महामाया के महा विधान के आगे उसने शिर झुका दिया; पर उसने मन ही मन जगदीश्वरी से प्रार्थना की कि वह उसकी पतित बड़ी बहिन की सब विपत्तियों से रक्षा करे।

धीरे-धीरे वह माँ की गोद से उठ बैठी; धीरे-धीरे उसने अपने आँखों के आँसुओं को पोंछ डाला। पत्र जहाँ का तहाँ पड़ा था। माता ने उसे देखा था अवश्य; पर उन्होंने उसे पढ़ना तो दूर रहा, छुआ तक भी नहीं था। शान्ता ने वह पत्र उठा लिया। एक बार उसने माता के पवित्र मुखमण्डल की ओर देखा, उनके लोचन मुँदे हुए थे। वे शान्ता के चैतन्य-लाभ हो जाने के उपरान्त एकान्त चित्त से भगवती के पुण्य पादारबिन्द में कृतज्ञता की अञ्जलि अर्पण कर रही थीं। थोड़ी देर के बाद उन्होंने आँखें खोल दीं। शान्ता इतनी देर में पूर्णरूप से स्थिर, शान्त हो चुकी थी। कल्याणी ने स्नेह-भरे शब्दों में पूछा—बेटी! तुझे क्या हो गया था? मैं तो, भगवती जाने, बहुत डर गई थी। ऐसा तो तुझे कभी नहीं होता था, मैंने तो आज तक कभी तेरी ऐसी दशा नहीं देखी शान्ता!

शान्ता ने बड़े दु ख-भरे स्वर मे कहा—माँ ! बड़ा अमङ्गल-सूचक समाचार है, कहते हुए डर लगता है। मुझे भय है कि कहीं मुझसे भी अधिक तुम्हारी दशा शोचनीय न हो जाय। मै वहिन होकर जब न सह सकी, तव तुम माँ होकर कैसे सह सकोगी। इसीलिए मुझे कहते हुए बड़ा भय मालूम हो रहा है माँ !

कल्याणी ने गम्भीर स्वर मे कहा—पर बेटी ! कहना तो पड़ेगा ही। मै तो दुःख ही मे पली हूँ; दुःख ही मेरे जीवन का चिर-सङ्गी है। तेरे पिता की शोचनीय मृत्यु मे इन आँखो से देख चुकी हूँ, तेरा अकाल व्यथामय वैधव्य भी इन्हीं आँखों के सामने घटित हुआ है। इनसे बढ़कर भी क्या बुरा समाचार होगा।

शान्ता ने आँखो में आँसू भरकर कहा—माँ ! कदाचित् यह उससे भी बढ़कर है। वे ऐसे दुःख थे जिनकी सीमा थी इहलोक; पर इससे तो परलोक की भी हानि है।

कल्याणी ने बड़े आकुल स्वर मे कहा—तब वास्तव में बड़ा भयङ्कर समाचार है ? पर तू तो पवित्रता की निधि है। इस प्रबल युवावस्था मे तेरा जैसा आत्म-दमन और प्रवृत्ति-पराजय मैंने देखा है, उससे मै यह कैसे विश्वास करूँ कि कोई ऐसा समाचार भी हो सकता है, जिससे मेरे और तेरे परलोक की हानि हो। यदि ऐसा हुआ तो मै समझूँगी कि धर्म का सूर्य्य अस्त हो गया—पाप का अन्धकार प्रबल हो गया। तेरे विषय में मेरा विश्वास इतना

दृढ़ है कि यदि एक बार स्वयं धर्म्मराज भी आकर तेरी परलोक-हानि के विषय मे कहे, तो मैं उन पर भी विश्वास नहीं करूँगी।

शान्ता—माँ ! तुम्हारे आशीर्वाद का ही यह फल है। तुम्हीं तो मेरी गुरु हो। पर यह समाचार मेरे सम्बन्ध का नहीं, यह समाचार मेरी धर्म्म-बहिन एवं तुम्हारी धर्मपुत्री मनोरमा से सम्बन्ध रखता है।

शान्ता-जननी बड़ी विकल होकर बोलीं—मनोरमा से ! अहा ! मेरी प्यारी बेटी मनोरमा ! बेटी, क्या समाचार है ? शीघ्र कह। कहीं उसने अपने अत्याचारी पति के अनाचार से दुखी होकर आत्म-हत्या तो नहीं कर ली बेटी ! हा ! यदि उसके सम्बन्ध का समाचार ऐसा ही भयङ्कर हुआ तो क्या मैं जीवित रह सकूँगी। हा जगज्जननी !

शान्ता—माँ, उस व्यथित बहिन ने जो कर्म किया है, वह आत्म-हत्या से कहीं भयङ्कर है। आत्म-हत्या का पाप उसके सामने ऐसा ही है जैसा सुमेरु के सामने रेणुका का एक सूक्ष्म परिमाणु ! अहा ! आज यदि वह आत्म-हत्या ही कर लेती, महेन्द्रा में डूबकर प्राण ही दे देती, तो यह समाचार उतना भयङ्कर न होता।

शान्ता के मन का वेग उमड़ पड़ा। वह फिर रोने लगी—फूट-फूटकर रोने लगी ! माँ ने उसके आँसू अपने अञ्चल से पोंछ दिए और सान्त्वना-भरे शब्दों में कहा—बेटी ! धीरज धरो ! बता तो सही, क्या समाचार है। बेटी ! महामाया की लिखित

ललाट-लिपि को कौन मेट सकता है ? संसार उसी के भृकुटि-विलास पर नृत्य करता है—सारे विधान उसकी कल्याणमयी इच्छा से समुद्भूत होते है । कहो बेटी ! जल्दी कहो । सुनने के लिए मै विकल हो रही हूँ ।

शान्ता ने कुछ न कहा, चुपचाप वह पत्र माता के हाथ में दे दिया । वे उत्कण्ठित चित्त से, विकल अस्थिर हृदय से, उद्विग्न-चञ्चल मन से उस पत्र को पढ़ने लगीं ।

* * *

वही हुआ जिसकी आशङ्का थी । शान्ता-जननी मनोरमा की धर्म-माता इस आघात को न सह सकीं । उन्होने आँखें मीच लीं । धीरे-धीरे अचेत होकर वे पृथ्वी पर लेट गईं । उनकी संज्ञा महा-माया के प्रशान्ति-प्रद चरण-कमलो में सान्त्वना और शान्ति प्राप्त करने के लिए चली गई ।

कैसा व्यापार है ? जो पुत्री उसी आघात के कारण अभी आध घण्टे पहले जिस माता की गोद में अचेत पड़ी थी, वही माता उसी आघात के कारण मूर्च्छित होकर उसी पुत्री के कोमल क्रोड़ मे पड़ी है । शान्ता ने भी वे ही उपचार किए, उसी प्रकार की चेष्टाएँ कीं, पर कल्याणी को चेत न हुआ । धीरे-धीरे दोपहर हो गया । चन्दा नामधारिणी, उसकी सखी, नित्य की भाँति आई, तब उन दोनों ने उन्हें उठाकर धीरे-धीरे मृदुल आसन पर लिटा दिया । शान्ता-जननी अचेत पड़ी रहीं । वैद्य आए, चले गए । जल-वायु—सबका आश्रय लिया, पर कुछ फल न हुआ । रोग की

औषधि मिल सकती है, पर अन्तर की अग्नि की औषधि धन्वन्तरि के पास भी नहीं है। शान्ता-जननी अचेत थीं, वक्षस्थल में उत्थान और पतन था, नासा-पुट मे स्पन्दन था—बस, जीवन के यही दो लक्षण थे—शेष सब मृत्यु के व्यापार थे!

शान्ता और चन्दा एकान्त-चित्त से उनकी सुश्रूषा मे लग गईं। धीरे-धीरे सायङ्काल के समय मन्दिर के घण्टे बजने लगे। महामाया की पूंजा का समय आ गया। चन्दा को माता के पास बैठाकर शान्ता पूजा-गृह में गई। जाकर उसने भगवती का पूजन किया और उनके चरणों में माता के कल्याण के लिए प्रार्थना की।

वह लौट आई, तब उसने चन्दा को उसके घर भेज दिया। चन्दा दो घण्टे के उपरान्त आने को कहकर चली गई।

माता और पुत्री मानो करुणामयी जगज्जननी की वात्सल्य-मन्दाकिनी की दो धाराएँ हैं, जो एक-दूसरे के दुःख में हाहाकार करती हैं और आनन्द में कलकलमयी रागिनी गाती हैं। दोनों ही प्रधावित होती हैं प्रणय के उस अनन्त चिर-शान्तिमय प्रशान्त महासागर की ओर, जहाँ वे फिर एक हो जाती हैं!!

## हत्या की चेष्टा

न्दा अर्थात् रामकली सीधी बलवन्त के प्रासाद की ओर चली। उसका यह नित्य-नियम था कि वह सायङ्काल को शान्ता के सम्बन्ध के सारे समाचार बलवन्त को सुना आती थी और कपटी-कुटिल कामुक उसे जो-जो नई, कपटपूर्ण योजनाएँ बताता था, वह उसीको कार्य्य-रूप मे परिणत करती थी। आज भी इसीलिए रामकली शान्ता-जननी कल्याणी की उस शोचनीय अवस्था का समाचार देने के लिए बलवन्त के प्रासाद की ओर जा रही है—बड़ी गुप्त रीति से, अपना मुख घूँघट मे छिपाए वह वृक्षों की आड़ में अपने को छिपाती हुई द्रुतगति से चली जा रही है।

रात्रि का अन्धकार गाढ़तर हो चला है, रजनी का घन-कृष्ण

अञ्चल प्रोज्ज्वल तारिका-राशि से खचित है। पथ में तथा घाट पर कोई नहीं है। उस अन्धकारमय निर्जन महेन्द्रा-तट पर होती हुई पतित रमणी अपनी वीभत्स-लीला के समाचार सुनाने को अपने पापी उप-पति के पास जा रही है। इस समय वह भयभीत होकर भी अपने भयङ्कर कर्म से विरत नही हो रही है। शैतान के पक्षपाती जिस अध्यवसाय, जिस साहस और जिस एकाग्रता का परिचय देते हैं; जिस प्रकार अपने प्राणो को सङ्कट में डाल कर अपने पापमय कृत्य की सफलता के लिए पूर्ण रूप से प्रयत्न करते हैं, वैसा यदि धर्म के अनुचर भी करते तो कदाचित् इस पृथ्वी-मण्डल के ऊपर इतना अनाचार, इतना व्यभिचार और इतना अन्याय दृष्टिगोचर न होता। अस्तु—

चन्दा ने जिस समय उस आम्र-कानन में प्रवेश किया, उस समय उसे ऐसा विदित हुआ मानो उसके पीछे-पीछे कोई आ रहा है। था वास्तव मे कोई नही, पर पाप का हृदय सदा आशङ्का और भीति से परिपूर्ण रहता है। वह खड़ी होकर देखने लगी, कोई नही था। चन्दा ने धीरे-धीरे बलवन्तसिंह के विलासमय कक्ष में प्रवेश किया। बलवन्तसिह उसकी प्रतीक्षा ही में बैठे थे, उसे देखते ही उनके मद से लाल मुख पर एक प्रकार की आभा, जो देखने मे भयङ्कर, वीभत्स एवं कुत्सित थी, सहसा दौड़ गई। उन्होने एकदम चन्दा को हाथ पकड़कर आलिङ्गन कर लिया। उसके दोनों कपोलो का वे बार-बार उन्मत्त भाव से चुम्बन करने लगे। उन्होंने साग्रह, सादर, सस्नेह उसे अपने वाम-पार्श्व मे बैठा लिया। उसका कोमल

कर-पल्लव अपने हाथ में लेकर उन्होंने उससे पूछा—रामकली! आज का क्या समाचार है?

राम०—समाचार अच्छा ही है। मै आज दोपहर को गई, तब मैंने देखा कि कल्याणी शान्ता की गोद में अचेत पड़ी है। हम दोनों उसकी सेवा में अब तक लगी हुई थीं। अभी मैं उसे उसी दशा में छोड़ आई हूँ; उसे चेत नहीं हुआ है। सम्भव है, उसकी यह मूर्च्छा महामूर्छा में बदल जाय। तब तो प्यारे तुम्हारी चाँदी ही चाँदी है।

बलवन्तसिंह ने उल्लसित स्वर मे कहा—ठीक वैसा ही हो रहा है, जैसी मैंने कल्पना की थी। न एक रत्ती इधर, न एक रत्ती उधर। जो सोचा था वही हो रहा है। पर रामकली तुम बता सकती हो, ऐसा क्यो हुआ?

राम०—मुझे पूछने का साहस ही नहीं हुआ। शान्ता ऐसी व्यथित थी और ऐसी आकुल थी कि मैं यद्यपि पूछना चाहती थी. पर पूछ नहीं सकी। उसकी आँखो के आँसुओ की निरन्तर वर्षा तथा उसके स्निग्ध मुख के करुण-व्यथित भाव ने मुझे साहस-हीन कर दिया। पर चाहे कुछ हो—कारण चाहे कुछ हो—कल्याणी की अवस्था है बड़ी शोचनीय। रोग साङ्घातिक सा प्रतीत होता है। वैद्यराज रघुराजप्रसाद आए थे। कहते थे कि कोई बड़ा आघात हुआ है; रोगी की दशा विशेष भयावह है—बचने की आशा नहीं है।

बल०—ठीक है, जान गया। स्पष्ट है। मनोरमा के उस

कलङ्कमय कुकर्म ही ने उसके हृदय पर ऐसा भयङ्कर आघात किया है। उसने जान लिया है कि मनोरमा दुराचारिणी होकर घर से निकल गई है, ललितपुर से अन्तर्हित हो गई है।

राम०—वह ही क्या, सारा गाँव जान गया है कि मनोरमा अब ललितपुर में नही है। पर कहाँ गई? क्यो गई? इस बात को निश्चित रूप से कोई नही जानता। कोई कहता है कि मनोरमा कलङ्किनी हो गई; कोई कहता है कि पति के निरन्तर अत्याचार से पीड़ित होकर उसने प्राण-त्याग कर दिया। कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। सत्य घटना किसी को भी विदित नहीं है। सब अपनी-अपनी कल्पना मे मस्त हैं।

बल०—और यही मेरा उद्देश्य है। मै नही चाहता कि कोई इस रहस्य को जाने।

राम०—क्यो? इसमे तुम्हारी क्या हानि है प्यारे?

बल०—हानि? मेरी बहुत बड़ी हानि है। एक तो यह रहस्य प्रकट होते ही यह भी प्रकट हो जायगा कि मैं इस षड्यन्त्र मे सहायक-रूप से सम्मिलित था, और इसका प्रकट होना मेरी उद्देश्य-सिद्धि का बाधक होगा। दूसरे मेरे नाम में भी कलङ्क लगेगा। तीसरी बात है ज़रा गूढ़, तुम कदाचित् उसे समझ न सको। जानती हो कि कल्याणी तथा शान्ता के हृदय पर एक गहरी चोट पहुँची है। उसका एक कारण यह भी है कि उन्हें इस रहस्य को गुप्त व्यथा की भाँति, बिच्छू के निहित दर्शन की भाँति अपने हृदय में निरन्तर छिपाकर रखना होगा। इसका

कारण स्पष्ट है—अर्थात् मनोरमा, शान्ता की धर्म-बहिन और कल्याणी की धर्म-पुत्री है। उसका यह कुकर्म जिससे प्रकाशित न हो, इसकी चेष्टा करना उन दोनों के लिए स्वाभाविक है। पर यदि यह रहस्य खुल गया, तो फिर उनकी वह विकलता बहुत बड़े अंश में कम हो जायगी। यह तुम जानती ही हो कि किसी भी कलङ्कमय, अग्निमय रहस्य को हृदय में छिपाकर रखना सहज नहीं है—एक बड़ी भारी अग्नि में तिल-तिल करके जलने के समान है।

राम०—सो मानती हूँ प्यारे। तुम्हारी यह बात सोलहो आने सत्य है। पर यह रहस्य उन दोनो पर प्रकट कैसे हुआ, यह बात मेरी समझ मे नहीं आई।

बल०—यह तो कोई जटिल बात नहीं है। बहुत सम्भव है, मनोरमा ने चलते समय किसी पत्र के द्वारा अपना अभिप्राय प्रकट कर दिया हो। मनोरमा और शान्ता मे जैसा दृढ़ प्रेम था, उससे यह बात असम्भव सी तो नहीं जान पड़ती।

राम०—पर यह पत्र उसने भेजा किसके हाथ होगा ? उसका तो यहाँ किसी से विशेष सौहार्द भी नहीं है। मुझे भय है कि कहीं कोई और तो हमारे इन गुप्त-व्यापारो को नहीं जानता है। यदि ऐसा ही हुआ तो बड़ी विपत्ति का सामना है।

बल०—सौ मे निन्यानवे बिस्वे तो है नही। यदि होगा भी तो हमें एक न एक दिन उसका पता लग जायगा, और यदि कोई हमारा प्रतिपत्ती बनकर खड़ा हुआ तो हम उसे समुचित दण्ड देने

मे सर्वथा समर्थ हैं। पर बहुत सम्भव है कि किसी बहाने से मनोरमा यह पत्र स्वयं ही दे आई हो। उसके लिए ऐसा करना दुष्कर नहीं है।

राम०—असम्भव तो कुछ नही है, पर तब भी हमें सावधान रहना चाहिए। हम कगार पर खड़े हैं; जरा इधर से उधर हुए नही कि प्राण गए।

बल०—तो भी क्या हानि है, यदि हम-तुम एक-दूसरे के गले लगकर मर भी सकें तो ऐसी मौत भी वाञ्छनीय है।

रामकली ने व्यङ्ग की हँसी हँसकर कहा—इसमें क्या सन्देह है? तभी तो आपने मुझे इस भयङ्कर काण्ड में प्रवृत्त किया है। मेरी निर्बलता का लाभ उठाकर आपने मुझे स्त्री जुटाने का सुन्दर काम सौंपा है। बलवन्त! वास्तव मे तुम मुझे बहुत प्यार करते हो, तुम्हारा प्यार पाकर मैं कृतकृत्य हो गई हूँ।

बलवन्त निष्प्रभ हो गए; पर वे थे चतुर। बोले—रामकली! तुम्हारी यह भावना ठीक नहीं। मैं शान्ता के स्निग्ध-नवीन यौवन पर मुग्ध हुआ हूँ, पर उस पर मेरी आसक्ति नही है। तुम हो मेरी नलिनी; भ्रमर चाहे कही रहे, चाहे गुलाब के काँटे से भिदे, चाहे लता से परिहास करे; पर रात्रि को—सूर्य्यास्त होते न होते वह अपनी कमलिनी के कक्ष में आकर सो जाता है।

राम०—जाने दो, इस तर्क में क्या है? अपने-अपने हृदय से अपने-अपने प्रेम की बात पूछ लो। अच्छा, अब क्या करना

है, सो बताओ। रात्रि अधिक हो रही है। मैं शान्ता से दो घण्टे के भीतर लौटने को कह आई थी।

बल०—लो यह शीशी। यदि रात्रि में कभी उसे पानी या औषधि देने की आवश्यकता पड़े, तो उसमें चुपके से दो बूँद पिला देना। सब समाप्त हो जायगा। पर तुम डरना नहीं; इस विष का कोई प्रभाव दिखाई नहीं पड़ेगा। अन्य तीव्र विषों की भाँति इसका प्रभाव शरीर पर परिलक्षित नहीं होता है। हृत्पिण्ड को निश्चेष्ट कर देना ही इसका काम है।

रामकली ने शीशी तो ले ली, पर वह काँप उठी। उसे लेकर वह जल्दी-जल्दी वहाँ से निकल कर चल दी।

मूर्ख रमणी लम्पट नायक के लिए हत्या जैसे गुरुतर पाप मे प्रवृत्त होने के लिए चली। हाय री काम-लालसा! तू कैसी निष्ठुर, निर्मम एवं उद्भ्रान्त है! पर तब भी कैसी आकर्षक, कैसी मदमयी है!!

* * *

रामकली ने निर्जन, नीरव, महेन्द्रा-तट पर आकर घुटने टेक दिए; ऊपर की ओर देखते हुए हाथ जोड़कर कहा—देवि! भगवति महामाये! मै महा पापिन हूँ। सैकड़ों घर मैंने नष्ट किए हैं, सैकड़ों युवतियों का मैंने सर्वनाश-साधन किया है; पर मैं आज दीन-हीन भिक्षुक की भाँति, यही माँगती हूँ कि मैं इस हत्या के पाप से बच जाऊँ। माँ! कुछ ऐसा कर दो, जिससे इस पाप-कर्म से मेरा हाथ कलुषित न हो। स्वयं मुझमें दूर

रहने की क्षमता नहीं है। पर तुम—तुम जगज्जननी—तुम मुझे किसी तरह, अपने किसी अज्ञेय विधान से, अपने विशाल हाथ से, इस पाप-कर्म से दूर हटा दो।

पापी की हो या पुण्यात्मा की, जो अनुनय, जो प्रार्थना सच्चे आकुल भाव में हृदय से निकलती है, उसके सफल होने मे सन्देह नही है। महामाया की महाकरुणा की महाव्यवस्था ऐसी ही महती है॥

## मृत्यु

न जाने कल्याणी चन्दा के ही जाने की प्रतीक्षा में अचेत पड़ी थीं। चन्दा के जाने के लगभग बीस मिनिट बाद ही उन्होंने आँखें खोल दी। थोड़ी देर वे ऊपर की ओर—विशाल, उन्मुक्त नक्षत्र-खचित आकाश की ओर—एकटक देखती रहीं। शान्ता शान्त थी, वह माँ के बोलने की प्रतीक्षा कर रही थी। थोड़ी देर तक वे मौन-भाव में आँखें खोले पड़ी रहीं—मानो वे किसी गम्भीर चिन्ता में निमग्न थीं। थोड़ी देर के उपरान्त वे बोलीं—बेटी! वास्तव में मुझे बड़ा भारी आघात लगा है। तेरे पिता के मरने पर मैं तेरे लिए जीवित रही; तुझे व्रत, नियम, संयम के द्वारा पवित्र मार्ग में पूर्ण रूप से प्रवृत्त करने के लिए मैं उनके साथ नहीं गई; मैंने हृदय पर पत्थर बाँधकर उस वज्रपात को सह लिया। पर आज जो सहसा प्रहार हुआ है, उससे मेरे मर्म

पर बड़ा साङ्घातिक आघात पहुँचा है। अब जीवित रहना सम्भव नहीं है बेटी! उधर तेरे पिता का भी आह्वान मैं सुन चुकी हूँ। बेटी! अब मै जाती हूँ, संसार से मेरा मन उचट गया है। जाकर उन्हीं पति के पुण्य पाद-पद्म का आश्रय लूँगी और उन्ही के चरणो की रज के शीतल प्रलेप से यह आघात अच्छा होगा।

माता के इन करुण-व्यथित शब्दो को सुनते-सुनते शान्ता की ऑखो से अविरल आँसुओ की धारा प्रवाहित होकर उसके कपोल-तल एवं कञ्चुकी-मण्डित पयोधर-युगल को आर्द्र करने लगी। उससे बोला नहीं गया; वह पाषाण-प्रतिमा की भाँति, वाणी-विहीन यन्त्र की भॉति चुप बैठी रही। कल्याणी फिर सान्त्वना के शब्दों में कहने लगी—बेटी! धैर्य्य धरो। यह तो एक दिन होता ही, सदा तो कोई अमर रहता नहीं। मैं भी तुझे अकेली छोड़कर नहीं जाना चाहती थी, पर विधाता के विधान से विवश हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि अभेद्य दुर्ग की भाँति, अछेद्य कवच की भाँति, अदम्य वीरत्व की भाँति, सतेज साहस की भाँति तेरा पातिव्रत्य अक्षुण्ण रहेगा; यही मेरे लिए परम सन्तोष की बात है। तुझ पर मेरा अखण्ड विश्वास है। मै जानती हूँ कि तू प्राणो की आहुति देकर भी अपने सतीत्व की रक्षा करेगी।

शान्ता ने शान्त होकर कहा—अवश्य करूँगी, माँ! पर यह संसार—मत्सरमय विश्व—बड़ा खोटा है। किसी प्रकार की विपत्ति आने पर किसी भयङ्कर सङ्कट के समुपस्थित होने पर

मुझे कौन हित की बात बताएगा ? कौन आलोक लेकर उस मेरे अन्धकारमय पथ को आलोकित करेगा ?

कल्याणी ने धार्मिक उल्लास मे कहा—स्वयं महासती महामाया ! जिनके सतीत्व की, जिनके अखण्ड व्रत की, जिनके पुण्य तप की साधना मे तू निष्काम भाव से लगी हुई है ; वे स्वयं हाथ पकड़कर तुझे सीधे मार्ग पर खड़ी कर देंगी, तेरा हृदय अखण्ड विश्वास की शीतल धारा से प्लावित कर देंगी। महामाया बड़ी करुणामयी हैं, वे निस्सहाय की सहाया हैं, अनाथ की माँ हैं !!

"पर माँ तब भी.....तब भी "कहते-कहते शान्ता रोने लगी। मुँह के वाक्य मुँह ही मे रह गए। वह फूट-फूटकर रोने लगी।

कल्याणी ने शान्ता का कर-पल्लव अपने हाथ मे लेकर कहा—बेटी, धीरज धर। मेरी इस पति-लोक की मङ्गलमयी यात्रा को व्यथित बनाने की चेष्टा मत कर। मेरी बेटी! मै जानती हूँ, तेरे हृदय का अभिप्राय स्पष्ट रूप से पढ़ रही हूँ ; तेरी व्याकुलता के मर्म को पहिचानती हूँ, तेरे मन की चञ्चलता का रहस्य मुझे अवगत है। बेटी ! उसका भी उपाय करती हूँ। जा बेटी ! मेरे उस बक्स में काले आबनूस का एक लम्बा सा डिब्बा है, उठा तो ला।

शान्ता उस डिब्बे को निकाल लाई। कल्याणी ने अपने गले से एक चाबी निकाली। सन्दूक़ को खोलकर उसमें से उन्होंने एक

सुवर्ण-खचित बड़ी तीक्ष्ण छुरी निकाली। उसे शान्ता के हाथ में देकर उन्होंने कहा—ले बेटी! महामाया की प्रोज्ज्वल प्रभा की भाँति यह देदीप्यमयी है; पाप रूपी अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने वाली है। हत्या बुरी वस्तु है; परिहेय है, पर जब धार्मिक बलिदान के लिए, सतीत्व की रक्षा के लिए हत्या की जाती है, तब अहिंसा उस हिंसा के चरणों मे लोटने लगती है। बेटी! इस मत्सरमय विश्व में नर-पशुओ की संख्या कम नहीं है। मै जानती हूँ—मेरा विश्वास अटल है कि तुझे त्रैलोक्य का प्रलोभन भी नहीं डिगा सकता; पर अत्याचार अपने नियन्त्रण का तुझ पर प्रयोग अवश्य कर सकता है। मेरी अटल धारणा है कि त्रिभुवनपति भी तुझे कुमार्ग मे प्रवृत्त नहीं कर सकते; पर प्रबल शैतान का आक्रमण तुझे सहसा आक्रान्त अवश्य कर सकता है। उस समय इस छुरी का निर्भय, अटल होकर प्रयोग करना। इसे नित्य अपनी प्यारी सहचरी बनाकर रखना। सोते में, जागते में, सब समय, सब जगह इसे परम कल्याणमयी रक्षिका समझकर अपने वक्षस्थल पर धारण किए रहना। इस वैधव्य वेश का वह आभूषण है। महा संहारकारिणी महामाया दुर्गा की मूर्तिमती, रण-रङ्गमयी प्रभा है। बेटी! समय पर यह तेरी जननी की भाँति, जगदीश्वरी की भाँति, महाशक्ति की भाँति रक्षा करेगी।

शान्ता के हृदय का बोझ हलका हो गया; उसके चञ्चल, आकुल मन को अवलम्ब पाकर परितोष हो गया। जिस प्रकार भरत जी का शोक भगवान् की पादुका को पाकर शान्त हो गया

था; जिस प्रकार जगज्जननी सीता का दुःख पतिदेव की अँगूठी पाकर प्रशमित हो गया था, उसी प्रकार शान्ता की आकुलता माता की दी हुई उस प्रभामयी छुरिका को पाकर तिरोहित हो गई। शान्ता ने आन्तरिक उल्लास के साथ कहा—माँ! यह मेरे प्राणों के साथ रहेगी। इसे मैं कभी नहीं परित्याग करूँगी। मैं जैसे तुम्हे अपना कवच मानकर श्रद्धा करती थी, इसकी भी मैं उसी भाँति अपने सतीत्व की अदम्य रक्षिका मानकर नित्य पूजा करूँगी।

शान्ता ने माँ की पद-धूलि लेकर अपने मस्तक पर लगाई। कौन जाने किसने किसको पवित्र किया। उस महासती के ललाट पर स्थित होकर वह रज त्रैलोक्य की विभूति का उपहास करने लगी और वह ललाट उस पुण्यमयी धूलि से धूसरित होकर सर्वस्व-त्यागी वैराग्य को भी तुच्छ मानने लगा।

कल्याणी ने अपना पवित्र कर-पल्लव शान्ता के पुण्यश्लोक शिर पर रखकर कहा—बेटी! अब समय नही है, गोबर से पृथ्वी को पवित्र करो, मेरे मुख मे गङ्गा-जल दो। मेरे पतिदेव की पादुकाओं को पूजा-गृह से लाकर मेरे वक्षस्थल पर स्थापित कर दो; और मुझे शान्तचित्त से, प्रसन्नमन से उस आलोकमय लोक में, पतिदेव के पवित्र पाद-प्रान्त में जाने की आज्ञा दो। बेटी! मैं अपने अन्तिम समय में तुझे आशीर्वाद देती हूँ कि असंख्य-असंख्य विपत्तियों की भयङ्कर अग्नि-ज्वाला के मध्य मे भी तेरा सतीत्व कुन्दन की भाँति देदीप्यमान रहे।

शान्ता ने अपूर्व संयम के साथ माता की आज्ञा का पालन किया। कल्याणी स्वयं उठकर उस गोमय से पवित्र की हुई पृथ्वी पर, पावन कुशासन पर लेट गईं। देखते-देखते उनकी पवित्र तेजोमयी आत्मा अनन्त आभा में विलीन हो गई। सती महाप्रस्थान कर गईं !!

शान्ता का संयम अब टूट गया! वह चीत्कार कर उठी !! ठीक उसी समय रामकली—चन्दा—ने घर मे प्रवेश किया। चन्दा ने देखा कि महामाया ने उसकी आकुल विनय को स्वीकार कर लिया है। इतनी बड़ी हत्या से उसे बचा लिया है। कल्याणी ने विष की ज्वाला में प्राण नहीं दिये; महासती ने स्वयं अपने आलोकमय लोक में उन्हे पुण्य-रथ पर आरूढ़ कराकर बुला लिया। चन्दा ने विष की शीशी चुपके से बाहर फेंक दी और शान्ता के साथ वह भी हाहाकार कर उठी।

शान्ता-जननी को कौन नही प्यार करता था? गाँव का गाँव रात्रि के उस प्रथम प्रहर मे, शान्ता के प्राङ्गण मे आकर रोने लगा।

पुण्य प्रस्थान कर गया, प्रवृत्ति प्रलाप करने लगी !!

## रति-लीला

हानगरी कलकत्ता की भौगोलिक स्थिति, उसका प्राचीन तथा अर्वाचीन इतिहास, उसकी जन-संख्या इत्यादि के वर्णन करने का न तो हमारे पास अवसर ही है, और हमारी कथा के लिए अनावश्यक होने के कारण उस ओर हमारी आन्तरिक प्रवृत्ति भी नहीं है। पर रामू और मनोरमा के कारण हमें यहाँ आना पड़ा है, और उनके रङ्ग-विलासमय जीवन की एक झलक देखने के ही लिए हमने इतनी बड़ी यात्रा का कष्ट उठाया है।

रामू और मनोरमा निर्विघ्न रूप से यहाँ पहुँच गए। न किसी ने उनका पीछा किया; और न किसी ने उनका पता लगाने की ही चेष्टा की। करता भी कौन? पितृकुल में कोई था ही नहीं; और रह गए मिश्रजी, सो थे विचारे वृद्ध-शिथिल और उस पर पड़ा

उन पर यह वज्र-प्रहार ! इस भयङ्कर आघात ने तो उन्हे एक प्रकार से निःशेषप्राय ही कर दिया। इधर रामू भी स्वतन्त्र, मनोरमा भी स्वाधीन; दोनो अपने-अपने हृदय के मालिक, न किसी का दबाव, न कोई प्रतिरोधक । वे स्वच्छन्दतापूर्वक कॉर्नवालिस स्ट्रीट मे एक सुन्दर सा मकान भाड़े पर लेकर रहने लगे। रामू ने अपने विद्या-बल से यथेष्ट धन उपार्जन कर लिया था। यथेष्ट से हमारा लक्ष्य लत्त-दो लत्त का नही है, हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि वे स्वच्छन्दतापूर्वक अपना विलासमय जीवन बिना वेतन, बिना नूतन आय के चार-छः महीने चला सकते थे। ऐसा नहीं था कि वे और मनोरमा आते ही गृहस्थी के भार से दब जाते और विलास इत्यादि के लिए उनके पास कुछ रह ही नही जाता। वे थे पटना विश्वविद्यालय के प्रोफेसर, उनका वेतन था ३५०); उन्हे धन की चिन्ता ही क्या थी। वे मनोरमा जैसी मनोरमा को पाकर रति और रङ्ग की कलकलमयी नदी में अपनी काम-वासना को शीतल एवं शान्त करने लगे।

पिछले किसी परिच्छेद में हम इस बात का आभास दे चुके है कि रामू को मदिरा से घृणा नहीं थी। इसमें कोई आश्चर्य्य की बात नही। वे ब्राह्मण-कुमार कहकर प्रसिद्ध थे अवश्य, पर आजकल मदिरा के सेवन से ब्राह्मणत्व का विनाश हो जाता हो, सो बात नही है। अनेक प्रतिभाशाली ब्राह्मण-युवक पाश्चात्य शिक्षा की विलासमयी लीला से उद्भ्रान्त होकर प्रायः मदिरा-सेवी हो जाते हैं। अकेले—बिना अभिभावक के—यौवन के उद्दाम

युग मे, प्रलोभनमयी परिस्थिति मे, विलासमयी महानगरी में, रङ्गमयी गोष्ठी में, जब वे अपनी कॉलेज-शिक्षा की कामना से विचरते है, तब उनका इस प्रकार का आचार ग्रहण कर लेना अस्वाभाविक नहीं है। गुरु उन्हे केवल पुस्तकीय शिक्षा देने भर के लिए उत्तरदायी हैं। उनके आचार-विचार मे बाधा डालना वे वैयक्तिक स्वतन्त्रता की निर्मम हत्या कहकर परिगणित करते हैं। तब यदि शिष्यगण पाप के प्रकट सुन्दर मार्ग पर उद्भ्रान्त होकर विचरने लगे, तो इसमें आश्चर्य्य की क्या बात है? रामू भी सुरा-देवी की उपासना करने लगे थे। सङ्गीत से भी उन्हे अनुराग था। अब तो उसमे योग दे दिया सुन्दरी के सौन्दर्य्य ने। सुरा ऐसी बुरी बला है कि यदि कहीं एक बार धोखे से भी उसका चुम्बन किया कि मनुष्य उसके वश मे हुआ। इसके चुम्बन मे एक प्रकार का प्रच्छन्न वशीकरण है। एक बार इसके जाल मे फँसकर फिर इसका बहिष्कार करना एकान्त रूप से कठिन हो जाता है। सौभाग्यवशात् यदि कोई ऐसी ही सुन्दर घटना घटित हो जाय, किसी महापुरुष का महावाक्य इसके इन्द्रजाल को पूर्ण रूप से छिन्न-भिन्न कर दे, तब चाहे इससे कोई छूट जाय तो छूट जाय; नहीं तो इसका तिरस्कार करना ऐसा ही कठिन है, जैसा परम सुन्दरी स्वर्ग-वाराङ्गना के रति-प्रस्ताव को अस्वीकार कर देना। बड़े चरित्र-बल की, बड़े दृढ़ सङ्कल्प की, बड़े पूर्ण संयम की आवश्यकता है। मनुष्य की कौन कहे, स्वर्ग-निवासी देवतागण तो इसके सम्मोहन-मन्त्र से वचे ही नहीं; और फिर भला वे इससे कैसे

बच सकते हैं, जिन्होंने उद्दाम यौवन के प्रारम्भ मे, बिना धर्म-शिक्षा के, रस-रङ्गमयी विलास-शोभिता कविता के कलित कुञ्ज-भवन में स्वच्छन्दतापूर्वक विहार किया हो; जिनकी प्रवृत्ति ने बिना बाधा के, बिना प्रतिरोध के चरित्रहीन गोष्ठी की शृङ्गारमयी परिहास-धारा में निर्विघ्न होकर स्नान किया हो, जो धर्म को आचार से भिन्न मानते हैं; जो चरित्र को जीवन का अङ्ग मानने को उद्यत नहीं; जो पाश्चात्य शिक्षा की विलास-लीला से उद्भ्रान्त होकर पूर्व के प्रत्येक विधि-निषेध को अन्ध-मूर्खता एवं बर्बरता के नाम से पुकारते हैं; पूर्व का निषेध जिनका कर्त्तव्य और पूर्व का विधान जिनके लिए परिहेय है, वे उद्भ्रान्त, चरित्रहीन युवक मदिरा का पूर्ण रूप से तिरस्कार करने में समर्थ हो सकेंगे, ऐसी आशा करना एक बार ही असङ्गत है; निराशा की मरुभूमि में आशा की हिम-शीतल कल्लोलिनी को ढूँढ़ने का सा असार प्रयास है। किसी बड़ी आत्मा के महामङ्गलमय आह्वान को सुनकर वे सुधर जायँ— यह बात दूसरी है।

तिमञ्ज़ले की खुली हुई पक्की छत पर एक शीतलपाटी बिछी है, और उसी पर युगल प्रेमी—रामू और मनोरमा—बैठे हैं। मनोरमा अब उस साधारण दरिद्र-वेश में नहीं है, अब तो उसकी वेश-भूषा से विलासमय शृङ्गार का निर्झर सा निकल रहा है। मनोरमा उर्वशी के समान सुन्दरी थी, प्रफुल्ल गुलाब का सा सुन्दर गौर-अरुण वर्ण था, और उसका सारा शरीर परम आरोग्यता की कान्ति से समुद्भासित था। और उस पर आज शोभायमान था

सुचारु मनोमोहक शृङ्गार, लम्बे-लम्बे कलित कुन्तल केशों में जवाकुसुम की सुगन्धि भरी हुई थी, और उस पर शोभित हो रहा था रजनी के चन्द्र-भूषण की भाँति शीश-भूषण; गले मे मोतियों की माला के ऊपर दोलायमान था बेले का हार; ताम्बूल-राग से रँगा था सहज गुलाबी अधर; गुलाबी रेशमी साड़ी से आच्छादित था कुसुम-कोमल कान्त-कलेवर और सुन्दर मूल्यवान् नील कञ्चुकी से मण्डित थे उसके पीन पयोधर। आज जैसा मनोरमा का मनोरम वेष हमने कभी नहीं देखा—आज मनोरमा वास्तव में इन्द्र-प्रिया उर्वशी से भी अधिक सुन्दरी प्रतीत हो रही थी।

ऊपर चन्द्रमा हँस रहा था, नीचे मुस्करा रही थी अनिन्द्य सुषमामयी सुन्दरी मनोरमा। रत्नाकर की ओर से बह रहा था शीतल समीर और मनोरमा के मुख-कमल से निकल रही थी परिमलमयी निश्वास। रामू और मनोरमा दोनों एकटक से, एक भावना से, एक हृदय से एक-दूसरे को देख रहे थे। एक की वासना यदि दूसरे की सौन्दर्य्य-सुधा पी रही थी, तो दूसरे की प्रवृत्ति पहले की शोभा को परिचुम्बन कर रही थी। भर्तृहरि जी ने ठीक ही लिखा है—"तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय।"

रामू ने मनोरमा की ओर अनुराग से देखते-देखते कहा—प्राणेश्वरि! देखती हो, चन्द्रमा कैसा हँस रहा है; कैसा शीतल समीर झूम रहा है; कैसा आनन्द है; कैसा विमल-धवल सुख है; कैसा प्रणय का उल्लास है!!

मनोरमा ने मुस्कराकर कहा—और इस आनन्द के प्रोज्ज्वल सिंहासन पर मेरे उल्लासमय लोचनों के सामने बैठे हो तुम—तुम मेरे हृदय के एक मात्र स्वामी—मेरे यौवन-वन के वन-बिहारी !!

रामू ने कुछ व्यङ्ग और हँसी के साथ कहा—पर मेरी प्यारी ! इतने पर भी—चाँदनी, समीर, सुमन और तुम्हारे एकान्त अनुरागी जन का अनुनय होते हुए भी तुम अस्वीकार कर रही हो इस रस की सार सुरा को !!

स्फटिक-स्वच्छ शीशे के गिलास मे फ़ेनमयी सुरा रक्खी हुई थी। रामू ने उसे उठाकर हिला दिया। स्वयं चन्द्रमा की स्वच्छ चाँदनी में अरुणमयी सुरा झलमला उठी। स्वयं गिलास उन्मत्त हो उठा।

मनोरमा ने बड़े प्रेम के शब्दों में कहा—पर प्यारे! क्या रक्खा है इस मदिरा में; मैं तो तुम्हारे प्रेम की मदिरा पीकर ऐसी छक गई हूँ कि मुझे अब और मद की आवश्यकता नहीं।

रामू ने मनोरमा का कर-कमल हाथ में ले लिया। लालसा-ललित शब्दों में उसने कहा—प्यारी! नशे पर नशा जब जम जाता है, तब विशेष आनन्द का प्रवाह बहने लगता है। प्रेम की सुरा पर जब प्रबल मद का सेवन किया जाता है, तभी परितृप्ति होती है। और सुरा—सुरा ही विलास एवं आनन्द की प्राण-लहरी है। न, आज न चलेगी ! केवल एक घूँट। यह नहीं हो सकता कि नील नभोमण्डल में रोहिणी के हाथों से नक्षत्रों के स्वच्छ

गिलासो मे ढाली हुई वारुणी पीकर चन्द्रमा हँसे; पुष्पो के पात्र में रक्खे हुए प्रकृति के मकरन्द मद को पीकर समीर झूमती फिरे; प्रवृत्ति के सोम-रस को पीकर आनन्द मतवाला होकर डोलता फिरे; मैं तुम्हारा प्रेमी—तुम्हारा दास—रति की उल्लासमयी तरङ्ग-माला में आनन्द से तैरता फिरूँ और तुम—तुम मेरी प्यारी, मेरी जीवनेश्वरी—मद-रहित आँखों से इस विलास के महासमारोह को देखो। प्यारी ! उर्वशी के हाथ से सुरा का पीना इन्द्र का देवत्व है, पिशाचत्व नहीं। लक्ष्मी और सुरा—दोनो सहोदरा हैं, तब मदिरा का तिरस्कार पाप है— धर्म-विरुद्ध है।

मन्द मुस्कान के साथ, उल्लासमयी आँखो में लिखी हुई विनय-पदावली को उपहार-स्वरूप अर्पण करके, रामू ने वह गिलास मनोरमा के मधुर अधर पर लगा दिया। विलासमय जीवन, वासनामय प्रावृत्तिक व्यापार और उस पर लालसामय हृदय के आगे प्राण-प्रिय उपपति का स्नेहमय आग्रह। मनोरमा इस आदर का अनादर न कर सकी। वह दो घूँट सुरा पी गई। उसके सहज मदमय लोचन-द्वय और भी अरुण-वर्ण हो गए। उसके गुलाब-वर्ण कोमल कपोल उद्भासित हो गए; हृदय में रस की तरङ्ग-माला किलोल करने लगी। दृष्टि में विलास नृत्य करने लगा। मनोरमा ने अनुभव किया कि सुरा संसार में बड़ा विलक्षण विलास-साधन है। उसके बिना आनन्द का सहस्रांश भी सम्भव नहीं। लालसा के वेग मे मनोरमा ने कहा—हृदयेश्वर कैसा आनन्द है ! विश्व आनन्द के रङ्ग में सराबोर है। वह रहा है

प्रेम का स्रोत। आओ प्यारे, इसमें स्नान करें—केलि-लीला करें। यदि आवश्यकता हो तो जन्म भर के लिए डूब जायँ। यह वही अवस्था है, जिसमे मौत और जीवन दोनों वाञ्छनीय है। तुम आओ, आओ मेरे प्राणों के प्रभु, तुम्हें गले से लगा लूँ—तुम्हीं—तुम्हीं—मेरे हृदय के रत्न हो।

मनोरमा ने अपने दोनों हाथ रामू के गले मे डाल दिए। रामू ने उसे हृदय से लगा लिया और आनन्दमय विलास की तीव्र तरङ्ग में उन दोनों के मधुर अधर आपस में मिल गए।

मनोरमा अब तक कगार पर खड़ी थी, अब वह धीरे-धीरे पतन की कन्दरा की ओर खिसकने लगी। महापतन का महा-विवर खुल गया।

सुरा और सुन्दरी दोनो विलास-प्रिया हैं। इसीलिए दोनों मे विद्वेष है। मनुष्य सुरा के संसर्ग से चाहे पतन से बच भी जाय, पर सुन्दरी को एक बार अपने वश मे करके सुरा उसका विनाश-साधन किए बिना सन्तुष्ट नहीं होती—सुन्दरी उसकी सौत है। "नारि न मोहि नारि के रूपा"—आर्ष कवि तुलसीदास का जी यह वाक्य यदि सत्य है, तो "नारि नारि की परम रिपु"—यह वाक्य महासत्य है। इस विषय में व्यर्थ तर्क न करके नित्य घटित होने वाली नवीन-नवीन घटनाओ को देखने से ही इसकी सत्यता प्रमाणित हो जायगी।

विलास यदि हुताशन है तो सुरा आहुति है॥

## कुटिल अभिसन्धि

च पूछिए तो यह पुण्यमयी कल्याणी के परम पवित्र सत्सङ्ग का ही शुभ परिणाम था कि बाल-विधवा शान्ता अपने हृदय की दारुण ज्वाला को तप, नियम, संयम, दमन, निग्रह एवं धार्मिक चर्चा से प्रशमित कर सकने में समर्थ हुई थी। कौन कह सकता है कि कल्याणी के सञ्चालन के बिना शान्ता का व्यथित जीवन किस ओर को प्रवाहित होता, तथा अन्त में उसका क्या परिणाम होता ? इसीलिए धर्म के आचार्यों ने सत्संग की महिमा गाई है। आर्ष कवि महात्मा तुलसीदास जी का तो मत है कि यदि कोटि-कोटि स्वर्ग एवं अपवर्ग का सुख तराज़ू के एक पलड़े में और सत्सङ्ग के विमल आनन्द को दूसरे पलड़े में रक्खा जाय, तो सत्सङ्ग का परम आनन्द

ही भारी प्रमाणित होगा। बात बिलकुल ही ठीक है। सत्सङ्ग ही जीवन को पवित्र बनाकर धर्म के आलोकमय मार्ग मे प्रवृत्त करता है। पर जहाँ दुराचार, अश्लीलता एवं निर्लज्ज विलास की गन्दी नदियाँ बहती हों; जहाँ माता-पिता, भाई-बहिन आदर्श शिक्षक के आसन पर आसीन होकर भी आदर्श आचरण से बहुत दूर रहते हों, जहाँ बात-बात में हँसी-दिल्लगी होती हो; जहाँ गोष्ठी-गोष्ठी मे रङ्गमयी कथाएँ कथित होती हो; जहाँ प्रकोष्ठ-प्रकोष्ठ में विलास की सङ्गीत-रागिनी गाई जाती हो, वहाँ यदि बाल-विधवा से यह आशा की जाय कि वह मनसा, वाचा, कर्मणा, सब प्रकार से शुद्ध, पवित्र एवं ब्रह्मचर्य्य-धारिणी रहेगी, तो यह शुष्क-तप्त मरुभूमि पर हिम सी शीतलधारा को प्रवाहित होते हुए देखने का व्यर्थ प्रयास होगा, और हमारी तुच्छ सम्मति में तो इस प्रकार की आशा केवल स्वार्थमयी नीच प्रवृत्ति से ही समुद्भूत हो सकती है। तुम—समाज के नियमक—पहिली स्त्री के एकादशी के दिन ही अपने भावी श्वसुर से सहास्य वदन होकर उसकी कोमल सुन्दर कन्या के लिए नवीन आभूषण बनाने की प्रतिज्ञा करने में क्षणभर भी कुण्ठित न हो; धर्ममयी पत्नी की जीवित अवस्था ही में तुम सुरा और सुन्दरी को धर्म-विहित उपभोग्य पदार्थ मानकर उन्हें भोगने मे तिल भर भी सङ्कोच न करो; बहिन के दारुण वैधव्य-वेश को देखते-देखते तुम अपनी युवती साली से रसमयी परिहास-लीला करने मे अणुमात्र भी लज्जा बोध न करो; लड़की को चिर-सौभाग्यहीना देखकर तुम

षोड़शी विमाता लाकर उस पर अत्याचार करने में आत्म-पतन का अल्पांश भी स्वीकार करने मे हठ करो; और तुम—निष्ठुर, निर्मम, अत्याचारी—उस निरीह बाल-विधवा को, बुरी, गन्दी परिस्थिति मे निरन्तर विचरण करने वाली सौभाग्यहीना युवती को, विलासमय परिवार एवं दुराचार-दूषित गृह मे नित्य निवास करने वाली अभागी पतिविहीना रमणी को ब्रह्मचर्य्य का शुष्क उपदेश देकर उसे कुमार्ग में जाने से बचाना चाहो—तो यह सच कहना, तुम्हारी निर्लज्ज मूर्खता है या नही, तुम्हारी ऊँचे दर्जे की अत्याचार-लीला का वीभत्स चित्र है या नहीं ?

कल्याणी के पतिलोक को चले जाने से शान्ता का जीवन बड़ा अवसादमय हो गया था। माता के वात्सल्य से उसका व्यथित हृदय सदा शीतल रहता था; उस तपोवन के समान घर में उसकी माता धर्ममय उल्लास की प्रभा सी जगमगाती रहती थी। अब शान्ता अकेली रहती है। सारा दिन तो पूजा-पाठ, पठन-पाठन में व्यतीत हो जाता है; पर जब तारो-भरी रात में अकेली वह अपनी शीतल पाटी पर उस उन्मुक्त आकाश के नीचे लेटती है, तब हृदय का वह दुःख उमड़ पड़ता है। आज डेढ़ महीना हो गया, शान्ता नित्य रात को घण्टा दो घण्टा रोए बिना स्थिर ही नहीं रह सकती है। रोते-रोते वह सो जाती है। रोना उसका नित्य नियम सा हो गया है। बिना रोए उसे कल नहीं। अश्रु-धारा मानो उसकी प्रोत्थित ज्वाला को प्रशमित कर देती है। हाय ! वैसी माँ क्या सबको मिलती हैं ? कैसी सीधी, कैसी सरल, कैसी कोमल

पर धर्म में कैसी दृढ़ थीं। हाय! वे शान्ता को छोड़कर अनन्त तुरीयधाम को चली गईं। शान्ता—चिर-सौभाग्यहीना शान्ता—पूर्णरूप से अनाथ हो गई।

माता के प्रेम-पर्वत की प्राचीर से परिवेष्ठित होकर शान्ता का सतीत्व अभेद्य दुर्ग की भाँति सुरक्षित था। हाय! आज वह प्राचीर भग्न हो गई। माँ के जिस स्नेह-तपोवन मे बैठकर शान्ता ने अपनी साधना मे पूर्ण सिद्धि प्राप्त की थी—हाय! आज वह वन-मृत्यु-वह्नि मे भस्म हो गया। माँ से मन्त्र लेकर शान्ता ने मन की माला पर उनके सामने, उनकी बताई हुई प्रणाली से जप किया था। हाय! आज वही गुरुतुल्या जननी उन्हे छोड़-कर चली गईं। माँ का मूर्तिमान आशीर्वाद वह नित्य मस्तक पर धारण करती थी। माँ की सरल दृष्टि, मन्दाकिनी की धारा के समान, मूर्तिमती करुणा-कल्लोलिनी की भाँति, रात-दिन उसके तापित प्राणों को, उसके प्रज्ज्वलित हृदय को, उसके उत्तप्त मस्तिष्क को प्लावित किया करती थी। हाय! अब वह कहाँ है? इतने बड़े विशाल विश्व में, इतने बड़े पाप और प्रलोभन के साम्राज्य मे, वह अनाथिनी बालिका, सत्रह वर्ष की वह कोमल, सरल निर्बोध सती युवती अकेली, निस्सहाय अवस्था में चारों ओर घोर अन्धकार देखकर बड़ी आकुल हो गई। उसके दो ही अवलम्ब थे—एक तो महामाया की महाकरुणा और दूसरी माता की दी हुई वह तीक्ष्ण छुरिका!!

रात का प्रथम प्रहर बीतना ही चाहता था; चौथ का चन्द्रमा

अस्त होने को जा रहा था; सारा गाँव शान्त हो गया था। कहीं दूर से किसी युवती की कलकण्ठ-ध्वनि कभी-कभी हवा पर चढ़-कर आ जाती थी, और शेष सब नीरव था। शान्ता आज अकेली नहीं थी, उसके पास बैठी थी चन्दा नाम-धारिणी कपटिन रामकली। वे दोनो आपस में कथोपकथन कर रही थीं।

शान्ता ने शान्त भाव मे कहा—सो जानती हूँ बहिन ! रोने से, दुःख करने से, माँ नहीं मिलेंगी। माँ तो गईं, सदा के लिए चली गईं। पर क्या करूँ बहिन, मन बड़ा चञ्चल है—हठी बालक की भाँति मनाए ही नहीं मानता। जब वह विकल हो जाता है, तब क्या मेरी सुनता है ? मै उसे बीसों प्रकार से शान्त करने की चेष्टा करती हूँ ; पर क्या वह कुछ ध्यान देता है ? माँ पिता की सेवा करने गई हैं। माँ संसार के दुखो से मुक्त होकर, उस उज्ज्वल पतिधाम को चली गई है। यह सब-कुछ जानती हूँ, पर स्वार्थ से भरा हुआ मन कब मानता है बहिन ! वह तो मचल-मचल कर, फूट-फूटकर रोने लगता है।

रामकली ने कपटपूर्ण सान्त्वना के स्वर मे कहा—ना बहिन ! यह स्वार्थ से भरा हुआ मन नहीं है, यह प्रेम से प्लावित हृदय है। प्रेम से शून्य मन किस काम का ? जैसे विरस होकर गुलाब शोभा नही पाता, जैसे सलिल से सिक्त न होकर मरुभूमि धाँय-धाँय करती है, वैसे ही प्रेम से रहित चित्त की दशा है। पर बहिन, यदि दैवात् माँ सूक्ष्म शरीर मे स्थित होकर, इस समय इस अन्धकार में खड़ी होकर, तुम्हारे इस उदास मलिन मुख को, तुम्हारी

इन विषादमयी अश्रु-प्रवाहिनी आँखों को देखें, तो क्या उन्हे दु:ख न होगा। बहिन ! पतिलोक को प्राप्त होकर भी उन्हें दु:ख की एक चिनगारी जलाती रहेगी। इसीलिए मै अनुरोध करती हूँ बहिन कि तुम अपनी इस उदासी को, अपनी इस व्यथा को शान्त रखने की चेष्टा करो। यही तुम्हारे योग्य है, बहिन !

शान्ता उत्तेजित होकर बोली—देखती होगी—देखती होंगी। हाँ ! अवश्य देखती होंगी। वह मेरी प्यारी माँ, मेरी अन्नपूर्णा अवश्य ही अपनी इस अधम पुत्री को विस्मृत न कर सकी होंगी। कदाचित् वह खड़ी हों, कदाचित् मुझे देख रही हो। माँ ! माँ !! यदि तुम यहाँ हो तो मै तुम्हारे चरणों में प्रणाम करती हूँ। माँ ! तुम दिव्यलोक मे हो—उस दिव्य आलोक की एकाध प्रोज्ज्वल रेखा मुझे भी दे दो। माँ ! तुम्हीं मेरी रक्षा करने वाली हो, तुम्हारा ही आशीर्वाद मुझे चारो ओर से घेरे हुए है। माँ ! अपनी इस अधम पुत्री को अपना चरणाश्रय दो। बुला लो माँ ! मुझे भी अपनी उसी चिरपरिचिता वात्सल्यमयी कोमल गोद में ; और जननी ! यदि मेरे भाग्य में अति काल तक जीवित रहकर इस संसार मे दु:ख भोगना ही लिखा है, तो माँ उस दु:ख को ऐसी पवित्र ज्योति से आवृत कर दो कि जिसके प्रकाश में मै अपनी दुखी बहिनों का कल्याण-साधन कर सकूँ ; अपने इस वैधव्य जीवन को धर्म-पथ पर परिचालित कर सकूँ ; सारे पापों को, सारे प्रलोभनों को, अपनी तर्जनी के सङ्केत भाव से दूर, बहुत दूर, उस पार, इस व्यथित जीवन के दूसरे किनारे पर रख

सकूँ। माँ! तुम्हारे चरणों में यही मेरी कामना है। पूर्ण करो, मैया मेरी !!

यह कहते-कहते शान्ता अपना अस्तित्व तक भूल गई! सामने रामकली बैठी है—यह भूल जाना तो साधारण बात है। ऊपर की ओर, जहाँ राशि-राशि नक्षत्र पवित्र आत्माओं की भाँति, चमक रहे थे, वह हाथ जोड़ कर एकटक देखने लगी। वह मानो उन नक्षत्रों के समूह में अपनी माता को ढूँढ़ने लगी। दूर पर आकाश के उत्तर कोण के सबसे अन्तिम छोर पर एक स्वच्छ, नील नक्षत्र देदीप्यमान था। ऐसा मालूम होता था कि वह शान्ता की ओर देख-देखकर, उसके उन पवित्र उल्लासमय विचारों को दिव्य शक्ति से श्रवण करके सन्तोष भाव से मुस्करा रहा था। इसे चाहे मूर्खता कहिए चाहे अन्ध-विश्वास; जड़ संस्कार कहिए या हिन्दू-देवियों की सरल धार्मिकता, और चाहे इसे समझिए हृदय की पवित्र प्रवृत्ति का प्रबल चमत्कार; पर शान्ता ने समझा और उसे विश्वास हो गया, उसकी निश्चित धारणा हो गई, उसकी ध्रुव-अटल भावना हो गई कि वह नक्षत्र और कोई नहीं है, उसकी कल्याणमयी जननी की पवित्र तेजोमयी आत्मा है। दूर पर, स्वर्ग के द्वार पर, पतिलोक की देहरी पर स्थित होकर वह अपनी पुण्यमयी पुत्री के इन पवित्र, प्रोज्ज्वल विचारों के उल्लास को देख-देखकर सन्तुष्ट हो रही है। नक्षत्र और भी चमकने लगा !!

शान्ता के मुख पर पवित्र तेजोमयी आत्मानुभूति की झलक दिखाई दी। उसने उस नक्षत्र को उद्देश्य करके अपने कृताञ्जलिपुट

को पृथ्वी पर रखकर उस पर अपना पवित्र ललाट रख दिया। उसका मन शीतल हो गया; वह आत्मिक आनन्द में मग्न हो गई। योगियों की समाधि मे, भक्तो की तन्मयी प्रीति मे एवं आनन्द के उल्लासमय सङ्गीत में जो छवि होती है, जो प्रोज्ज्वल आभा होती है, जो चिर-सुख होता है, शान्ता उन्ही का अनुभव करने लगी। लगभग आध घण्टे तक इसी भाँति, इसी प्रणिपात के आसन में वह स्थित रही।

रामकली—दुराचारिणी रामकली—इस स्वर्गीय दृश्य को देखकर अवाक् हो गई। वह भी आत्म-विस्मृत होकर इस स्वर्गीय सुन्दर, पुण्य प्रोज्ज्वल दृश्य को देखने लगी।

सती का सौन्दर्य्य भगवती की पूर्णप्रभा की पावन प्रकाश है !!

* * *

रामकली ने कहा—बहिन! मैं कल प्रातःकाल कुछ जल्दी आऊँगी। कल मेरा व्रत समाप्त होगा। मैं चाहती हूँ कि सूर्य्योदय से लगभग डेढ़ घण्टा पहले मैं जल इत्यादि लेकर मकान पर लौट् आऊँ। कल मुझे बहुत काम है, तुम जल्दी ही पानी लेने को चल सकोगी या नहीं? अच्छा हो, यदि तुम चलो।

शान्ता ने कहा—पर इतने सबेरे जाना क्या ठीक होगा?

रामकली—ठीक-बेठीक की क्या बात है। हम दोनों हैं, कोई भूत थोड़े ही रास्ते में बैठा है?

शान्ता—सो तो ठीक है; पर तब भी हम दोनों स्त्रियाँ ही तो

है ! यदि कुछ दुर्घटना हो जाय तो कैसा होगा ? ज़रा सी देर मे अनर्थ हो जाता है ।

राम०—सो निश्चिन्त रहो, बहिन ! बलवन्तसिंह के राज्य मे ऐसा करने वाला जीवित नहीं रह सकता । इस सम्बन्ध में हमारे ज़िमींदार, सुनते है, बड़े कट्टर हैं।

शान्ता—मनोरमा जब से ग़ायब हुई है, तब से मन में एक बड़ा भय बैठ गया है ।

राम०—पर मनोरमा और धातु की थी। तब भी तुम्हे यदि कुछ आपत्ति हो तो मैं विशेष आग्रह नही करती हूँ, मैं तो जाऊँगी ही ।

शान्ता ने गम्भीर भाव धारण कर लिया। क्षणभर के उपरान्त उसने कहा—बहिन ! जब तुम कहती हो तब चलूँगी । भगवती सहाय हैं, वही रक्षा करेंगी ।

पर हाय ! जब ज़िमींदार बलवन्तसिंह ही अत्याचार पर कमर कस चुके हैं, तब उनके हाथो से कौन रक्षा करेगा ? हैं...हैं...दो प्रबल सहायक हैं। एक तो महासती की महाकरुणा और दूसरी मर्मभेदिनी तीव्र तेजोमयी छुरी ।

जाओ देवी ! तुम सतीत्व के कवच से अछेद्य हो, सङ्कल्प के मन्त्र में अभेद्य हो और माँ की दी हुई छुरी से अस्त्रधारिणी हो ? तब सारा विश्व महा शक्तिशाली शैतान के द्वारा परिचालित होकर भी तुम्हारा बाल बाँका नहीं कर सकता । तुच्छ

बलवन्त एक अपदार्थ है । और रामकली—पिशाचिन, कुटिल, कपटिन रामकली तुम आज जिस भयङ्कर पाप में प्रवृत्त होने जा रही हो, उसका परिणाम जानती हो क्या होगा ? नरक की भयङ्कर ज्वाला !!

## इकत्तीसवाँ परिच्छेद

### विफलता

जिस समय शान्ता को चन्दा ने आकर आवाज दी, उस समय लगभग एक प्रहर रात्रि थी। शान्ता शौच इत्यादि से शीघ्र ही निवृत्त होकर तथा अपनी स्वच्छ खद्दर की धोती और दो कलसे लेकर चन्दा के साथ महेन्द्रा-तट की ओर चल दी, पर न मालूम क्यों उसका मन बड़ा उद्विग्न हो रहा था, रात वाली घटना का प्रभाव उसके हृदय पर कुछ ऐसे विषाद-भाव में अङ्कित हो गया था कि उसकी मलिनता उसके मुख पर तथा उसकी श्यामलता उसके दोनों नयनों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रही थी। वह जाना चाहती थी आगे; पर उसके पग पड़ते थे पीछे। कभी दाहिना बाहु फड़क उठता था तो कभी वाम नेत्र स्पन्दित होने लगता था। उसने ज्यों ही किवाड़ की कुण्डी खोली कि बिल्ली रास्ता काट गई; घर से बाहर निकलते ही बाईं ओर शृगाल रो उठा। चाहे इसे कुसंस्कार कहिए, चाहे भावी की वास्तविक अमङ्गल-सूचना; पर शान्ता इन अपशकुनो से और भी

अधिक आकुल हो गई। एक बार उसकी इच्छा हुई कि वह चन्दा से इन्कार कर दे। पर उसी समय उसके मन में यह भावना उठी कि उसके इस निर्बल आचरण तथा निष्ठुर इन्कार से चन्दा के मन को व्यथा पहुँचेगी। कहीं चन्दा को बुरा न मालूम हो, इसीलिए वह अन्तर की आज्ञा न होते हुए भी, बाह्यिक अपशकुनों का प्रत्यक्ष प्रतिवाद होते हुए भी, चन्दा—कपटिन कुटिल चन्दा के साथ चल दी। हाय रे संसार का वैचित्र्य! एक तो शान्ता है, जो अपनी विमल-सरल प्रवृत्ति के वशीभूत होकर अनिष्ट सूचना होते हुएभी, अपनी सखी के सङ्ग, उस अन्धकारमयी रात्रि मे, भगवती के श्रीचरणों पर भरोसा रखकर, केवल इसीलिए जा रही है कि कहीं उसकी सखी के हृदय को दुःख न हो और वही सखी—वह कपटिन, पिशाचिनी सखी उसे कपट-जाल मे फाँसकर उसके सर्वनाश की कुटिल आयोजना में बड़े आग्रह से प्रवृत्त हो रही है। धर्म हो चाहे न हो; शक्ति का अद्भुत चमत्कार हो चाहे न हो; न्याय की जीत हो चाहे अन्याय की विजय; पर यह विमल सरलता, यह उच्च अकारण सौहार्द एक दिव्य स्वर्गीय पदार्थ है, और इसके प्रोज्ज्वल, निर्मल स्वरूप को देखकर आँखें शीतल हो जाती है!

रात्रि के कृष्ण अञ्चल पर ढेर के ढेर तारे हीरे की बिखरी हुई कनी-राशि की भाँति जगमगा रहे थे। वे अपना स्निग्ध, क्षीण आलोक लेकर उद्भ्रान्त पथिक को यथाशक्ति सहायता देने से विरत नहीं हो रहे हैं। पर वह क्षीण आलोक उसका उपकार-साधन करने में कणमात्र भी समर्थ नहीं हो रहा है। वे थे एक

महावह्नि के ही स्फुलिङ्ग, पर उस भीषण अन्धकार को विदीर्ण करना उनके लिए एकान्त असम्भव था। सहस्र बालक मिलकर भी दुर्दान्त निशाचर को परास्त नहीं कर सकते। उसके निधन के लिए तो साक्षात् त्रिशूलधारी देवादिदेव महादेव ही समर्थ हो सकते हैं। वे तो केवल हँस सकते हैं, किलोल कर सकते हैं, दीपक के स्निग्ध आलोक की भाँति उनका प्रकाश भी परिमित था।

चन्दा और शान्ता चली जा रही थीं—नीरव, ध्यान-मग्न हो कर वे दोनों चली जा रही थी। दोनों अपने-अपने विचारों में तल्लीन थी, दोनों के हृदय किसी विशेष प्रवृत्ति के नाट्य-मन्दिर हो रहे थे। एक सोच रही थी पाप-पाश को विस्तृत करने की कुटिल आयोजना, और दूसरी सोच रही थी पुण्य-परित्राण के सफल साधनो के विषय में। एक पाप से उत्पन्न होने वाले परिताप का अनुभव कर रही थी, और दूसरी अपनी सतीत्व-रक्षा के लिए मन ही मन भगवती से आकुल-प्रार्थना कर रही थी। दोनों बिना बोले, बिना कहे, अपने-अपने विचारो मे—पापमय, पुण्यमय भावो में डूबी हुई चली जा रही थी। वे जा रही थीं, पर वे नहीं जानती थीं कि वे जा रही हैं। धीरे-धीरे वे आम्र-कानन के पास पहुँच गईं। शीतल बयार का झोंका उन्हे इस तन्मयता से जाग्रत करने के लिए पुष्पों का पराग ले आया, पर कुछ प्रभाव न हुआ। ज्यों ही कलकल-नादिनी, चिर-सङ्गीतमयी महेन्द्रा की दिव्य रागिनी के प्रेम-प्लावित स्वर उनके कर्ण-कुहरों में पहुँचे, त्यों ही उनकी वह निद्रा टूट गई। वे सहसा जाग सी उठीं। दोनों ने दोनों की ओर

देखा। दोनों दोनों के उस उदास भाव को समझ गईं। भाव की गति, भाव के अर्थ, भाव का स्वरूप वे नहीं जान सकीं। हृदय मे कोई नृत्य कर रहा है; पर कौन नृत्य कर रहा है? शिव अथवा शैतान—सो जानने की बुद्धि ससीम है, असीम नहीं।

चन्दा ने कहा—बहिन! आज मैं जल्दी में शौच इत्यादि से निवृत्त होकर नहीं आई हूँ। यदि तुम कहो तो सामने वाले खेत में हो आऊँ। ज़रा देर अकेली बैठी तो रहोगी, बहिन!

शान्ता—पर तुम मेरे घर पर क्यों न निवृत्त हो आईं, बहिन! तुम्हें यहाँ जाने की आवश्यकता ही न रहती।

चन्दा—सो तो ठीक है। पर तब न सही, अब सही। अभी आती हूँ बहिन! डरना मत।

पर शान्ता के मन में एक अज्ञात डर—चन्दा के इस महोपदेश 'डरना मत' को सुनकर ही—उत्पन्न हो गया। इस 'डरना मत' में उसे एक निहित व्यङ्ग सा प्रतीत हुआ। डरना क्या था? किससे डरना था? वह तो नित्य ही महेन्द्रा-तट पर आती थी; उस समय भी अन्धकार का शनैः शनैः विलीयमान आवरण होता ही था, रात्रि-विहारी पक्षी कभी-कभी बोल ही उठते थे, वन-भूमि श्यामल श्री से ढँकी ही रहती थी, तब आज 'डरना मत' का क्या अर्थ है? आज कौनसा भय आएगा, जिससे मुझे डरना नहीं चाहिए। इस प्रकार के भावों से शान्ता का सरल मन बड़ा आकुल हो गया।

कलकल-नादिनी नदी का निर्जन तट हो, तारों-भरी रात्रि का

तृतीय प्रहर अपना चार्ज चौथे प्रहर को दे रहा हो, सङ्ग का साथी चला गया हो, श्यामल वन-भूमि एक गाढ़ अन्धकार से आवृत हो, उस समय धीरे-धीरे गुनगुनाने से अन्तर का भय बहुत बड़े अंश मे प्रशमित हो जाता है। बात यह है कि मन भय की आशङ्का को भूलकर सङ्गीत की ध्वनि में मस्त हो जाता है।

शान्ता भी इस समय भय से बड़ी आकुल हो रही थी। जिधर आँख उठाती उधर ही से भय मानो साकार होकर सामने खड़ा हो जाता। तब शान्ता ने भी वही किया। वह धीरे-धीरे कोमल करुण कण्ठ से, बड़ी प्रीति, भक्ति और श्रद्धा के साथ उस अन्धकारमयी यामिनी की शान्ति से परिपूर्ण निर्जन महेन्द्रा-तट पर, तन्मयी होकर गुनगुनाने लगी :—

## गान

चलु अलि चूमहु वे पद-कञ्ज।

विलसत नित अनुराग-राग जहँ, भाव-भ्रमर की गुञ्ज॥

सरसत चारु सुरभि शीतल जहँ, कलिमल केशर-कुञ्ज।

शीतल करु 'हृदयेश' हृदय चलु, परस-परस छवि-पुञ्ज॥

ज्यो ही पद की अन्तिम लड़ी समाप्त हुई, त्यों ही शान्ता का ध्यान फिर अपने ध्येय—अर्थात् अज्ञात भय एवं आशङ्का की ओर चला गया। शान्ता फिर काँप उठी। उसने पीछे मुड़कर देखा—वास्तव में—वास्तव में भय का साकार स्वरूप, मूर्तिमान यमराज की भाँति वहाँ खड़ा था। एक हृष्ट-पुष्ट युवक

पीछे चुपचाप खड़ा हुआ उस गान को अतृप्त प्राणों से, व्याकुल पिपासा से सुन रहा था और शान्ता बिना जाने सुना रही थी। चन्दा—चन्दा का कहीं पता नहीं—कहाँ गई? शान्ता एक बार ही काँप उठी।

जैसे एक सुन्दरी देवाङ्गना के मुख से निकली हुई, भगवान् की भक्ति से भरी हुई अमृतवाणी को सुनकर शैतान उसको हस्तगत करने के लिए और भी उत्तेजित उठा हो, उस समय उस युवक की भावभङ्गी से ऐसा ही प्रतीत हो रहा था। उस युवक का सारा शरीर वासना का अग्नि-कुण्ड सा प्रतीत हो रहा था; उसकी आँखो से काम-ज्वाला की लपटें निकल रही थीं; उसका श्वास फूला हुआ था—एक तीव्र उष्णता से वह और भी गर्म हो रहा था। एकान्त निर्जन, अन्धकारमय नदी-दुकूल पर अपनी काम-वासना को शान्त करने का समुचित अवसर पाकर वह और भी उन्मत्त दृष्टि से शान्ता को देखने लगा। शान्ता भी सहसा, भय के वेग में, आशङ्का की उत्तेजना मे उठ खड़ी हुई। हरिणी जैसे काल-कल्प व्याध को देखकर, सोती हुई सरल बालिका जैसे चारों ओर भयङ्कर अग्नि-कुण्ड को देखकर विस्मय और भय से अभिभूत हो जाती है, ठीक उसी भाँति शान्ता भी भय से स्तब्ध हो गई। जीभ तालू में चिपट गई, उसका बोल बन्द हो गया; शरीर काँपने लगा; सारा कलेवर प्रस्वेद-धारा से भीग गया। पाप की ऐसी भयङ्कर आकृति को, उसकी ऐसी कृत-सङ्कल्प दृष्टि को देखकर पुण्य भय से काँप उठा।

पर यह भाव थोड़ी ही देर रहा। भय सम्मुख है, अब भयभीत होने से काम नहीं चलेगा। जीवन-मरण का प्रश्न है। दोनो ओर मृत्यु है। पाप-पुण्य का पुण्य-संग्राम है। चाहे जो पक्ष ले लो—मृत्यु दोनों ओर ध्रुव है, निश्चय है। तब कुरुक्षेत्र में पुण्य का पक्ष लेकर ही प्राण-त्याग करना अच्छा है। शान्ता के हृदय का भय अब तिरोहित हो गया। शान्ता अब तीव्र विरोध करने को समुद्यत हुई। उसका मुख देदीप्यमान हो उठा, उसके वदन-मण्डल पर ठीक वैसा ही तेज प्रकट हुआ, जैसा महासती सीता के आनन-चन्द्र पर उस समय प्रकट हुआ था, जिस समय निशाचर-नरेन्द्र रावण ने उनसे अनुचित प्रस्ताव किया था; जैसा आदि जननी सती के मुखारविन्द पर उस समय आविर्भूत हुआ, जब वे दक्ष-यज्ञ में प्रज्ज्वलित वेदी पर खड़ी होकर, अपने आराध्य पति-देव के विरुद्ध कुवाच्य करने वाले को शाप देकर, उस धधकती हुई अग्नि मे कूदने को प्रस्तुत हो रही थी, जैसा महिषासुर संग्राम मे महिष-मर्दन के समय महामाया के वदन-मण्डल पर प्रोद्भासित हो उठा था। शान्ता तेजोमयी वीर-नारी की भाँति, उस कामुक युवक की ओर देखने लगी। इस तेज को, इस पवित्र प्रोज्ज्वल आवेश को देखकर वह युवक स्तब्ध हो गया।

शान्ता ने वीर-दर्प के साथ कहा—कौन हो तुम और यहाँ तुमने इस प्रकार छिपकर खड़े होने का साहस कैसे किया?

उस युवक ने वासना की दुर्गन्ध से भरे हुए शब्दो में कहा—

साहस ? सुन्दरी ! यह हृदय भय तो जानता ही नहीं। मेरा परिचय ? मेरा परिचय इतना ही पर्य्याप्त होगा कि मैं तुम्हारे प्रेम का पुजारी हूँ। तुम्हारी इस सौन्दर्य्य-सरिता से दो-एक चुल्लू शीतल जल की भिक्षा माँगने आया हूँ।

शान्ता विक्षुब्ध केसरिणी की भाँति गरजकर बोली—कौन हो तुम नीच, नृशंस निशाचर ? जाओ, हट जाओ, तुम्हारी बातें सुनने से पाप लगता है।

युवक हँसकर बोला—पाप हो या पुण्य, पर मैं तुम्हे अपने हृदय का हार बनाऊँगा। मै तुम्हे छोड़ नहीं सकता सुन्दरी शान्ता ! आज बहुत दिनों के उपरान्त, बड़ी-बड़ी कुटिल नीति की आयोजनाओ के अनन्तर मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ है। अब तुम मेरे हाथ से निकलकर नहीं जा सकतीं। तुम्हें मेरी प्राणेश्वरी बनना ही होगा। फूल को—देवता का हो या दानव का—शृङ्गार बनना ही होगा।

इतना कहकर वह युवक आगे बढ़ा। शान्ता ने शीघ्र ही अपनी कञ्चुकी में छिपी हुई छुरी निकाल ली। उसने गरजकर कहा—सावधान !

युवक अवाक् रह गया—उस निर्जन, नीरव, स्थल पर सीधी सरल शान्ता का कराल काली-वेश देखकर वह अवाक् रह गया। पर युवक भी कच्ची धातु का बना हुआ नहीं था। वह बोला—अहा ! कैसी सुन्दर है ? फेंक दो यह छुरी, अथवा मुझे दे दो। मैं स्वयं ही अपना हृदय चीरकर तुम्हारे गुलाब-कोमल चरणों में

समर्पित कर दूँगा। तुम क्यों व्यर्थ मे अपने कोमल कर-पल्लव को कष्ट दे रही हो ?

यह कहते-कहते वह युवक बड़ी सावधानी से इस प्रकार आगे बढ़ा, जिससे शान्ता उस पर आक्रमण भी न कर सके और वह अपने हस्त-कौशल से शान्ता के हाथ की छुरी भी छीन ले। पर शान्ता सहसा पीछे हटकर महेन्द्रा में कूद पड़ी। शान्ता तैरना जानती थी। बहुत शीघ्र ही वह तैरकर उस शिला पर पहुँच गई, जो महेन्द्रा के ठीक बीच में विशाल पर्वत सी स्थिर थी। उसको चारो ओर से घेर कर महेन्द्रा की सङ्गीतमयी धाराएँ प्रवाहित होती थीं और वहाँ पर जल की गहराई भी बहुत थी। शान्ता हाथ में चमचमाती हुई छुरी लेकर, ब्राह्म मुहूर्त के स्निग्ध आलोक में, बड़े वीर-दर्प के साथ, बड़े तेजोमय आवेश के साथ खड़ी हो गई। युवक ने इस प्रकार की घटना की कल्पना तक नहीं की थी। शान्ता को इस प्रकार सहसा कूदते देखकर वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गया। पर जब उसे प्रकृत घटना का ज्ञान हुआ; जब उसका आश्चर्य भाव विलुप्त हो गया; जब उसने देखा कि वह उसके हाथ से एक बार ही निकल सी गई, तब वह भी रोष से, क्षोभ से एवं नैराश्य-जनित ग्लानि से विक्षुब्ध एवं कराल होकर जल में कूदने के लिए आगे बढ़ा। पर वीर-भावमयी शान्ता ने सिंह-गर्जन करके कहा—ठहर राक्षस ! तू व्यर्थ प्रयास में प्रवृत्त हो रहा है। तू मुझे जीवित नहीं पा सकता। मैं यहाँ इसीलिए कूदकर आगई हूँ कि वहाँ तेरे सहसा आक्रमण का भय था और यहाँ मैं पूर्ण रूप से

सुरक्षित हूँ। तू यदि एक पैर भी आगे बढ़ाएगा, तो मैं आत्म-घात कर लूँगी। तू मेरा जीवित शरीर अपने कलुषित स्पर्श से अपवित्र नहीं कर सकता। मैं जान गई कि मेरे साथ विश्वासघात किया गया है। चन्दा भी इस षड्यन्त्र में है, नहीं तो इतनी देर से वह कहाँ है ? पर तब भी, तू कोई भी हो निशाचर ! तू मुझे जीवित नही पा सकता। ेरे आगे बढ़ते ही यह छुरी मेरा हृदय विदीर्ण कर देगी।

शान्ता ने तीव्र चमचमाती हुई छुरी अपने पवित्र वक्षस्थल पर बड़े दृढ़ निश्चित भाव से स्थापित कर ली।

* * *

उस युवक को आगे बढ़ने का साहस नहीं हुआ। उसने देखा कि शान्ता के मुख पर एक ऐसी दृढ़ता है कि जो मृत्यु-भय से डिग नहीं सकती। वह ठिठक कर उस मूर्ति को देखने लगा। ठीक उसी समय चन्दा दौड़ती हुई आई। आते ही उसने जो दृश्य देखा, उसे देखकर वह एक बार ही अवाक् हो गई। क्षणभर तक आत्म-विस्मृत होकर वह इस दृश्य को देखने लगी। दूसरे ही क्षण उसने घुटने टेक दिए और हाथ जोड़कर वह कहने लगी—धन्य हो सती ! तुम्हारा यह दुर्गावेश कैसा सुन्दर है ? हाथ में छुरी लेकर, महेन्द्रा-चुम्बित स्फटिक-स्वच्छ शिला पर तुम साक्षात् जगन्माता के रूप में खड़ी हो। अहा ! तुम कैसी सुन्दर, कैसी तीव्र हो, मानो हिमाचल के सर्वोच्च शिखिर से गर्जन करती हुई मन्दाकिनी की विमल धारा हो; रण-क्षेत्र मे महा-संहार करने वाली रणचण्डी की

तीक्ष्ण कृपाण की तेजोमयी धार हो। धन्य हो सती ! यह अधम पतित नारी तुम्हारे चरणों में प्रणाम करती है।

युवक एकबार ही उन्मत्त हो उठा। चन्दा को उठाकर उसने झटक दिया और रोष के साथ गरजकर बोला—क्यो रामकली, यह क्या ? बिना आज्ञा के तू यहाँ कैसे आई ? यह क्या प्रलाप है ? शान्त।

चन्दा ने कहा—कुछ नहीं ठाकुर बलवन्तसिंह, मैं जा रही हूँ। मुझे अभी-अभी भयङ्कर काल-सर्प ने काट लिया है। मेरा शरीर विष की तीव्रता से जल रहा है। पापो के परिताप की ज्वाला भी भभक उठी है। तुम्हारे ही लिए मै इस महापाप में प्रवृत्त हुई थी। पर नहीं बलवन्त ! छोड़ दो इस आशा को, तोड़ दो इस मोहमयी काम-प्रवृत्ति को। यह महासती का विमल सौन्दर्य्य है, तीव्र वेग से प्रवाहित होने वाली महासागर की फेनमयी तरङ्ग-माला के समान सुन्दर और विकराल है। तुच्छ मनुष्य इसे भोग नहीं सकता, इच्छा करते ही प्राणनाश सम्मुख है। मैं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हूँ। बलवन्त ! टेक दो घुटने और हाथ जोड़कर माँग लो क्षमा। सती क्षमा कर देंगी। महासती ! मुझे क्षमा करो। मैं तुम्हारे चरणों में बार-बार लोटती हूँ। मरते समय तुम्हारा यह दिव्य दारुण सौन्दर्य्य देखकर मैं कृतकृत्य हुई हूँ। आह ! मैं कैसी उद्भ्रान्त थी। क्षमा ! सती क्षमा !!

बलवन्तसिंह थे पूर्ण शैतान, वे बोले—क्षमा ! क्षमा माँगना तो बलवन्तसिंह जानता ही नहीं। आज न सही, पर

ललितपुर का ज़िमींदार यह दृढ़ प्रतिज्ञा करता है कि शान्ता, तुम्हें तीन दिन के भीतर ही मैं अपनी पर्य्यङ्कशायिनी बनाऊँगा। सावधान रहना, बलवन्त के बाहुओं में बड़ा बल है।

शान्ता ने घृणा की हँसी के साथ कहा—असम्भव! मैं जानती हूँ तुझमें लौकिक बल है; पर पारलौकिक शक्ति के इस प्रत्यक्ष चमत्कार को देखकर भी यदि तू अन्धा बना रहे, तो भगवती तेरी रक्षा करें। देख! सामने तेरी सहायिका। कराल सर्प से डसी जाकर मृत्यु-शय्या पर तड़प रही है। चन्दा! तुम्हे मैंने सखी बनाया था, बहिन कहकर तुम्हें सम्बोधित किया था। जाओ, मैं तुम्हे क्षमा करती हूँ—स्वयं महामाया तुम्हें शान्ति दें। और तुम बलवन्त! सावधान! भविष्य-गगन में वह सामने—तुम्हारे पापों का भङ्कर परिणाम—इससे भी कराल दण्ड—मैं बिजली के स्थिर अक्षरों में लिखा हुआ देख रही हूँ। सावधान! फिर कहती हूँ सावधान!!

सती का भविष्य पठन अन्यथा नहीं हो सकता!

ठीक उसी समय दूर पर आता हुआ युवती-मण्डल का कोमल गान-स्वर सुनाई दिया। बलवन्त शीघ्र ही चन्दा का शरीर—शिथिल मृतप्राय कलेवर अपने बलिष्ठ हाथों में उठाकर आम्र-कानन की ओर द्रुतगति से चल दिया। वहाँ पहुँचकर वह शीघ्र ही अन्तर्हित हो गया।

शान्ता तैरकर घाट पर आ गई। वहाँ से जल लेकर वह घर लौट आई।

सारे दिन शान्ता बड़ी उद्विग्न रही। धीरे-धीरे सायङ्काल हो गया। नीरव, निर्जन उन्मुक्त छत पर बैठकर वह चिन्ता-समाधि में लीन हो गई।

वह चिन्ता—महासमर को प्रज्ज्वलित करने वाली रणदुन्दभी के प्रथम निनाद से मुखरित थी॥

## परिणाम का प्रारम्भ

स्त्र की व्यवस्था चाहे सार हो या असार; धर्म का विधान चाहे सदय हो या निर्दय; समाज का नियन्त्रण चाहे आवश्यक आचार हो चाहे अनावश्यक अत्याचार—पर इस सम्मिलित त्रिवेणी के अन्तर्गर्भ में जो परम सत्य निहित है, वह अक्षय है, वह पवित्र है, वह अटल है, अतः पूजा के योग्य है। जब प्रणय का स्थान लालसा ग्रहण कर लेती है; जब वासना की साधना ही सहवास की लक्ष्य हो जाती है, जब काम की प्रज्ज्वलित ज्वाला पर दो बूँद जल छिड़कना ही परम त्याग का एकमात्र लक्षण माना जाने लगता है, तब उत्थान नहीं होता है, होता पतन ही है।

मनोरमा और रामू प्रणय के कोमल सूत्र में आबद्ध नहीं हुए थे; दोनों थे वासना की ज्वाला से उन्मत्त एवं उद्भ्रान्त। एक-दूसरे के सहवास से वे उसको ही शान्त करना चाहते थे। पर यह कैसे सम्भव था? सृष्टि के आदि से लेकर आज तक प्रवृत्ति का महासागर अपने हृदय मे जिस बड़वानल को परिपोषण कर रहा है, उसका प्रशमित होना क्या सहज है? वासना बुझाए से नहीं बुझती, वह तो एक विकार-वह्नि के अङ्गारों की अक्षय अग्नि है; हिलाने-डुलाने से वह और भी बढ़ती है, घटती नहीं। मनोरमा और रामू दोनो विलास के मद-सिन्धु में शिखा-पर्य्यन्त मग्न हो गए। रात-दिन एक ही चर्चा। सुरा का उन्मत्त नृत्य, सुन्दरी मनोरमा के कमनीय यौवन-वन मे रामू का कवित्वमय रति-उल्लास। बस, यही होता। दिन भर, रात भर—जितना समय मिलता, वे विश्व को भूलकर अपनी प्रबल वासना की शान्ति की सिद्धि में ही प्रवृत्त रहते।

धीरे-धीरे सुरा उनकी चिरसङ्गिनी हो गई। उसके बिना रामू क्षणभर भी नहीं रह सकते थे। जब कॉलेज जाते तब उसे पान करके जाते थे; वहाँ पर भी अपने विश्राम-कक्ष (Rest Room) में वे उसका चुम्बन करते थे। रामू बड़े योग्य विद्वान् थे। कॉलेज में उनका बड़ा मान था। उनमें असामान्य प्रतिभा थी। वे न्याय और साहित्य के धुरन्धर पण्डित थे। कॉलेज के आचार्य्य उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य पर मुग्ध थे। विद्यार्थी-समुदाय उनकी पाठन-शैली पर आसक्त था। वे प्रायः ऊँचे दर्जों को पढ़ाते थे। विद्यार्थी-

गए उनके अगाध ज्ञान और व्यापक पाण्डित्य पर चमत्कृत एवं विमुग्ध हो जाते थे। पर अब की बार गर्मियों की छुट्टी के बाद वे जब से लौटे थे, तब से उनका ढङ्ग ही बदल गया था। रात-दिन उनकी आँखें चढ़ी रहतीं, कॉलेज में देर से आते और जल्दी चले जाते। पढ़ाई पर ध्यान नहीं देते। अपने आमोद-कक्ष मे बैठकर सुरा का सतत सेवन करते। एक दिन तो वे इतने मदोन्मत्त हो गए कि वे कमरे मे उठते-उठते गिर पड़े और अचेत हो गए। कॉलेज के प्रधानाध्यक्ष वृद्ध विद्वान् थे। वे रामू पर अपने औरस पुत्र के समान स्नेह करते थे। उनकी प्रखर प्रतिभा से वे बड़े प्रसन्न थे, और यह उन्हीं की परम कृपा तथा अकारण वात्सल्य का फल था कि वे बहुत शीघ्र ही न्याय-शास्त्र के प्रधान आचार्य्य-पद पर प्रतिष्ठापूर्वक प्रतिष्ठित हो सके थे। उन्होने उन्हें बुलाया; अच्छी तरह, स्नेहपूर्वक, ऊँच-नीच समझाया; पर आचार्य्य रामेश्वरप्रसाद एम० ए०, डी० लिट्० के विलास-काण्ड मे कण-भर भी कमी नहीं हुई। सुन्दरी मनोरमा का निरन्तर सहवास और मदमयी सुरा का नित्य सेवन—बस, यही उनका प्रोग्राम था। धीरे-धीरे वे इतिहास-प्रसिद्ध राज-राजेश्वर जहाँगीर की भाँति सुरा-सुन्दरी एवं सङ्गीत की त्रिवेणी में निरन्तर, बिना बाधा के, बिना चिन्ता के अवगाहन करने लगे। अब रामू और मनोरमा चौबीस घण्टे आनन्द मे मग्न, विलास मे विभोर एवं सुरा में उन्मत्त पड़े रहते थे।

पर धीरे-धीरे यह सुख-स्वप्न टूट गया। जहाँगीर तो थे

अतुल धन-राशि के स्वामी चक्रवर्ती सम्राट्, पर रामू अब धन का कठोर अभाव अनुभव करने लगे। अब तो बढ़िया विलायती शराब मिलना भी कठिन हो गया। धनागम था एकान्त बन्द पर धन-व्यय था निरन्तर प्रवाहित। तब चलता कैसे? उधार से जन्म नहीं कटता! धीरे-धीरे आभूषण बिकने लगे। एक चन्द्रहार को छोड़कर वे भी सब धीरे-धीरे समाप्त हो गए। अब होने लगा पूर्ण अभाव का परम कटु अनुभव और उसके साथ-साथ आई उसकी परम प्रिया कलह। और यह कौन नहीं जानता कि कलह विपत्ति की आगमन-सूचना देती है। मनोरमा की वासना में अब पड़ा व्याघात, वह तिलमिला उठी।

वासना में है कामना, प्रेम में है त्याग; लालसा मे है पिपासा, प्रीति में है शान्ति; काम में है उद्दीपन, स्नेह में है अनुभूति; पापमय बन्धन मे है ज्वाला, पुण्य-सम्बन्ध में है पूर्ण परितृप्ति!!

* * *

मनोरमा ने कहा—पड़े-पड़े नहीं चलेगा। कुछ तो करना ही होगा। यों तो भोजन का भी अभाव सा हो गया है। सब कुछ चला गया, अब भी कुछ बाक़ी है क्या?

रामू उन्मत्त की भाँति हँसकर बोले—बाक़ी? अभी बाक़ी है। तुम्हारा यह गौर वर्ण है, कान्तिमय कलेवर है, हमारे प्राण हैं, हृदय में प्रज्ज्वलित अग्नि है, मैं कुछ नहीं करूँगा। न-न, मैं शिथिल हो गया हूँ।

मनोरमा—तब क्या प्राण देना होगा ? तब क्या इसीलिए मुझे यहाँ लाए थे ?

रामू—अकेले थोड़े ही देने होंगे। हम-तुम साथ-साथ चिता पर चढ़ेंगे। तब क्या मेरे धन के लोभ से आई थीं। मुझे वेश-भूषा से धनी-पुत्र समझकर मेरे साथ आने को तैयार हुई थीं। तुम तो कहती थीं कि तुम मेरे लिए हँसते-हँसते प्राण दे सकती हो, महेन्द्रा-तट की वे बातें क्या स्वप्न हो गईं ?

मनो०—स्वप्न-सत्य जाने दो। मैं नहीं मरूँगी। मेरी वासना अभी शान्त नहीं हुई है।

रामू—सो क्या कभी शान्त होगी। मरना न मरना अपने हाथ में नहीं है। जब मौत होगी तब मरना ही होगा। यदि मौत अपनी इच्छा के अधीन होती, तो बहुत से उसे स्नेहपूर्वक आलिङ्गन कर लेते और बहुत से उसे आते देखकर शिर पर पाँव रखकर दूर—बहुत दूर पृथ्वी से परे भाग जाते।

मनो०—यह क्या हो गया है रामू ! तुम्हारे लिए मैंने सब कुछ छोड़ा—लोक छोड़ा, परलोक छोड़ा और तुम आज अकर्मण्य होकर मुझे भूखों मारना चाहते हो। यही क्या मेरे प्रेम का प्रतिकार है ?

रामू—अहा! प्रेम का प्रतिकार ? प्रतिकार तो हो गया। मैंने भी तुम्हारे लिए सब कुछ छोड़ दिया। तुमने यदि बूढ़ा पति छोड़ दिया, तो मैंने भी अपना बूढ़ा प्रिन्सिपल छोड़ दिया। तुमने बहिन शान्ता को छोड़ा, तो मैंने भी पुत्र-तुल्य शिष्य-समुदाय

को छोड़ा। तुमने सर्वस्व छोड़ा, मैंने भी तुम्हारे लिए सर्वस्व पर पानी फेर दिया। तब तो हो गया बराबर। काँटे में तोल देखो। न पाव रत्ती इधर, न पाव रत्ती उधर। अब रहा यह देखना कि हम दोनों में कौन संसार को पहले छोड़ता है?

मनो०—पर आज यह तुम्हारा उन्मत्त भाव क्यों है? आज तक तो तुम ऐसे नहीं हुए थे।

रामू—पर आज एक आघात लगा है। आज तुम्हारा प्रकृत स्वरूप मैंने देख पाया है। अभी तक तुम अपने सौन्दर्य्य के आवरण में छिपी थीं। आज तुम्हे मैंने पहिचान लिया है। तुम मरने से इतना डरती हो? थोड़ी सी बात के लिए, गिलास भर मद के लिए, मुट्ठी भर अन्न के लिए, एक धुली हुई धोती के लिए तुम इतनी आकुल हो? तुम क्या मुझे प्यार करती हो? करती होतीं तो क्या तुम मेरे वैभव के समाप्त होते ही, मेरे सौभाग्य के अस्त होते ही इस प्रकार इस विलासमय भवन को कलह से मुखरित कर देती। मुझे इतना दुःख, इतना क्लेश देना प्रारम्भ कर देतीं?

मनो०—तब क्या करूँ? पेट तो भोजन माँगता ही है। उसे भी पूरा करना ही होगा। और तुम्हे पुरुष होकर लज्जा नहीं आती। क्या अच्छा मरने का ढङ्ग है? आलस्य में पड़े हैं, सुरा से उन्मत्त एवं शिथिल हो रहे हैं और घर में प्राणों की प्यारी, जीवन की एकमात्र रत्न-माला दाने-दाने को मुहताज हो रही है। यही है क्या तुम्हारा अक्षय स्वर्गीय स्नेह? इसी के ऊपर,

इसी शुभ-प्रेम के पवित्र नाम पर तुम मुझे लाए थे? वाह! महेन्द्रा-तट पर जब मैंने अपना सर्वस्व तुम्हारे चरणों में समर्पण किया था, तब तुमने क्या कहा था? मरते, वीर की भाँति मरते, प्रेमी की भाँति मरते—एक नक्षत्र की तरह पतित हो जाते। पर, अङ्ग चलता नहीं; इस गन्दी कोठरी में आप भी पड़े हैं चिर-दरिद्री की भाँति और मुझे भी कर रक्खा है बन्दी की भाँति अवरुद्ध। भण्ड, कपटी बनकर पढ़ा रहे हैं प्रेम की महिमा का पाठ और आप स्वयं बिता रहे हैं आलस्यमय ममता-शून्य अपदार्थ जीवन।

रामू क्रुद्ध केसरी की भाँति उठ बैठे और गरजकर बोले—क्या बकती है, निर्लज्ज पापिन! रूप और धन के लिए तूने अपने पवित्र घर को छोड़ा, अपनी काम-वासना के लिए तूने पावन विवाह-बन्धन को छिन्न-भिन्न कर दिया और आज तू मुझे आँखें दिखा रही है। कहाँ नसीब होते यह सुख, यह वसन, यह भूषण, यह उन्मत्त आनन्दमय विलास! चुप रहो वाराङ्गना!!

मनोरमा पद-दलित नागिन की भाँति फुँफकार उठी। बोली—हाँ; अब यह बात। इतना नीच, इतना कृतघ्न। तब क्यों प्रलोभन दिया था? आज निर्बल स्त्री को असहाय परिस्थिति में पाकर तू उसका अनादर, तिरस्कार एवं अपमान करता है? जिस रमणी के गर्भ में तेरा बच्चा है, तू उसी के साथ ऐसा नीच व्यवहार कर रहा है—तुझे लज्जा नहीं आती! रे नृशंस! नीच! जार-पुत्र!!

जार-पुत्र !.. रामू काँप उठे। मद उतर गया। उन्हे स्मरण हो आया कि वह इस रहस्य को मनोरमा की मृदु-मुस्कान की माधुरी पर मुग्ध होकर उसके सामने प्रकट कर चुके थे। अब क्या हो ? आत्म-ग्लानि की तीव्र ज्वाला से वह आकुल हो उठे। वह सहसा उठकर घर से बाहर चले गए।

उसी दिन सायङ्काल को सारा पटना उनकी मृत्यु के समाचार से रो उठा। मन्दाकिनी मे बहती हुई उनकी लाश पाई गई !

किसी ने कहा प्रोफेसर साहब को उन्माद हो गया था। किसी ने कहा कि दुःखी जीवन की तीव्रता ही इस आत्मघात का रहस्य है। पर असली कथा जानती थी मनोरमा—केवल मनोरमा।

मनोरमा ने जिस सरोवर के शीतल जल से अपनी पिपासा को शान्त करना चाहा था, वह सहसा माया-मरीचिका मे परिणत हो गया। बाण शरीर को ही भेदता है, पर वाणी प्राणों को भी छिन्न-भिन्न कर देती । वाणी और बाण कहीं भाई-बहिन तो नहीं है ?

## आत्मघात

इधर कारण हुआ, उधर कार्य्य भी घटित हो गया—यह बात सर्वथा सत्य नहीं है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि अनेक कारण धीरे-धीरे एकत्रित होते रहते हैं और सहसा एकप्रबल कारण समुपस्थित होकर असम्भवित कार्य्य को सम्पादित कर देता है। प्रोफेसर रामेश्वरप्रसाद के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ। हम अपने कथन को कुछ स्पष्ट करके कहेंगे।

रामू की अनुभव-शक्ति बड़ी तीव्र थी, और इसका प्रभाव उनके चरित्र पर भी विशेष रूप से पड़ा था। उनके हृदय पर किसी भी बात की, किसी भी घटना की कुछ ऐसी गहरी छाप पड़ती थी कि वह सहसा विकारमय हो जाता था। वे वास्तव मे उस श्रेणी के मनुष्यों में से थे, जो अपनी ग्लानि और सन्तुष्टिको, क्षोभ

और आनन्द को, दुःख और सुख को कल्पना के दूरवीक्षण यन्त्र द्वारा कुछ बड़े स्वरूपों में देखते हैं। ऐसे मनुष्य सिद्धान्तवादी तो होते हैं, पर स्वयं सिद्धान्त के अनुकूल आचरण नही कर पाते हैं। पर कम से कम वे अपने उस सिद्धान्त-विरोधी आचरण पर विक्षुब्ध अवश्य होते है; उनके मन मे ग्लानि अवश्य उत्पन्न हो जाती है। किसी प्रकार के प्रबल आवेग मे, किसी प्रबल प्रवृत्ति के तीव्र मद मे अथवा हृदय की किसी निर्बलता के क्षण में वे किसी अनुचित कार्य्य मे, किसी प्रलोभनमय पाप में योग भले ही दे दें; पर उनका विमल सिद्धान्त—प्रिय मन विक्षुब्ध अवश्य होता है; उनकी आत्मा उस कार्य को बुरा कहकर धिक्कारती अवश्य है।

प्रोफेसर रामेश्वरप्रसाद मनोरमा के उर्वशी-निन्दित लावण्य पर मुग्ध हो गए थे। उसके प्रबल आकर्षण से वे अपनी रक्षा न कर सके थे। पर वे जानते थे कि मनोरमा पर-स्त्री है। उसे प्रलोभन देकर, उसकी काम-वासना को जाग्रत करके भ्रष्ट करना महा पाप है—पर वे निर्बल थे—प्रवृत्ति के दास थे; दूर भाग जानें की इच्छा रहते हुए भी वे भाग नहीं सके। पर वे इस कृत्य को बुरा समझते थे। उनके मन में बार-बार ग्लानि उत्पन्न होती थी। विश्वामित्र जी स्वर्ग-वाराङ्गना मैनका के मनोरम लावण्य-माधुरी पर विमुग्ध हो गए थे, पर जब मैनका ने उनके सामने उनके प्रणय का उपहार—शकुन्तला को लाकर रक्खा, तब वे व्याकुल हो उठे, परिताप से उनका हृदय भर गया। वे आँखों पर हाथ रख-कर पीछे की ओर देखने लगे, तप के पतन के मूल कारण को देखने

का वे साहस भी न कर सके। उन्होंने देखा कि उनके आजन्म-व्यापी तप की सारी साधना मैनका के रूप की अग्नि मे क्षणभर में भस्म हो गई। तब पश्चात्ताप से उनका हृदय जलने लगा। रामू की भी ठीक वही दशा हुई। जब तक लालसा की प्रबल ज्वाला जलती रही; जब तक कोई कारण इस रूप में प्रकट नहीं हुआ, जिससे उनकी आँखे खुल जायँ, तब तक वे उन्मत्त की भाँति विलास-लीला में प्रवृत्त रहे। पर जब मनोरमा गर्भवती हो गई, तब तो वे बड़े ही व्याकुल हो उठे। जिस दिन उन्हें यह समाचार विदित हुआ, उसी दिन उनके हृदय में तीव्र ग्लानि की भयङ्कर अग्नि धाँय-धाँय करके जल उठी। इधर बढ़ी सुरा की मात्रा, उधर छूटी वह सम्माननीय नौकरी; और उसी के साथ-साथ बन्द हुआ धनागम। इसके साथ ही उनके उस विलास-कुञ्ज में दल-बल सहित प्रवेश किया श्रीमती कलहदेवी ने। तब रामू एकबार ही उन्मत्त की भाँति विकल हो गए। जो मनोरमा उन्हे प्राणों से भी अधिक प्रिय थी, वही उन्हें ऐसी मालूम होने लगी, मानो वह एक जादूगरनी है, जिसने अपने रूप-जाल में फाँसकर उनके हृदय की सुख-शान्ति का अपहरण कर लिया है। संसार का नियम है कि दुखी अपनी विपत्तियो के लिए दूसरों को उत्तरदायी बनाना चाहता है। वह समझता है कि यदि केवल वही इस विश्व में होता और दूसरे लोग न होते, तो उस पर आपत्तियों का पहाड़ न टूट पड़ता।

प्रेम में निस्स्वार्थ-त्याग का निवास है; लालसा में भी त्याग है, पर है वह स्वार्थमय प्रतिकार-प्रेमी। जब रामू का यह भाव

नित्य-प्रति बढ़ने लगा, तब मनोरमा का हृदय भी विक्षुब्ध और अशान्त होने लगा, और धीरे-धीरे वे दोनो एक-दूसरे के प्रति ऐसे असहिष्णु हो गए कि उन दोनों मे नित्य-प्रति कलह होने लगी। वे एक-दूसरे को अपने दुःख और पतन के लिए दोष देने लगे। होते-होते वे एक-दूसरे पर पूर्ण रूप से विरक्त हो उठे। पर दोनो एक-दूसरे को छोड़ नहीं सकते थे। दोनों आपस में एक ऐसे ही जटिल बन्धन मे आबद्ध थे। मनोरमा के पेट में था रामू का दो महीने का बच्चा और रामू के हृदय मे थी एक प्रकार की मोहमयी उत्तेजना। रामू मनोरमा को, जिसे वे प्रलोभन देकर शान्तिमयी परिस्थिति से निकाल लाए थे, कैसे और किस मुख से घर के बाहर कर देते? और मनोरमा, जिसने उनके लिए सबको छोड़ दिया था, उन्हे छोड़कर सहसा कैसे निकल जाती? इसीलिए वे दोनो अनिच्छापूर्वक पास-पास रहते थे। उनके हृदय तो वास्तव में इतनी दूर हो गए थे कि जितने अनन्त आकाश के दोनों छोर। पर अन्त मे मनोरमा के व्यङ्ग-बाण से रामू ऐसे मर्माहत हुए कि उन्होंने अग्निमयी आत्मग्लानि की प्रबल उत्तेजना में आत्मघात कर लिया। जो वे स्वयं नही कर सकते थे, वह एक महाशक्ति ने कर दिया। वे पृथक्-पृथक् हो गए। एक रह गया स्थूल मर्त्यलोक में और दूसरा अन्तर्हित हो गया किसी सूक्ष्म अदृश्य लोक में।

कच्चे सूत की तरह वह सम्बन्ध टूट गया। मनोरमा को रामू के मरने का बहुत शोक हुआ हो, सो बात नहीं है। पर

जब उसने देखा कि वह इस विश्व में निस्सहाय हो गई, उसका कोई आधार—कोई अवलम्ब न रहा, तब वह दुःख से व्याकुल हो उठी। अब तक उसने नहीं सोचा था, पर उस दिन उसे ज्ञात हुआ कि इस विश्व में—असंख्य जन-निकेतन जगत् में अनाथ, अनाश्रय होकर जीवन व्यतीत करना सहज नहीं है, घोर विपज्जनक है। कहाँ जाय ? क्या करे ? बस, इसी चिन्ता से वह अधीर हो उठी। जब मनुष्य देख लेता है कि चारों ओर अन्धकार है, न कहीं भरोसा है न आसरा, चारों ओर निराशा ही निराशा है, तब वह कठिन हृदय बनकर, निर्भय होकर, दृढ़ सङ्कल्प के साथ उस भयङ्कर अन्धकार से ढँके हुए पथ पर ही चलने लगता है। दोनों ओर जब मौत है, तब आगे बढ़कर मरना ही श्रेय है। पीछे फिसलकर गिरने की अपेक्षा हिमाचल की सबसे ऊँची चोटी पर से सीधे कन्दरा में पतित होना अधिक श्रेय है।

था ही क्या ? पर जो था उसे ही लेकर मनोरमा उस उप-पति के गृह से बाहर निकली। इधर तो युवावस्था, उस पर जगमगाता हुआ रूप-रत्न, तिसपर चरित्र-भ्रष्ट; अतः मनोरमा को पग-पग पर भय था। उस पर थी वह अकेली, अनाश्रिता, अनाथिनी। तब जो कुछ बीतेगी, सहनी ही पड़ेगी। छोटा सा बालक क्या तीव्र ज्वर को सहता नहीं है ? कुम्हला भले ही जाय, पर कुसुम भी तुषार का प्रहार सह ही लेता है। इसी प्रकार अपने व्याकुल हृदय, व्यथित बुद्धि और दुखी आत्मा को समझा-बुझाकर, रेल पर सवार होकर वह काशी की ओर चल दी। उसने सोचा कि

काशी परमधाम है, मुक्तिपुरी है। वहाँ चलकर गङ्गा के किनारे वह अपने पापपूर्ण जीवन का प्रायश्चित्त करेगी, पर पाप भरसक प्रायश्चित्त नही करने देता है। वह तो पापी को अपने विष-वन मे एक कुञ्ज से दूसरे कुञ्ज में फिराता है। मनोरमा भी बनारस पहुँचते ही पहुँचते एक युवक-साधु के जाल में फँस गई। जो चिड़िया पिजड़े मे बन्द रहती है, उसकी उड़ने की शक्ति जाती रहती है, और वह शीघ्र ही व्याध के फन्दे में फँस जाती है। इसी प्रकार जो पाप के कारागार में अवरुद्ध रहता है, उसकी पुण्य-बुद्धि पूर्णरूप से नष्ट हो जाती है। वह पाप के एक बन्धन से निकलते ही दूसरे फन्दे में फँस जाता है। उसे निकलने का रास्ता ही नहीं मिलता। भाग्य अच्छा हो; कोई पुण्य-श्लोक महात्मा का सहवास सहसा प्राप्त हो जाय, तो पाप का बन्धन भले ही कट सकता है।

मुग़लसराय के स्टेशन पर जब गाड़ी ठहरी, तब उसी डिब्बे में, जिसमें मनोरमा बैठी थी, एक युवक-साधु आकर बैठ गया। साधु का शरीर हृष्ट-पुष्ट था; गौर वर्ण था; श्री भी अच्छी थी। उसनें मनोरमा की ओर देखा, मनोरमा ने भी उसकी ओर देखा। साधु उसे देखकर मन्द, मधुर राग से गाने लगा:—

दे देरी मोरो दान गुजरिया।
कुञ्ज गलिन बिच मग रोकत नित, हेरत श्याम नचाय नजरिया॥
मन्द मधुर मुसकात कहत वह, मोसन रार बढ़ाओ न सँवरिया।
दैहों तो हैं 'हृदयेश' हृदय-धन, फेरि बजाओ मोरे प्यारे बँसुरिया॥

मनोरमा इस गान को बड़े ध्यान से सुनने लगी। वह उस

युवक-साधु की मधुर, मञ्जुल वाणी सुनकर मुग्ध सी हो गई। पर वह चुपचाप बैठी रही। उस डिब्बे में दो-तीन और भी यात्री थे, पर वे सोए हुए थे। उस समय रात्रि के लगभग ३ या ४ बजे होंगे। साधु भी बड़े उत्सुक भाव से मनोरमा को देखने लगा। दोनो की दृष्टि आपस में मिली। मनोरमा ने लजाकर नीची दृष्टि कर ली। पर नीची दृष्टि करके एक बार, क्षण भर गर्दन उठाकर, अञ्चल ठीक करने मे जो साङ्केतिक भाषा होती है, उसका अर्थ समझने में साधु को अधिक समय नहीं लगा। काम-केलि के विशाल महाभारत के कूट-श्लोक समझने में साधु प्रकाण्ड पण्डित प्रतीत होता था।

साधु ने पूछा—कहाँ जा रही हो, बच्ची?

मनोरमा—तुम्हारा अभिप्राय?

साधु ने किञ्चित व्यङ्ग के स्वर में कहा—कुछ नही, यह संसार एक यात्रा है। इसमें एक यात्री यदि दूसरे यात्री का परिचय तथा गन्तव्य स्थान जानना चाहे, तो इसमे पाप क्या है? यह तो स्वाभाविक है।

मनोरमा—पाप कुछ नहीं है, पर अपनी-अपनी राह जाना ही ठीक है।

साधु ने हँसकर कहा—पर यदि दोनों का मार्ग एक ही हो—अथवा एक ही ओर हो—और वे दोनों यात्री गूँगे न बनकर आपस में आनन्द की बातें करते चले जायँ, तो रास्ता अच्छा कटता है।

मनोरमा ने गम्भीर भाव से उत्तर दिया—पर इसका क्या ठिकाना कि कौन यात्री वास्तव मे कहाँ जायगा, किधर जायगा, किस स्थान पर ठहरेगा? थोड़ी सी दूर के लिए व्यर्थ का परिचय देना और लेना सरासर मूर्खता है।

साधु ने रहस्य-भरी दृष्टि डालते-डालते कहा—हो सकता है, पर इसे मूर्खता मानना सबके लिए सम्भव नहीं है। रास्ता जिससे आनन्द मे कट जाय, यात्री का यही इष्ट है।

मनो०—जाने दो। तुम कहाँ जा रहे हो बाबाजी?

बाबा०—मै जा रहा हूँ काशी। अच्छा, अब तुम भी बताओ कि तुम कहाँ जा रही हो?

मनो०—मैं भी काशी ही जा रही हूँ।

साधु—अहा! कैसा नदी-नाव का सा संयोग है। वहाँ तुम किसके यहाँ जाओगी?

मनोरमा ने अपने विशाल लोचनो में आँसू भरकर कहा—किसी के यहाँ नहीं। इस संसार में मेरा कोई नहीं है, बाबा जी! मैंने भयङ्कर पाप किए हैं, उन्हीं का प्रायश्चित्त करने जा रही हूँ। बाबाजी! कहाँ रहूँगी, किधर जाऊँगी, इसका कोई ठिकाना नहीं है। तुम्हे फिर भला मैं क्या बताऊँ?

बाबाजी ने बड़े गम्भीर भाव से कपट-स्नेह दिखाते हुए कहा—तब चलो बच्ची! काशी में नगर से बाहर गङ्गा-तट पर मेरी कुटी है। मेरा नाम है बाबा विद्यानन्द। तुम मेरी कुटी में आनन्दपूर्वक निर्विघ्न रूप से रहकर हरि-भजन करना। तुम्हे

वहाँ कोई कष्ट न होगा । तुम्हें—तुम्हें—मैं अपना सर्वस्व बना कर रक्खूँगा ।

मनोरमा ने एक अर्थ-भरी दृष्टि से बाबा जी की ओर देखा, बाबा जी ने भी आँखों से कुछ कह दिया । दोनो ने दोनों के प्रस्ताव का हृदय से अभिनन्दन किया ।

मनोरमा की जो तत्कालीन असहाय अवस्था थी, उसमे उसे एक आश्रय की अतीव आवश्यकता थी । उधर कपट-वेशधारी साधु को सौभाग्य से मिल गई ऐसी अतुल रूपशालिनी युवती । दोनों ने अपने-अपने मन में समझा कि उन्होंने एक-दूसरे के हाथ सौदा बेचकर काफी नफा उठाया है ।

स्वार्थ संसार को क्रय-विक्रय की एक विशाल हाट-मात्र समझता है । अपनी वस्तु का अधिक मूल्य प्राप्त करने के लिए वह धर्म को दलाल बना लेता है । आवश्यकता न रहने पर उसे चार धक्के देकर वह अपने मार्ग से हटा देने में कणमात्र भी सङ्कोच नहीं करता है ।

स्वार्थ की कैसी प्रतारणामयी प्रणाली है ?

## शान्ता का गृह-त्याग

द्यपि शान्ता ने अपने प्रोज्ज्वल तेज, अपने पावन सङ्कल्प एवं अपनी अतुल वीरता से उषाकाल के उस स्निग्ध आलोक में निशाचर-सदृश बलवन्तसिंह के हाथ से अपने सतीत्व की रक्षा कर ली थी, पर तो भी वह बलवन्तसिंह की उस भीषण प्रतिज्ञा की बात सुनकर बड़ी भयभीत हो गई। शान्ता बड़ी पवित्र थी, दृढ़ सङ्कल्प थी, सतीत्व को प्राणों से अधिक मूल्यवान् मानती थी, पर तब भी वह स्त्री ही थी। स्त्री का हृदय भय के आगमन की आशङ्का से बहुत डरता है; पर वह-भय के प्रकट रूप से सम्मुख आते ही अदम्य साहस और वीर-तेज से परिपूर्ण हो जाता है। उसका हृदय अन्धकार में आहट सुनते ही काँप उठता है, पर जब आन पड़ती है, तब वह अपने ऊपर सहस्र-सहस्र खड्गों का आघात सहने को भी समुद्यत हो जाता है। प्रातःकाल

का तेज कुछ और था—इस समय—दोपहर के समय वह बलवन्तसिंह की उस भीषण प्रतिज्ञा को स्मरण करके बार-बार काँप उठती थी। किससे कहे? शान्ता तो किसी से मुँह खोलकर कभी बोली तक नहीं। और कहने ही से क्या होगा? कौन ऐसा है जो ठाकुर बलवन्तसिंह से—अपने प्रबल प्रभु से लड़ाई मोल लेने को व्यर्थ में समुद्यत होगा? कौन उसके लिए अपना शिर कटावेगा? शान्ता अपने सतीत्व की—भय-सङ्कुल पातिव्रत्य की रक्षा के लिए बड़ी आकुल हो उठी।

जब व्याकुलता का वेग कुछ अधिक बढ़ गया, तब वह फूट-फूटकर रोने लगी। अश्रु-धारा मन्दाकिनी के समान शीतल होती है, वह मन की व्यथा को बहुत-कुछ शान्त कर देती है। पर जो ज्वाला अश्रु-प्रवाह से भी शान्त न हो, तब समझ लेना चाहिए कि उसकी औषधि केवल मृत्यु की शीतलता है।

होते-होते सायङ्काल हो गया। उसने घर मे दीपक जलाया, स्नान किया, घृत का दीपक लेकर वह उस कक्ष मे गई, जहाँ भगवती चण्डी सिंहासन पर विराज रही थीं। वह उनके पद-प्रान्त में प्रदीप को रखकर एवं हाथ जोड़कर खड़ी हो गई। बड़ी देर तक वह खड़ी रही। सहसा उसने घुटने टेक दिए। उसका पवित्र मस्तक आदि-जननी के पुण्य पाद-पद्म में प्रस्थापित हो गया। अश्रु-जल से वह उन्हें धोने लगी। भगवान् शङ्कर के मौलि-मण्डल से पतित होकर मानो मन्दाकिनी की धारा महासती के कल्प-कोमल चरणों को प्रक्षालन करने लगी।

लगभग पन्द्रह मिनिट के उपरान्त वह अपने इस प्रणति-आसन से उठी। उठकर भक्ति-भरित, श्रद्धा-सरसित एवं प्रेम-प्लावित शब्दों में उसने विनय की—जननि! आज मुझ पर महा सङ्कट है। उधर है परम शक्तिशाली नर-पिशाच; इधर हूँ मैं अनाथ, निर्बल अबला। माँ! आज मेरा सतीत्व भय में है, उसकी रक्षा करो। जननि! तुम्हारे ही हाथों मे लाज है।

उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो किसी ने उसके कान में बड़े मधुर, वात्सल्यमय स्वर में कहा—अवश्य रक्षा करूँगी।

शान्ता चौंक पड़ी। उसने इधर-उधर देखा, उसे कोई दिखाई न पड़ा। तब तो उसका मन उल्लास से, प्रेम से, भक्ति से गद्‌गद् हो उठा। उसने हाथ जोड़कर कहा—धन्य हो जननि। तुम्हारा ही अवलम्ब है, तुम्हीं निराधार की आधार हो, अब कुछ भय नहीं। माँ! छोड़ दूँगी—मै अब इस घर को छोड़ दूँगी। यहाँ रहना उचित नही है। मै जानती हूँ, तुम सब काल मे स्थित हो, सब स्थानो मे व्यापक हो—तुम कहाँ नहीं हो? तुम सब समय, सब जगह रक्षा कर सकती हो। पर मातेश्वरी! इस घर को छोड़ देने के लिए भी तो तुम्हीं मेरे हृदय मे प्रेरणा कर रही हो। अब तक जो बात मैंने नहीं सोची थी, वह सहसा क्यों मन में जाग्रत हो उठी। तब यह तुम्हारी ही कल्याणमयी प्रेरणा है। इसी घर मे मेरे पूज्य पिता ने प्राण विसर्जन किए, इसी घर में मेरी परमाराध्या जननी ने इहलोक-लीला संवरण की। तब इस घर को—पुण्य-प्रयाग तीर्थ के समान

पवित्र प्रम-प्रासाद को परित्याग करना मेरे लिए बड़े दुःख की बात है। पर सतीत्व सबसे बड़ा है। उस महा रत्न के लिए स्वर्ग और अपवर्ग सबका बलिदान किया जा सकता है। छोड़ दूँगी—अभी—इसी रात को—छोड़ दूँगी। तुम्हारी इच्छा सदा शुभकरी है। कहाँ जाऊँगी? जहाँ तुम ले जाओ, तुम्हारी ही प्रेरणा से मैं चलूँगी। दिशा का ज्ञान छोड़कर, किसी विशिष्ट स्थल पर पहुँचने की चिन्ता न करके मैं चल दूँगी। मै जानती हूँ, तुम मुझे स्वयं हाथ पकड़कर ले चलोगी। मेरे हृदय में कोई कह रहा है कि मेरे जीवन का मुख्य कार्य्य अभी अवशिष्ट है। नहीं तो आज प्रातःकाल ही मैंने क्यो न आत्मघात कर लिया? क्यों न जल में कूदकर सतीत्व की रक्षा कर ली? माँ! तुम्हारा रहस्य तुम्हीं जानो। तुम्हारे इस गुप्त विधान को समझना मेरे लिए सम्भव नहीं है। तुम मुझे जिधर नियुक्त करोगी, उधर ही मैं चल पडूँगी, उधर ही मेरे जीवन की गति प्रधावित होगी। पर इतना मैं अवश्य समझ रही हूँ कि तुम मेरे इन तुच्छ निर्बल हाथो से अपना कोई महान् उद्देश्य सम्पादन कराना चाहती हो। आओ माँ; इस पाषाण-मूर्ति से निकलकर तुम मेरे हृदय-सिंहासन पर प्रतिष्ठित हो जाओ; बुद्धि बनकर मेरे अन्धकारमय पथ को आलोकित करो; धर्म बनकर मेरे अधीर हृदय को धैर्य्य दो; सङ्कल्प बनकर मेरे मन के चाञ्चल्य को दूर करो; और अपने आशीर्वाद के कवच से मेरा यह वैराग्यमय-यौवन अभेद्य एवं अजेय बना दो, जननी मैं तुम्हारे श्रीचरणों में प्रणाम करती हूँ।

शान्ता ने नतजानु होकर प्रणाम किया। उसी समय उस स्फटिक-स्वच्छ पाषाण-प्रतिमा के मुख पर एक पवित्र तेज प्रकट हुआ; और वह प्रोज्ज्वल तेज शान्ता के हृदय में, मेघ-मण्डल में दामिनी की भाँति प्रवेश करके विलीयमान हो गया। शान्ता का वदन-मण्डल दिव्य ज्योति से जगमगा उठा।

घर में था ही क्या ? जो कुछ था भी सो शान्ता-मातृ-देवी के अन्तिम संस्कार एवं श्राद्ध इत्यादि में दान कर चुकी थी। और होता भी तो क्या शान्ता उसका मोह करती ? सतीत्व तो कौस्तुभमणि है, कोहनूर है। उसका मूल्य ही क्या ? अमूल्य के लिए क्या मूल्यवान् को परित्याग कर देना आश्चर्य की बात है ? कोहनूर के लिए कितने युद्ध हुए, सो सभी जानते हैं। पर कोहनूर जिसके पास रहा, रक्खा उसने उसे प्राणों से बढ़कर, जीते जी उस पर किसी को हाथ न लगाने दिया। तब शान्ता क्या सतीत्व-रक्षा के लिए इस लौकिक सम्पत्ति की कणमात्र भी चिन्ता कर सकती थी ? वह तो प्राणों की बाजी लगाकर, संसार का मोह छोड़कर, उस महा रत्न की रक्षा के लिए कटिबद्ध हुई थी।

धीरे-धीरे रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत हो गया। सारा ललितपुर स्तब्ध था। बीच-बीच में एकाध कुत्ता अवश्य भौंक उठता था। पर कहीं पर जन-रव सुनाई नहीं पड़ता था। दूर तक— संसार और स्वर्ग की मिलन-रेखा तक नीचे-ऊपर, चारों ओर प्रगाढ़ अन्धकार परिव्याप्त हो रहा था। शान्ता अपने कक्ष से

बाहर निकलने को समुद्यत हुई। पिता की चरण-रज से पावन, आराध्या जननी की साधना से पवित्र, उस गृह को छोड़ने के लिए वह प्रस्तुत हुई।

उस पैतृक प्रासाद की पवित्र रज लेकर उसने अपने मस्तक पर लगाई, माता और पिता को उद्देश्य करके मन ही मन उसने उन्हें प्रणाम किया, और महामाया जगज्जननी के श्रीपाद-पद्म मे प्रणताञ्जलि अर्पण की। दृढ़ मुष्टि से उसने एक बार उस तीक्ष्ण छुरी को पकड़ा; छुरी दीपक के क्षीण प्रकाश में वह स्वर्ग की दिव्य ज्योति की भाँति, मेघ-प्रिया दामिनी की भाँति, जगज्जननी राजराजेश्वरी की हास्य-श्री की भाँति झलमला उठी। शान्ता ने मुस्कराकर उसका अभिनन्दन किया। बड़े प्यार से उसने उसे अपने हृदय पर धारण कर लिया।

उसकी आँखो मे आँसू थे, पर अधर पर दृढ़ सङ्कल्प था। उसके मुख पर विषाद की रेखा थी, पर उसका हृदय प्रोद्भासित था कठोर साहस की समुज्ज्वल ज्योति से। उसकी गति थी मन्द, उसकी प्रतिज्ञा थी हिमाचल के समान स्थिर एवं अटल। वह निरुद्देश्य भाव से, मन्थर गति से, अपूर्व साहस एवं पवित्र तेज से, महेन्द्रा-तट से ठीक सामने की ओर, अर्थात् उस आम्र-कानन मे स्थित बलवन्त के प्रासाद से ठीक विपरीत दिशा मे चल पड़ी। ललितपुर सोते मे जैसे किसी अमङ्गलसूचक विभूति-विनाश के स्वप्न से काँप उठा। ललितपुर की पवित्र धर्म-श्री ने प्रस्थान कर दिया। मन्दिर से प्रतिमा चली गई, मन्दिर शून्य रह गया !!

जाओ सती ! तुम्हारा मार्ग अज्ञात है, अन्धकारमय है, आपत्तिपूर्ण है; पर स्वयं महामाया राजराजेश्वरी भगवती कल्याण-सुन्दरी तुम्हारा पवित्र कर अपने हाथ में लेकर तुम्हे आगे-आगे ले चलेंगी । तुम्हारे सतीत्व की समुज्ज्वल प्रभा से तुम्हारा पथ प्रोद्भासित होगा. तुम्हारे सत्य-सङ्कल्प की प्रबल वायु मे भारी आपत्ति-पुञ्ज उड़ जायगा; तुम्हारे धर्ममय उल्लास को देखकर पाप उलूक की भाँति पलायन कर जायगा ।

सती का सङ्कल्प विधि के विधान से भी अधिक अटल है । जो मूक को वाचाल, मूर्ख को पण्डित, रज को सुमेरु, सृष्टि को प्रलय और प्रलय को सृष्टि मे परिणत कर सकते हैं, वे भी उसके अटल सङ्कल्प के सामने नतजानु हो जाते हैं ॥

## रँगे सियार

त:काल के समय कृष्ण मेघ-राशि से सारा आकाश आच्छादित हो रहा था, किन्तु अभी वर्षा प्रारम्भ नहीं हुई थी। भगवती गङ्गा की विशाल धारा बड़े वेग से प्रवाहित हो रही थी। सामने ही कुछ ऊँची भूमि पर कपट-मुनि बाबा विद्यानन्द की कुटी है, और इसी में उन्होंने मनोरमा को लाकर रक्खा है मनोरमा ने आते ही सबसे पहला काम यह किया कि अपने सारे वस्त्र गेरुआ रङ्ग में रँग डाले। बाबा विद्यानन्द जी बन गए श्री श्रीगुरुदेव और मनोरमा उनकी सेवा में लग गई एकान्त अनुगता शिष्या बनकर। कम से कम विश्व को उन्होंने इस प्रकार धोखा देने की ठानी। उनमें वास्तविक सम्बन्ध क्या था, इसका आभास हम पहले ही किसी परिच्छेद में दे चुके । बाबा जी की पर्ण-कुटी नगर से बाहर निर्जन, शून्य-स्थान में थी। दिन में वहाँ अच्छा जमघट रहता था। यह जमघट प्रायः चार या पाँच बजे

तीसरे पहर से प्रारम्भ होता और लगभग नव-दस बजे रात समाप्त होता। पर जब से मनोरमा इस कुटी मे आ गई थी, तब से यह जमघट कुछ और जोर पकड़ गया था। अब युवक-समुदाय का आगमन विशेष रूप से होने लगा था, और इसलिए बाबा विद्यानन्द की आय भी कुछ विशेष बढ़ गई थी। जिन्होंने रूखी भाँग छोड़ कभी बाबा जी को एक सीधा तक नहीं दिया, वे अब बड़ी श्रद्धा, प्रीति और भक्ति से दूध और मलाई के कुच्चड़ लाने लगे। धन्य रे रमणी का रङ्गमय रूप! मनोरमा की उस प्रखर रूप-ज्योति को देखकर कितने ही युवक उद्भ्रान्त हो उठे और इस चेष्टा मे लग गए कि किसी भाँति मनोरमा के एक विदग्ध कटाक्ष को प्राप्त कर सके। पर बाबा विद्यानन्द थे पर्य्याप्त चतुर, इन युवको की इस व्यग्रता को देखकर वे मन ही मन हँसते, पर वे कभी किसी को इतना समय न देते कि कोई उससे दो बातें भी कर ले। जमघट नित्य होता; गाना होता; बजाना होता, भङ्ग छनती; दमें लगतीं, पर सुन्दरी मनोरमा के दर्शन के अतिरिक्त किसी को और कुछ—एक मन्द मुस्कान, एक कुटिल कटाक्ष तक प्राप्त न होता। मन ही मन बाबा विद्यानन्द तथा अपने भाग्य को कोसते हुए वे युवक—भ्रष्ट युवक—अपने-अपने घरो को लौट जाते। मनोरमा और विद्यानन्द के परस्पर सम्बन्ध की आलोचना करते-करते उनका तीन मील का मार्ग बड़ी सुगमता से, बातों-बातों में कट जाता। प्रायः सभी युवक मनोरमा को प्राप्त कर लेने पर अपने-अपने इष्ट-देव को पाँच रुपए तक का प्रसाद चढ़ाने के लिए उद्यत थे। अस्तु—

प्रातःकाल का समय था, विशाल नील नभोमण्डल घन मेघ-मण्डल से आवृत था। घाट पर बैठे-बैठे बाबा विद्यानन्द और सुन्दरी मनोरमा परस्पर रस-रङ्गमय रहस्यालाप कर रहे थे।

मनोरमा ने मुस्कराकर कहा—बाबा जी! सचमुच गेरू मे बड़ी शक्ति है।

बाबा जी ने भी मन्द मुस्कान के साथ कहा—निस्सन्देह! यदि मैं तुम्हारे वस्त्र भी गेरुआ रङ्ग मे न रँग देता तो क्या हम दोनो इस प्रकार निर्विघ्न होकर सहवास कर सकते थे? मन-मन में चाहे कोई कुछ सोचे, पर प्रत्यक्ष रूप से कोई हम पर उँगली नहीं उठा सकता। तुम मेरी दीक्षिता शिष्या, मैं तुम्हारा संन्यासी गुरु। कैसा अद्भुत चमत्कार है? पर वास्तव में हम दोनो का क्या सम्बन्ध है, सो कौन जानता है?

मनो०—जानते सब हैं, कदाचित् ही किसी से छिपा हो। पर जैसा तुमने कहा है कि कोई मुँह खोलकर नही कह सकता। इन गेरुए वस्त्रों के अन्दर मन के भाव तथा गुप्त सम्बन्ध छिपाकर रखना सहज अवश्य है, पर कभी न कभी वे खुल अवश्य जाते हैं। जन्म भर किसी रहस्य को गुप्त रखना असम्भव है स्वामी जी!

बाबा०—सो मानता हूँ, पर तब भी उस गुप्त रहस्य के खुल जाने पर जो भयङ्कर परिणाम होता है, उससे बंचने का इस वेश से अच्छा साधन भी विश्व में नही है। मैं तुम्हे चुम्बन कर रहा होऊँ, कदाचित कोई देख ले, कह दूँगा कि कान मे मन्त्र फूँक रहा

था। मेरे साथ तुम एकान्त में, एक कोठरी में अँधेरे में बैठी होओ, किसी के आने पर निस्सङ्कोच भाव में कह सकता हूँ कि तुम गुरु की पाद-सेवा कर रही थीं। गुरु और शिष्या का चिर-पवित्र सम्बन्ध है! अहा! कैसी सुन्दर गुरु-भक्ति है! इसमें बड़ी शक्ति है।

इतना कहकर बाबा जी हँसने लगे। मनोरमा ने भी मुस्करा दिया। मनोरमा ने कुछ व्यङ्ग-भाव से कहा—ठीक है स्वामी जी, इसमें कणमात्र भी सन्देह नहीं; पर सदा संसार की दृष्टि मे धूल डालना भी तो सहज नहीं है। एक न एक दिन विश्व अवश्य अपराधी को समुचित दण्ड देता ही है।

स्वामी जी—पर इसमे भी अपराधी ही का अपराध है। यदि अपराधी अपने अक्षम्य अपराधों को इतनी सावधानी से छिपाए रक्खे कि किसी को ख़बर ही न हो, अथवा यदि अपराधी विभवशाली हो और वह अपने अपराधों को इस प्रकार विभव के आडम्बर से आच्छन्न कर दे कि संसार देखकर भी उसे न देख सके, तो आजन्म वह अपराधी उन्मुक्त वायु की भाँति विभिन्न-विभिन्न पुष्पों का पराग चुराकर भी पकड़ा नहीं जा सकता। विश्व की आँखें या तो वैभव के तेज से तिलमिला दो या कौशल से उनमें धूल डाल दो। इतनी शक्ति होनी चाहिए, फिर कुछ डर नहीं है।

मनो०—पर स्वामी जी, वह शक्ति मिले कैसे?

स्वामी०—एकान्त कपट-आडम्बर से। गीता का नित्य

पारायण करो; रामायण की चौपाइयाँ सदा मुख पर रहें; मस्तक को पोते रहो; गेरुआ वस्त्र पहिने रहो ; बात करते-करते 'हरि ओ३म्' की ध्वनि लगाते रहो, चरस पियो पर बाबा ब्रह्मदेव के नाम पर; भाँग छानो, पर भगवान् शङ्कर के शुभ नाम पर; शिष्या बनाकर रमण करो, पर कहो सदा मुख से 'बच्ची'; सब कुछ करो, पर धर्म के आवरण में; पहिनो चाहे रेशमी-विलायती वस्त्र, पर हो भगुये; पानी पियो चाहे स्वर्ण-निर्मित पात्र मे, पर हो कमण्डलु जैसे आकार वाला; लगाओ चाहे सुगन्धिमय केशरञ्जन, पर रहो सदा जटा-जूटारी। कोई कुछ दे तो उसकी ओर से दिखाओ विराग, यदि ख़ाली हाथ आवे तो साधु-सन्त को न खिलाने वाला कहकर उसका तिरस्कार कर दो, और शास्त्रीय भाषा में उसे दो-चार गाली भी सुना दो तो कुछ हर्ज नहीं। समझी प्यारी मनोरमा!

मनोरमा हँस पड़ी। बाबा जी भी हँसने लगे। मनोरमा ने पूछा—बाबाजी! क्या इसी इच्छा से आपने संन्यास धारण किया है।

स्वामी०—धारण नहीं किया, धारण कराया गया है। मैं वास्तव में एक ब्राह्मण का पुत्र हूँ। मेरे माता-पिता तो थे पुराने युग के अन्ध-मूर्ख। न तो थी उनमें बुद्धि, न था ज्ञान। सुना है, बहुत समय—बुढ़ापे के प्रारम्भ तक—उनके कोई बाल-बच्चा नहीं हुआ। किसी देवता के मन्दिर में जाकर उन्होंने बिनती की कि यदि उस देवता की कृपा से उन्हें दो सन्तानें प्राप्त हुईं, तो वे उस

देवता के नाम पर किसी साधु संन्यासी को अपना पहला पुत्र दे देंगे, जिससे उनका पुत्र आजन्म संन्यास-व्रत लेकर उस देवता की सेवा करे। भाग्य के विधान से अथवा उस देवता के प्रसाद से उनके दो सन्तानें हुईं। दोनो पुत्र हुए। मै उत्पन्न हुआ पहले और इसीलिए उन निर्मम माता-पिता ने मुझे एक साधु के, जो उनके यहाँ प्रायः आया-जाया करता था, हवाले कर दिया। उसने मुझे पाला-पोसा। जब बड़ा हुआ तो बदले मे उनकी सेवा करने लगा अर्थात् उन्हें पालने-पोसने लगा। उनकी कुटी में एक पण्डित जी प्रायः भाँग छानने को आया-जाया करते थे; उनसे मैंने पढ़ ली कुछ थोड़ी सी संस्कृत। था ज़रा वाचाल, बाबाजी के पास आने-जाने वालों को सुनाने लगा संस्कृत के श्लोक। वे बेचारे क्या जानें कि मैं शुद्ध बोल रहा हूँ या अशुद्ध। वे मुझे और बाबा जी को और भी श्रद्धा से देखने लगे। मै बना साधक, बाबाजी बने सिद्ध। बस, चमक उठा हमारा धर्म का व्यवसाय। होते-होते हम लोग आनन्द से जीवन व्यतीत करने लगे। इसी बीच में दस-पाँच स्त्रियाँ भी हमारे हत्थे चढ़ीं। किसी को पुत्र-दान देकर परिभ्रष्ट किया, तो किसी को पति के वशीकरण का मन्त्र बताकर कुमार्ग-गामिनी बनाया। अभी पारसाल उनका—मेरे अन्यतम गुरुदेव का—देहान्त हो गया है। अब उनकी इस कुटी का मैं ही एकाधिपति हूँ, और तुम हो इस पर्ण-कुटी की पटरानी।

यह कहकर बाबा जी ने मनोरमा के विकच कमल के समान सुन्दर कपोलों को बड़े प्यार से चूम लिया।

मनो०—तब तो बाबा जी आप इस व्यापार मे बड़े चतुर है।

बाबा०—जन्म से। और यदि मै चतुर न होता तो क्या तुम्हारी जैसी चतुर रमणी का सत्सङ्ग प्राप्त कर सकता ?

मनो०—मै ? मैं क्या चतर हूँ ?

बाबा०—बुरा न मानना। यदि तुमने संसार देखा न होता, तो क्या तुम इस भाँति अकेली काशी आती ? तुम्हारा अकेले भ्रमण करना ही कुछ अर्थ रखता है। अच्छा, तुमने कहा था कि तुम एक दिन अपनी कथा सुनाओगी, सो उसके सुनाने का इससे अच्छा और कौन अवसर होगा ?

मनो०—क्या करोगे सुनकर बाबा जी, वह एक बड़ी करुण-कथा है ?

बाबा०—हो सका तो उसके दर्द को दूर करने की प्राणपण से चेष्टा करूँगा।

मनो०—सो तो अब आपकी कृपा से सब दुःख दूर हो गए। मै काशी में किसे जानती थी ? कहाँ जाती ? कौन आश्रय देता ? और आपने तो मुझे इस कुटी की रानी ही बना रक्खा है। आप धन्य हैं। अच्छा सुनो, सुनाती हूँ।

मनोरमा ने अपनी सारी कथा बिना सङ्कोच के विस्तारपूर्वक सुना दी, पर किसी विशेष कारण-वश उसने अपने गर्भ की बात नहीं कही। कदाचित् इसके लिए उसने यह उपयुक्त समय नहीं समझा।

बाबा जी ने इस करुण-कथा को सुनकर कहा—वास्तव में रामू ने अपने पाप का समुचित फल पाया। ठीक ही हुआ।

## पैंतीसवाँ परिच्छेद

मनोरमा ने गम्भीर होकर कहा—और मेरे पाप का फल मुझे भी अवश्य मिलेगा। अब कदाचित् अधिक विलम्ब नहीं है।

बाबा०—न ! न ! छोड़ो इस कर्म-फल के जटिल पचड़े को। चलो, पानी भी बरसने लगा। चलकर जरा अच्छी गहरी छने। इस वर्षा का आनन्द ही यह है।

खूब गहरी छनी। मनोरमा को मद का सेवन अनिवार्य्य हो गया था। सुरा का स्थान लिया विजया ने और उस पर भी प्रायः नित्य ही जमता चरस का अमल। मनोरमा और बाबा जी दोनों ही तीव्र मद से उन्मत्त होकर रङ्ग में मग्न हो गए।

आधार न होने पर ठहरना कठिन हो जाता है और निरन्तर पतन अनिवार्य्य हो उठता है। उसका दृश्य कैसा वीभत्स, कैसा ग्लानि-जनक और कैसा घृणोत्पादक होता है ?

पाप और कपट, मदन और वसन्त की भाँति एक-दूसरे के एकान्त अनुरक्त और नित्य सहचर है, और दोनो का अन्तिम परिणाम है—अन्धकारमयी, ज्वालामयी कन्दरा में वीभत्स पतन !

## आक्रमण

लवन्तसिंह के प्रासाद में पहुँचते-पहुँचते रामकली विष के प्रभाव से अचेत हो गई और लगभग दो घण्टे के भीतर ही वह अपने इस पाप-क्षेत्र से प्रस्थान करके नरक की तीव्र ज्वाला में पतित हो गई। इस दुर्घटना ने यद्यपि बलवन्तसिंह के हृदय में बरवश पुण्य-विवेक की एक उज्ज्वल रश्मि प्रवेश कर दी थी; पर वह कोमल, सूक्ष्म, पवित्र किरण पाप और प्रतिहिंसा के प्रगाढ़ अन्धकार को विनष्ट करने में अक्षम रही और उसी अन्धकार में विलीन हो गई। बलवन्त के हृदय में दीन के मनोरथ की भाँति पश्चात्ताप की प्रवृत्ति उठते ही उठते मृतप्राय हो गई। बलवन्तसिंह ने उस दुर्घटना को संसार-चक्र का साधारण व्यापार कहकर उड़ा दिया। सर्प क्या किसी

को काटते नहीं हैं ? गर्मी की ऋतु थी; रात्रि का चतुर्थ प्रहर था; शीतल समीर चल रही थी; नदी का तट था, ऐसे समय प्रायः सर्प अपने विवर से निकलकर अपने तापित कलेवर को शीतल करते ही हैं। रामकली ने उस अन्धकार में सर्प को नहीं देखा; सर्प के विकराल फण पर उसका पैर पड़ गया; सर्प ने दंशन कर लिया, तब इसमें अलौकिक तथा आश्चर्य्य-घटना की कल्पना करना नितान्त अन्ध-मूर्खता है। चाहे कोई भी होता—पुण्यात्मा होता या पापी—उस अन्धकार मे यदि सर्प के फण पर वह पैर रख देता, तो निश्चय उसे मृत्यु-लोक की यात्रा करनी पड़ती। बलवन्त पाश्चात्य दर्शन और तर्क-शास्त्र के पण्डित थे, जड़वाद ही उनके पाण्डित्य का सहचर था; भारतीय अध्यात्मवाद पर उनकी कणमात्र भी श्रद्धा नहीं थी। इसीलिए इस प्रकार की घटना को वे किसी विशेष ईश्वरीय शक्ति के द्वारा घटित होना मानने को प्रस्तुत नहीं थे। इस अन्ध-विश्वास, जड़-संस्कार एवं कपोल-कल्पित सिद्धान्त को मानना वे बर्बरता तथा मूर्खता का लक्षण मानते थे। उन्होंने अपने हृदय को यह कहकर परितोष प्रदान किया कि रामकली के मरने में कोई अलौकिक क्रिया नहीं थी।

और शान्ता—शान्ता को अवश्य ही उनकी काम-वासना को शान्त करना होगा। इतना अपमान, इतनी लाञ्छना सहकर भी क्या बलवन्त चुपचाप बैठे रहने वाले थे ? वे रावण का हृदय लेकर, नहुष की बुद्धि लेकर, पाप की प्रतिहिंसा लेकर उत्पन्न हुए थे। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि तीन दिन में वे शान्ता के उस

प्रफुल्ल यौवन-वन की बहार अवश्य लूटेंगे। ललितपुर के प्रतापी एवं वैभवशाली जमींदार, योग्य एवं प्रतिष्ठित विद्वान्, विख्यात मल्ल एवं अचूक शिकारी बलवन्तसिंह क्या इतना भी नही कर सकेंगे? निस्सहाय, निर्बल शान्ता का इतना साहस? उनकी ओर छुरी दिखाकर तेज और वीर-दर्प को दिखाना? इतना अहङ्कार? न, वे इस अहङ्कार को अवश्य चूर्ण कर देंगे; चाहे इस अहङ्कार के दुर्गम दुर्ग को विध्वंस करने के लिए उन्हे अपने सर्वस्व, अपने जीवन तक की आहुति क्यो न देनी पड़े। बलवन्तसिंह इस प्रकार के अग्निमय विचारों की विकार-वह्नि में जलने लगे।

पर बलवन्तसिंह ने शान्ता का जो तेज और वीर-दर्प देखा था, उससे उन्हें विश्वास हो गया था कि शान्ता का हस्तगत करना एकबार ही आसान काम नही है। शान्ता है तो अबला, पर उसका हृदय भरा हुआ है अपूर्व वीर-भाव से। वह सीधी तौर से वश में नहीं आने की। उसके लिए उन्हें प्रबल अत्याचार करना होगा। घर में घुसकर उसे बलपूर्वक पकड़ लाना होगा। उसकी छुरी छीन लेनी होगी। आत्मघात करने से पहले ही उसे हस्तगत करना होगा। पर बलवन्तसिंह ने अपनी प्रतिज्ञा की बात रोष और आवेश में आकर प्रकट कर दी थी। इसके लिए—इस प्रत्यक्ष मूर्खता के लिए—उन्हें इस समय पश्चात्ताप हो रहा था। कहीं शान्ता आत्मघात न कर ले? तब क्या हाथ आएगा? और सम्भव है कि शान्ता रातोंरात ललितपुर छोड़कर

किसी और जगह न भाग जाय ? क्या जाने वह क्या करे ? उसमें अदम्य साहस है; अटल सङ्कल्प है; उन्मत्त प्रतिज्ञा है। अब क्या करें ? वचन और बाण तो निकलकर फिरते ही नहीं। यह सोच-कर बलवन्तसिंह ने अपने विश्वासी भृत्य सायङ्काल ही से शान्ता के घर के चारों ओर लगा दिए थे। उन सेवको की संख्या थी चार। उन्हें उन्होंने आज्ञा दी थी कि यदि रात्रि मे शान्ता घर से निकले, तो दो आदमी उसका पीछा करें और दो आदमी तत्काल ही बलवन्तसिंह को समाचार दें। और शान्ता यदि घर से बाहर न निकले तो मध्य रात्रि के समय उसके घर में घुसने को तैयार रहे। उस समय बलवन्तसिंह बिना बुलाए स्वयं ही आ जायँगे।

हाय रे मनुष्य की पापमयी काम-वासना ! तेरा स्वरूप कैसा वीभत्स है ? क्षत्रिय-सन्तान बलवन्तसिह आज चार आदमी लेकर निस्सहाया, अनाथिनी, सम्बलशून्या बाल-विधवा पर आक्रमण करेंगे। भगवान् हो, चाहे न हों—पुण्य हो चाहे न हो—धर्म एक आडम्बर-नीति का नाम हो या आध्यात्मिक सत्य का—पर इस कुकृत्य को अनुष्ठित होते हुए देखकर यदि भगवती धरित्री देवी काँपने लग जायँ, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। एक ओर है पाप का प्रबल सैन्य, दूसरी ओर है पुण्य की पवित्र कोमल रश्मि-राशि। एक ओर है अग्नि की भीषण शिखा-माला और दूसरी ओर है कोमल कल्प-किसलय। पुण्य का सरल शिशु पाप के दारुण निशाचर से घोर-युद्ध में प्रवृत्त हो रहा है।

अखिल भौतिक ब्रह्माण्ड-समूह ! इस पुण्य-भयङ्कर दृश्य को देखो—कैसा अद्भुत है ? कैसा पवित्र है ? कैसा उज्ज्वल है ?

शान्ता ज्यों ही घर से निकली, त्यों ही दो आदमियों ने उसका पीछा करना प्रारम्भ कर दिया और दो आदमी तत्काल ही बलवन्तसिंह को समाचार देने के लिए द्रुत गति से प्रधावित हुए। बलवन्तसिंह शीघ्र ही कपड़े पहिनकर उस असहाया युवती के—उस परम पुण्यमयी सती के—पीछे प्रधावित हुए।

समस्त आकाश यामिनी के कृष्णाञ्चल की भाँति नक्षत्र-राशि से खचित हो रहा था। सारी दिशाएँ अन्धकारमयी थीं। शान्ता निश्चिन्त, निरुद्देश्य, निर्विकार गति से चली जा रही थी। उसे नहीं मालूम था कि उसका दो जन पीछा कर रहे हैं। वह अपने विचारों में तन्मयी थी।

शान्ता अभी गाँव से आधे मील से अधिक नहीं गई थी। बलवन्त थे चतुर, उन्होंने शान्ता को अग्रसर होने दिया। उनका उद्देश्य था कि वे शान्ता को गाँव से दूर निकल जाने दें। गाँव से लगभग दो मील पर एक सघन वन है। उसी के पास से होकर एक सड़क जाती है। शान्ता उसी सड़क की ओर जा रही थी। बलवन्त और उनके चारों सेवक उसके पीछे-पीछे लगे हुए थे। बलवन्तसिंह ने निश्चय कर लिया था कि शान्ता जब उस वनस्थली के सन्निकट पहुँचेगी, तभी वे उस पर आक्रमण करेंगे। उसका एक और भी कारण था। यदि कदाचित् वे अपने उद्देश्य में सफल न हो सके, तो वे कम से कम शान्ता को

कलङ्कित तो अवश्य कर सकेंगे। शान्ता किस लिए रात्रि के अन्धकार मे अपना गृह परित्याग करके उनके साथ इतनी दूर तक आई थी ? इस प्रकार के लोकापवाद से वे उसे भ्रष्ट-चरित्रा कहकर उद्घोषित कर सकेंगे। दूसरे गाँव से दूर ही इस काण्ड का अनुष्ठान करना ठीक होगा। वहाँ पर वे अपने पाप-क्रम मे विशेष रूप से सफलता प्राप्त कर सकते थे। सम्भव था, गाँव के निकट यदि यह काण्ड अनुष्ठित होता, तो गाँव वालों को इसका पता लग जाता।

पाप को वास्तव मे पूर्ण बल प्राप्त कर लेने पर भी, सर्व-साधन उपलब्ध हो जाने पर भी, एवं प्रबल सहायक मिल जाने पर भी अपनी सफलता पर पूर्ण विश्वास नहीं होता है। उसके हृदय में एक प्रकार की आशङ्का और भय बना ही रहता है। वह न कभी दूर हुआ, न हो सकता है।

शान्ता धीर मन्थर गति से चली जा रही थी। पुण्य दिखा रहा था मार्ग; सङ्कल्प हटा रहा था बाधाएँ; पवित्रता प्रोज्ज्वल कर रही थी पथ; सतीत्व कर रहा था रक्षा और राजराजेश्वरी बरसा रही थीं अविरल आशीर्वाद की शान्ति-धारा ! शान्ता—सरल, पुनीत, उज्ज्वल सती शान्ता चली जा रही थी। धर्म था आगे, पाप था पीछे और बीच में थी परमानन्दमयी परमकला की प्रोज्ज्वल प्रभा !

प्रकृति के परम पवित्र निश्वास की भाँति, शीतल समीर वन्य-पुष्पों के पराग का अङ्गराग लगाकर विहार कर रहा था।

शान्ता के पुण्य शरीर का पावन स्पर्श प्राप्त करके, वह सरल गो-शिशु की भाँति अपूर्व आनन्द का अनुभव कर रहा था। नक्षत्र-मण्डल उस सतीत्व की तेजोमयी प्रतिमा को ऊपर से देखकर अपने प्रोज्ज्वल मुख-मण्डल पर प्रसन्नता एवं श्रद्धा के भाव प्रकट कर रहा था। पर पीछे-पीछे आ रहे थे निशाचर। रक्षा! रक्षा!! कौन रक्षा करेगा? अनाथों की जननी वही महामाया महासती।

महासती के पवित्र वक्षस्थल पर प्रोल्लासित होने वाले सतीत्व-रत्न को स्पर्श करना मानो साक्षात् यमराज से परिचय प्राप्त करना है!!

# सैंतीसवाँ परिच्छेद

## दैवी रक्षा

लगभग एक घण्टे में शान्ता उस स्थल पर पहुँच गई, जहाँ उस पर सहसा पाँच हिंसक जन्तु आक्रमण करने को लालायित हो रहे थे। वहाँ पर घोर अन्धकार था। सामने अटल, अचल भाव में खड़ी हुई थी वन-श्री; और नक्षत्रों के उस क्षीण आलोक ने उसे और भी तमोमयी बना दिया था। पहले कहा जा चुका है कि उस वन के प्रान्त देश से एक सड़क जाती थी, वहाँ पर एक मोड़ था। शान्ता के उस स्थल पर पहुँचते ही सहसा पाँचों जन्तुओं ने उसे चारों ओर से घेर लिया। बलवन्तसिंह ने कुलिश-कठोर, काल-कर्कश स्वर में गर्जन करके कहा—ठहरो।

शान्ता चकित हरिणी की भाँति, भीम-सारिका की भाँति, स्तब्ध हो गई। एक बार उसका कोमल हृदय भय से काँप उठा। वह इस सहसा आक्रमण के लिए प्रस्तुत नहीं थी। वह भय से

काँपने लगी। पर उसकी यह अवस्था दो-चार क्षण तक ही रही। उसे भय का स्वरूप-ज्ञान हो गया। शीघ्र ही उसने अपूर्व साहस और अद्भुत संयम के बल से अपने कलेवर के विकम्पन को रोक दिया; बड़ी अनोखी दृढ़ता एवं आश्चर्य्य-दमन से उसने अपनी भीति-प्रवृत्ति को पूर्ण रूप से दाब लिया। पुण्य-सङ्कल्प ने उसे उसका कर्त्तव्य बता दिया; धर्म ने उसकी स्तब्ध विवेक-बुद्धि को जाग्रत कर दिया। उसी क्षण घोर अन्धकार को विदीर्ण करती हुई वह तीक्ष्ण छुरी उसके कर-कञ्ज में झलमला उठी। उस समय ऐसा प्रतीत हुआ मानो साक्षात् महिष-मर्दिनी भगवती चण्डिका आकाश से अवतीर्ण हो गई हो; मानो पुण्य की परम पावन प्रतिभा मूर्तिमती होकर, हाथ में दिव्य छुरी धारण करके, पाप से युद्ध में प्रवृत्त होने के लिए प्रादुर्भूत हो गई हों; मानो साक्षात् वन-श्री उन दस्युओं को, उन निशाचरों को वन-प्रवेश करने से रोकने के लिए प्रकट हुई हों।

शान्ता के नयनों से स्फुलिङ्ग-राशि निकलने लगी। उसका मुख-मण्डल वीर-तेज से प्रोद्भासित होकर उस प्रगाढ़ अन्धकार में जगमग-जगमग करने लगा। साक्षात् भगवती दुर्गा उसके पवित्र शरीर में सूक्ष्म रूप से प्रवेश कर गईं। शान्ता का शान्त-भाव वीर-तेज के महा प्रकाश में तिरोहित हो गया। सरल-कोमल शान्ता दानव-दलिनी चण्डिका के रूप में परिणत हो गई।

उसकी इस तेजोमयी, अग्निमयी, पुण्यमयी एवं दर्पमयी मूर्ति को देखकर एक बार वे चारों निशाचर स्तम्भित हो गए।

पर प्रबल पाप पूर्णरूप से युद्ध किए बिना पराजय स्वीकार नहीं करता। बलवन्तसिंह ने गरजकर अपने साथियों से कहा—सावधान! जाने न पावे। जीवित अथवा मृत—आज इस रमणी को पकड़ना होगा।

इतना कहकर वे आगे बढ़ने लगे। शान्ता ने बड़े तीव्र स्वर में कहा—ठहरो! एक पग भी आगे मत बढ़ाना।

बल०—क्यों? न, आज नहीं चलेगा। आज तुम्हारा यह दर्प-दलन कर दूँगा।

शान्ता—मेरा दर्प! मेरा अहङ्कार! पतिव्रता का गौरव! तुम पामर अपदार्थ! तुम कैसे दलन कर सकते हो? तैंतीस कोटि देवता और समस्त निशाचर-वंश भी मिलकर मेरे इस अहङ्कार को विचूर्ण नहीं कर सकते।

बल०—छोड़ दो इस छुरी को; बन्द कर दो इस व्यर्थ के अभिनय को; दूर कर दो इस आडम्बर से भरे हुए धार्मिक उल्लास को; आज तुम्हारी रक्षा नहीं है। शान्ता! बलवन्तसिंह अपने कहे को पूरा करता है।

शान्ता—असम्भव! बलवन्त! तू क्या, त्रैलोक्य-सम्राट् भी अपने इस कुविचार को कम से कम मेरे सम्बन्ध में पूर्ण नहीं कर सकते। नहीं! मैं इस छुरी को नहीं छोड़ूँगी।

बल०—नहीं छोड़ोगी, न सही। करो तुम इस अभिनय को। मैं स्वयं ही तुम्हारे हाथ से छीन लूँगा। रमणी! आज ऐसा कोई नहीं है, जो तेरी रक्षा करे। उस दिन ही मैं तेरे इस अभिनय

को समाप्त कर देता, परन्तु दूर पर आने वाली युवतियों के राग को सुनकर मैं चला गया था। और आज, आज तेरी रक्षा नहीं है। इस निर्जन, अन्धकारमय वन में कौन तेरी रक्षा करेगा? तब व्यर्थ में इस आडम्बर से क्या लाभ है? यह अभिनय-प्रदर्शन निरर्थक है।

शान्ता—है! यहाँ भी मेरी रक्षा करने वाला है।

बल०—कहाँ है? कौन है? किधर है?

शान्ता०—नहीं देख पाता—नही, देख पाता! कैसे देखेगा? तेरी आँखें फूट गई हैं। वह देख, आकाश के रत्न-खचित प्रदेश से वह नीचे उतर रही है। वह देखो, वह वन के अभ्यन्तर से महा केसरी पर आरूढ़ होकर दौड़ी चली आ रही है। मूढ़! मेरी रक्षा! मेरी रक्षा! स्वयं महामाया करेंगी। पत्ते-पत्ते से वह निकल रही हैं। समीर पर चढ़कर वह आ रही हैं। प्रत्येक परिमाणु से वह प्रकट हो रही हैं।

बल०—इस कविता से काम नहीं चलेगा। बोलो, जल्दी बोलो, क्या मुझे बलात्कार ही करना होगा? क्या अन्त में स्त्री पर हाथ उठाना ही पड़ेगा?

शान्ता—बलात्कार! बलात्कार! कौन करेगा? तू! तू निकृष्ट, पामर, पापी निशाचर! सावधान! आज मैंने भयङ्कर सङ्कल्प किया है। आज मै केवल आत्मघात ही नही करूँगी, किन्तु अपने बैरी के तप्त रुधिर से आज मै इस छुरिका को स्नान कराऊँगी। सावधान! बलवन्त! तू नाग-कन्या से खेल

खेल रहा है। तू केसरिणी के क्रीड़ा कर रहा है। इसका परिणाम बड़ा भयङ्कर होगा। छोड़ दो मार्ग को—हट जाओ तुच्छ कीट! नहीं तो, नहीं तो आज रक्त का सिन्धु अवश्य ही प्रवाहित होगा।

कहते-कहते शान्ता के नयनो से अग्नि-स्फुलिङ्ग की वर्षा होने लगी; सारे शरीर से रोष एवं वीरभाव की अग्नि-ज्वाला निकलने लगी। ललाट पर भगवान् भूतेश्वर के कोदण्ड के समान त्रिपुण्ड रेखा अङ्कित हो गई। शान्ता आज रक्तबीज-मर्दिनी कराल काली के रूप में परिणत हो गई !!

एक बार बलवन्तसिंह का हृदय काँप गया। उसके चारों साथी उसकी इस दर्पमयी, कराल, कालिका-मूर्ति को देखकर भय से उद्विग्न हो गए। वे तो इतने भयभीत हो गए कि यदि उन्हें बलवन्त के भयङ्कर रोष में पतित होकर प्राण-विर्सजन का भय न होता, तो वे अवश्य भाग जाते। उन्होने समझा, और सत्य समझा कि साक्षात् भगवती अवतीर्ण हुई हैं। उसका प्रतिरोध कौन करेगा ? उसके साथ युद्ध करना निश्चय मृत्यु का आलिङ्गन करना है। वे पाषाण-प्रतिमा की भाँति खड़े रहे।

पर बलवन्तसिंह था पूर्ण निशाचर—वह आगे बढ़ा, विकराल लाठी लेकर आगे बढ़ा। शान्ता ने भी दृढ़ मुष्टि से छुरी पकड़ी। बलवन्तसिंह ने उसके हाथ को लक्ष्य करके लाठी चलाई; पर वह वार व्यर्थ गया। दूसरी बार उसने लाठी उठाई; पर लाठी के गिरते-गिरते शान्ता की तीक्ष्ण छुरी बलवन्तसिंह के वामस्कन्ध-देश में मूठ तक प्रवेश कर गई। इस बार लाठी का भी वार

खाली नहीं गया। वह शान्ता के हाथ पर न पड़ कर पड़ा उसके शिर पर। बलवन्तसिंह "आह" कहकर और शान्ता "त्राहि माम् जगज्जननी" कहकर पृथ्वीतल पर पतित हो गई।

ठीक उसी समय वन के मध्य से एक त्रिशूलधारी, बलिष्ठ योगीश्वर निकल पड़े। उन्होंने भीम-गर्जन करके कहा—भय नहीं है, मैं आ गया।

चारों जनों ने समझा कि साक्षात् भवानी-पुत्र भैरव आ रहे हैं। वे शिर पर पैर रखकर भागे। उनका पता भी नहीं चला।

योगीश्वर ने देखा कि एक सरल बालिका शिर पर आघात लगने के कारण बेहोश पड़ी है। पास ही में एक युवक भी छुरी के आघात से अचेत है। पर प्राण दोनों ही में हैं। योगीश्वर ने अपने योग-बल से प्रकृत घटना का मर्म जान लिया। बलवन्तसिंह के स्कन्ध-देश से धीरे-धीरे उन्होंने छुरी निकाल ली और अपना वस्त्र फाड़कर उस पर एक पट्टी बाँध दी, और कुछ नहीं किया। उसे इसी भाँति पड़ा रहने दिया। केवल एक बार तीव्र स्वर में चिल्लाकर कहा—मैं जाता हूँ। इस नराधम के साथियों में से यदि कोई सन्निकट हो तो इसे उठा ले जाय। इसमें अभी प्राण है।

वन-स्थली इस भीम-गर्जन से गूँज उठी। योगीश्वर शान्ता के रक्त-रञ्जित कलेवर को लेकर शीघ्र ही वन के मध्य में अन्तर्हित हो गए। उन चारों में से दो जन वहाँ ही झाड़ी में छिप गए थे। धीरे-धीरे योगीश्वर के चले जाने पर वे बाहर निकले और बलवन्तसिंह

के शोणित-सिक्त शरीर को लेकर वह उस अन्धकार में अदृष्ट हो गए।

जो सर्व-व्यापिनी है; प्रत्येक परिमाणु जिसकी अक्षय प्रभा से प्रोद्भासित है; जो किसी को दिखाई नहीं देती, पर जिसके द्वारा सब कोई देखते हैं, उस जगज्जननी का विमल प्रकाश प्रत्येक स्थल पर, प्रत्येक उपयुक्त अवसर पर स्वतः ही आविर्भूत होकर अभेद्य तिमिर-राशि का समूल विनाश कर देता है। आवश्यकता है, केवल विश्वास की—एकान्त अविच्छिन्न, अटल, अचल विश्वास की॥

## पश्चात्ताप

बलवन्तसिंह को बड़ी गहरी चोट लगी थी। यद्यपि उनके प्राणों की रक्षा हो गई थी, किन्तु उन्हें लगभग तीन महीने तक शय्या-सेवन करनी पड़ी। उनके परिवार में उनकी एक वृद्धा विधवा बुआ को छोड़कर और कोई नही था। बलवन्तसिंह का विवाह हो गया था; पर वह सती पति के इन कुकृत्यों को देखकर मन ही मन दुःख पाने से पहले ही परलोक को पधार गई थी। गौने के तीन-चार महीने के उपरान्त ही उसका देहान्त हो गया था, और उसके बाद ही बलवन्त विलायत चले गए। जब वे वहाँ से लौटे तो उस समय पाश्चात्य विद्युत्प्रभा से उनकी बुद्धि ऐसी आक्रान्त हो गई थी कि वे विवाह जैसे परम पवित्र संस्कार को अनावश्यक समझने

लगे थे। विवाह बन्धन में बँध जाने से एक स्त्री के हाथों मे बिक जाना पड़ता है। विवाह सोने की बेड़ियाँ है, जो मनुष्य की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेती हैं। और भी, नित्य निरन्तर नूतन-नूतन पुष्पो के मकरन्द पान करने मे विवाह बड़ी-बड़ी बाधाएँ डालता है। इसीलिए यद्यपि विवाह के अनेक प्रस्ताव आए, पर उन्होने सबके सब अस्वीकृत कर दिए। लोगो ने समझा कि वे बड़े सच्चे प्रेमी हैं, पहली पत्नी के पवित्र एकान्त प्रणय के कारण ही वे विवाह के प्रस्तावों को अस्वीकार कर देते हैं। लोग इनके इस देव-दुर्लभ आचरण को देखकर उन पर और भी श्रद्धालु हो गए। समाचार-पत्रों के बड़े-बड़े कालम उनकी इस पवित्र धर्म-प्रवृत्ति की गुण-गाथा से परिपूर्ण होने लगे। वे एक पत्नीव्रत के आदर्श उदाहरण कहकर उद्घोषित किए गए। पर उनके आन्तरिक जीवन के इन पापमय रहस्यो को कौन जानता था ? कौन जानता था कि प्रेम और आचार का आडम्बर करके श्रीमान् ठाकुर बलवन्तसिंह घोर व्यभिचार मे प्रवृत्त रहते थे ?

उनके परिवार मे उनकी एक वृद्धा विधवा बुआ जी को छोड़-कर और कोई नहीं था। लगभग जीवन के चतुर्थ चरण तक वे और उनके पूज्य पति साथ-साथ संसार-यात्रा करते रहे। पर जब युवावस्था का विकार-बहुल मद शान्त हो चुका था; जब वासना प्रशमित होकर शुद्ध सात्विक प्रणय मे परिणत हो चुकी थी, जब संसार के सारे अनुभव, सारे सुख-दुःख, सारे हर्ष-विषाद एकान्त भगवच्चिन्तन की ओर प्रवाहित होने लगे थे, तब उनके परमाराध्य

पति उन्हें इस विशाल विश्व मे अकेली छोड़कर ऊपर—बहुत ऊपर, नक्षत्र-लोक से भी ऊपर—चले गए। उन दोनों को सन्तानें न प्राप्त हुईं हो, सो बात नही थी। पर दैव के दुर्विधान से एक-एक करके ग्यारह पुत्र और पुत्री काल के कवल बन गए। उसी दुःख मे जर्जर होकर पति तो ध्रुव सत्य लोक को चले गए और उनकी वृद्धा पत्नी उनकी अक्षय स्मृति को लेकर संसार के अन्धकार में विचरने लगीं। उनके दो गाँव थे। अतः उन्हे भोजन-वस्त्र का कोई कष्ट नहीं था, पर वे पुराने समय की रमणी थीं; अकेली—बिना अभिभावक के—रहना वे धर्म-विरुद्ध समझती थीं। अतः वे अपने भाई अर्थात् ठाकुर बलवन्तसिह के पिता ठाकुर यशवन्तसिंह के पास आकर रहने लगीं। भाई ने बहिन को बड़े आदर से, बड़े स्नेह से अन्तःपुर की स्वामिनी बना दिया। पर थोड़े दिनों में वे भी चल बसे और वे अपने भाई के एकमात्र पुत्र ठाकुर बलवन्तसिह को देख-देखकर अपने तापित प्राणों को और आकुल मन को शीतल करने लगी। उन्होंने अपनी समस्त सम्पत्ति का अर्द्धांश तो पति के पवित्र नाम पर दान कर दिया और आधा अपने प्रिय पात्र बलवन्त को अर्पण कर दिया। उन्होंने बलवन्त को विवाह कर लेने के लिए बहुत-कुछ विवश किया—वे बहुत-कुछ रोईं-धोईं; पर उन्हें इस विषय मे सफलता नहीं प्राप्त हुई। वे बेचारी तब चुप हो रहीं और स्वयं ही बलवन्त की तन्मयी, वात्सल्यमयी सुश्रूषा करने लगीं। अस्तु—

बलवन्त के इस प्रकार भयङ्कर रूप से आहत होने के कारण

वे बड़ी विकल हो उठीं। तत्काल ही तार देकर लखनऊ से दो प्रसिद्ध डॉक्टर बुलाए गए। बृहत् प्रासाद के सुसज्जित कमरो में वे ठहराए गए। धन की कमी नही थी, उस पर थी वृद्धा बुआ जी की सेवा। बलवन्त के प्राणो की रक्षा हो गई। डॉक्टरों के हस्त-कौशल और निपुण चिकित्सा ने उन्हे जीवन-दान दे दिया, पर तब भी उन्हें चेतते-चेतते लगभग तीन मास का समय लग गया। बुआ जी की सेवा सफल हो गई।

एक दिन की बात है, बलवन्तसिह अच्छे तो हो गए थे; उनका घाव भी भर गया था, पर अभी निर्बलता नहीं गई थी। वे अब धीरे-धीरे महेन्द्रा-दुकूल पर वायु-सेवन करने के लिए आने लगे थे। पर अब उनका वह भाव नहीं रह गया था। उनका मुख गम्भीर हा गया था—उस पर न तो था वह विलक्षण हास्य और न थी वह निशाचर की सी भयङ्करता। अब तो ऐसा मालूम होता था कि मानो उनका हृदय निरन्तर अन्तराग्नि की लपटों में झुलसता रहता हो। गम्भीरता की गहरी छाप उनके मुख पर परिलक्षित होने लगी थी। अग्निमय अन्तर्द्वन्द्व का आभास उस पाण्डुमुख पर पूर्ण रूप से प्रकट हो रहा था।

क्वार का महीना था; मेघ-निर्मुक्त स्वच्छ आकाश के पूर्व प्रान्त की ओर पाण्डु-वर्ण पूर्णचन्द्र धीरे-धीरे उदय हो रहा था। दक्षिण प्रान्त पर एक—केवल एक—नक्षत्र धूलि में पड़े हुए हीरक-खण्ड की भाँति देदीप्यमान था। शीतल समीर बह रहा था और महेन्द्रा की स्वच्छ धवल धारा, उस शीतल वायु के परिहास से प्रसन्न

होकर, कलकल करती हुई प्रवाहित हो रही थी। एक स्फटिक-स्वच्छ शिला-खण्ड पर आकर ठाकुर बलवन्तसिंह आसीन हो गए। वहाँ कोई नहीं था। दूर तक किसी मानव का कण्ठ-स्वर तक नहीं कर्णगोचर होता था। कल्पना के विहार के लिए विलासमय कक्ष की भले ही आवश्यकता हो, पर चिन्ता स्निग्ध, निर्जन निकुञ्ज मे ही रमना पसन्द करती है। बलवन्त चिन्ता करने लगे। उनके हृदय की सारी भाव-राशि चिन्ता के उस निर्मल, मनोहर नृत्य में ताल देने लगी। अर्द्धस्वगत स्वर मे ठाकुर बलवन्तसिंह कहने लगे:—

"कैसी भ्रान्ति थी? रमणी को मैं सदा विलास और भोग की सामग्री समझता था। मैंने कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि स्त्री—निर्बल, सरल, रमणी इस प्रकार धन, बल एवं प्रलोभन को घृणा की दृष्टि से देख सकती है। नारी का गौरव अब तक अज्ञात था, रमणी की महिमा अब तक प्रच्छन्न थी। अहा! कैसा भगवती का सा जाज्वल्यमान स्वरूप था? हाथ में थी विकम्पित छुरिका, अधर पर मचल रहा था साहस-सखा सङ्कल्प, मस्तक पर विलसित हो रहा था पवित्र वीर-तेज। अब तक मैंने जितनी स्त्रियाँ प्राप्त की थीं, वे सबकी सब कुभाव से भरी हुई थीं, और उन्हीं को देखकर मैंने नारी-स्वभाव की निर्बलता का अनुमान किया था। रामू ने ठीक ही कहा था कि शान्ता को पाना सहज नहीं है। वास्तव में सती का सतीत्व ब्रह्म से भी अधिक विशाल, हिमाचल से भी अधिक अटल एवं भगवान् शङ्कर की जटा-जूट से

कन्दरा में पतित होने वाली त्रिपथगामिनी मन्दाकिनी की शीतल धारा से भी अधिक पवित्र है। आँखें खुल गईं! उसकी पवित्र छुरी के आघात ने मेरे हृदय की कालिमा को छिन्न-भिन्न कर दिया। अपने ही रक्त मे स्नान करके मानो मैंने अक्षय ज्योति को प्राप्त कर लिया। शान्ते! शान्ता! तुमने मेरे साथ बड़ा उपकार किया; तुमने मुझे आहत नहीं किया, तुमने वास्तव में मुझे नवजीवन प्रदान किया। क्या था वह मेरा पूर्ववर्ती विलास-जीवन? पाप का एक स्तूप था, कपट का एक उन्मत्त नृत्य था, वासना की एक प्रबल चीत्कार था, रात-दिन एक ही चिन्ता, एक ही भावना रहती थी। पर आज मैं उस जीवन की स्मृतिमात्र से आत्म-ग्लानि में जला जा रहा हूँ।

"शान्ता—कौन जाने मेरी लाठी के प्रबल आघात से उसके प्राण पयान कर गए हों। पर नही, ऐसा नहीं हुआ है। न मालूम कौनसी अदृश्य शक्ति मेरे हृदय में बार-बार कह रही है कि सती शान्ता अभी तक जीवत है। उसका परम पवित्र जीवन इस भाँति नष्ट हो जायगा; संसार के किसी विशेष महोद्देश्य को साधन किए बिना ही वह इस विश्व से चली जायगी; रमणी-मण्डल की चारु चन्द्रिका, पातिव्रत्य की मूर्तिमती साधना वीरत्व की शरीरधारिणी प्रतिमा शान्ता, इस प्रकार एक लम्पट, एक महा पापी के हाथ से मारी जाकर स्वर्गलोक को आलोकित करने के लिए चली जायगी, ऐसा होना एक प्रकार से अत्यन्त दारुण विधि-व्यापार होगा। पाप की वेदी पर पुण्य की निर्मम बलि एक अस्वाभाविक घटना

भले ही न हो, पर है वह बड़ी दरुण-व्यथामयी। हाय! यदि कहीं वह वास्तव में मर गई हो, तो फिर मेरा निस्तार नहीं है; चिरकाल तक मुझे रौरव नरक की विकराल अग्नि में पड़कर भस्म होना होगा। पर नहीं, नहीं, उसने उन योगीश्वर की, जिनके विषय में मेरे आदमियों ने मुझे पीछे बताया था, सेवा एवं सुश्रूषा से अवश्य ही पुनर्जीवन प्राप्त कर लिया होगा। मेरा मन कम से कम यही कह रहा है। इसके विपरीत मानने को वह किसी भाँति समुद्यत ही नहीं होता।

"इस आत्म-ग्लानि को प्रशमित करने का साधन है—हार्दिक पश्चात्ताप एवं त्यागमय प्रायश्चित्त। मै शान्ता को ढूँढ़ूँगा। अब संन्यास ले लूँगा। छोड़ दूँगा इस मत्सरमय विश्व को, तोड़ दूँगा इन मायिक बन्धनो को। मैं उस महासती की खोज करूँगा। तीर्थ-स्थानो के कोने-कोने मे उसे ढूँढ़ूँगा। निरन्तर एक वर्ष तक बिना विश्राम लिए मैं उसकी खोज करता फिरूँगा। यदि मेरे सौभाग्य से वह मिल गई, तो उसके पैरों पर गिर कर उससे क्षमा मागूँगा; और यदि न मिली, यदि भाग्य का विधान ऐसा ही निष्ठुर हुआ, तो घोर तप के द्वारा उसकी प्राप्ति के लिए चेष्टा करूँगा।

"आज मैं इस चन्द्रिका-चर्चित उन्मुक्त आकाश के नीचे, इस दक्षिण प्रान्त पर चमकने वाले परम पवित्र नक्षत्र को साक्षी बना-कर, महेन्द्रा के इस शान्ता-पद-पूत-दुकूल पर, प्रकृति के इस रम्य, नीरव, निर्जन निकुञ्ज मे अपनी समस्त स्थावर और जङ्गम

सम्पत्ति को शान्तादेवी के चरणो में अर्पण करता हूँ। वह इसे जिस पवित्र धार्मिक कार्य्य मे चाहे लगावे । मैं भीख माँगकर खाऊँगा । अपने इस पापपूर्ण जीवन के भूतकाल को तप की कठोर ज्वाला में भस्म करने की चेष्टा करूँगा। सारा विश्व मेरा विहार-स्थल होगा और मेरा हृदय महासती शान्ता के पवित्र निर्मल आलोक से समुद्भासित होगा। वह मेरी इष्ट-देवी है। शान्ता ही के स्वरूप मे मै आदि-जननी महामाया की महामूर्ति की कल्पना करके उसकी आराधना करूँगा। उसकी मूर्ति मे मैं पवित्र प्रकृति का परम रम्य-मनोहर दर्शन करूँगा। शान्ता माँ! मेरी जननी !! इस अपने घोर नारकी पुत्र को क्षमा करना। माँ ! तुम बड़ी दयामयी हो।

"शान्तिमयी शान्ता ! मेरी जननी ! तुम चाहे कहीं हो, पर तुम्हारे आलोक से यह लोक प्रोज्ज्वल हो रहा है। तुम पातिव्रत्य की सफल साधना हो; रमणी-मण्डल की प्राणमय शक्ति हो, नारी-महिमा का परम आदर्श हो; त्याग की परम सीमा हो; वीरत्व का उद्गम हो, सङ्कल्प की हिमाचल हो; संयम की श्री हो; तुम्हारे पवित्र पादारविन्द मे यह महापापी अपने पापों की मुक्ति के लिए, आत्म-ग्लानि और परिताप से विह्वल होकर सच्चे प्रायश्चित्त एवं निश्चित पश्चात्ताप का सङ्कल्प लेकर प्रणिपात करता है। अधिक नहीं, केवल एक कण—अपने पाद-पङ्कज की पराग का एक परिमाणु—इस प्रणत उत्तप्त ललाट पर पतित होने दो। जननी ! तुम्हारी करुणा होगी, मेरा कल्याण

हो जायगा; तुम्हारी दया होगी, मेरा उद्धार हो जायगा। तुम्हारे पाद-पङ्कज के पवित्र स्पर्श-मात्र से यह पापी भव-सागर से पार हो जायगा, मेरी माँ!"

प्रायश्चित्त के प्रबल वायु-वेग से पाप के मेघ-मण्डल हटने लगे और दूर पर—स्वर्ग की प्रथम सीमा पर—पुण्य के पवित्र सुधाकर की प्रथम कला का प्रकाश धीरे-धीरे प्रकट होने लगा!!

## धर्म्म-पिता

न-स्थली के ठीक मध्य-भाग में योगीश्वर की पर्ण-कुटी थी। वन के इस मध्य-भाग को हम यदि तपोवन के नाम से अभिहित करें, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। नीरव शान्ति का यहाँ एक-मात्र साम्राज्य था। प्रकृति ने स्वयं अपनी कल्पना से इसे चित्रित किया था। फल-विनम्र वृक्षों की श्रेणी विनय का पाठ पढ़ा रही थी। पक्षि-कुल आनन्दमय गान करते थे। मृग-समूह सरल शिशु की भाँति किलोल करते थे। योगीश्वर करुणामय पिता की भाँति इसी कुटी में रहते थे।

योगीश्वर वीतराग संन्यासी थे; पर वे वीतराग का अर्थ करते थे निखिल प्राणिमात्र पर परम प्रेम। प्रेम की पवित्र धारा को कठोर उदासीन भाव की प्रखर ज्वाला से सुखा देना वे अपना कर्त्तव्य नहीं मानते थे। संसार को अपनी शीतल, स्वच्छ, पवित्र सेवा की सुधा-धारा में स्नान कराना ही उनके पवित्र

संन्यास-जीवन का एकमात्र लक्ष्य था। विराग का वे अर्थ करते थे विश्व-प्रेम—वह प्रेम, जो देश, काल और पात्र की सीमा को अतिक्रम करके अनन्त विशालत्व में परिणत हो जाय; जो प्रेम निखिल ब्रह्माण्डों को एक अनवच्छिन्न सूत्र में आबद्ध कर दे; जो प्रेम द्विभाव को हटाकर अखिल जीवों को एकत्व के चिर-कोमल बन्धन में बाँध दे। राग का परम—अनन्त—असीम उत्कर्ष ही उनकी दृष्टि में पूर्ण वैराग्य था। संसार से विरक्त होकर, दुःख और व्यथा से परास्त होकर, रोगी-दुःखी की उपेक्षा करके, सेवा और सुश्रूषा को परित्याग करके, एकमात्र आत्म-चिन्ता के लिए जो कायर की भाँति निर्जन वन-स्थली में छिप-कर बैठते हैं, उन्हें वे उद्भ्रान्त उदासी मानते थे। उनकी दृष्टि में कर्म-संन्यास का अर्थ कर्त्तव्य का सर्वतोभावेन निर्विकार त्यागमय पालन करना था। इसीलिए योगीश्वर समय-समय पर निर्बल को अत्याचार के कवल से बचाते; व्यथा को करुणा के द्वारा प्रशमित करते; अभाव को निस्स्वार्थ दान से दूर करते। उन्हें सब कोई जानते थे, आसपास के सारे लोग उनके उस निस्स्वार्थ-भाव से परिचित थे और वे सब उन्हें बड़ी श्रद्धा से देखते थे। पर आज तक कोई भी इस बात का पता न लगा सका कि योगीश्वर रहते कहाँ हैं। वे संसार के कोलाहल में अपना कठोर कर्त्तव्य पालन करके, प्रकृति की चिर-शान्तिमयी वनस्थली में लौट जाते थे। इस वनस्थली का मार्ग बड़ा गुप्त था, लता गुल्मादि से ऐसा ढँका हुआ था कि उसे उनके अतिरिक्त और

कोई नहीं जानता था। उनकी नीरव, शान्त तपश्चर्य्या में कहीं व्याघात न हो, इसीलिए उन्होंने अपनी पर्ण-कुटी का प्रच्छन्न पथ किसी को नहीं बताया था। इसी कुटी मे लाकर उन्होंने शान्ता को कोमल आसन पर सुला दिया और वे तन्मय होकर उसकी सुश्रूषा मे लग गए।

आघात यद्यपि प्राणघातक नहीं था, पर था भयङ्कर। योगीश्वर बड़े ऊँचे दर्जे के चिकित्सक भी थे। वन में उत्पन्न होने वाली सञ्जीवनी औषधियों का उन्हे पूर्ण ज्ञान था। उनकी दिव्य दृष्टि, उनकी सतत सुश्रूषा और अव्यर्थ चिकित्सा होते हुए भी सात दिन बीतने पर आठवें दिन शान्ता ने आँखें खोलीं। पवित्र वात्सल्य की मन्द मधुर मुस्कान से योगीश्वर ने उस जाग्रत चेतना का अभिनन्दन किया। आनन्द की एक धारा बह चली।

दोपहर का समय था। यद्यपि सूर्य्यदेव मध्यगगन में विराजमान थे, पर कुछ तो वर्षा-ऋतु के कारण और कुछ उन लता-बेलि-वेष्ठित वनस्थली की स्निग्ध छाया के कारण उनका प्रखर प्रताप वहाँ उतना असह्य नहीं प्रतीत होता था। वन्य चमेली के सुरभित अञ्चल से अठखेलियाँ करके मन्द मलय-समीर आनन्द से थिरक रहा था; पवित्र शान्ति मूक भाव से ताल दे रही थी; आनन्द का राग उत्थित हो रहा था।

शान्ता चकित भाव से अपने चारों ओर देखने लगी। उसे चैतन्यता हो गई थी अवश्य, पर अभी उसकी स्मृति प्रसुप्त थी। वह बड़े आग्रह से बड़े प्रयत्न से, उन घटनाओं को स्मरण करने

की सतत चेष्टा कर रही थी। धीरे-धीरे वे घटनाएँ बाइस्कोप की चञ्चल चित्रावली की भाँति आती-जाती थीं, पर तब भी मस्तिष्क के आघात के कारण एवं बुद्धि व्यापार के एकान्त शिथिल हो जाने के कारण शान्ता उन्हे क्रमानुसार शृङ्खला-बद्ध नही कर पाती थी। योगीश्वर उसके इस विकल भाव को जान गए। वे वात्सल्य-रस से सनी हुई कोमल मधुर वाणी में बोले—बेटी ! तुम निश्चिन्त भाव से विश्राम करो। मस्तिष्क पर विशेष ज़ोर देने से विशेष अनिष्ट होने की सम्भावना है। तुम धीरे-धीरे बहुत शीघ्र स्वस्थ हो जाओगी। अब चिन्ता की कोई बात नहीं है।

शान्ता ने बड़े क्षीण स्वर में पूछा—मैं कहाँ हूँ ?

योगीश्वर ने आन्तरिक स्नेह के साथ कहा—अपने पिता की कुटी में—एकान्त निरापद स्थान में। बेटी ! तुम निश्चिन्त रहो, अब कुछ भय नहीं है। तुम अपने सतीत्व के प्रताप से, अपने पवित्र अदम्य साहस से बैरी के हाथ से बच कर मेरी कुटी में आ पहुँची हो। अब कुछ भय नही है। यह तपोवन है, यहाँ अत्याचार प्रवेश ही नहीं कर सकता। तुम विश्राम करो, विशेष मत सोचो।

महासती शान्ता ने ऊपर की ओर हाथ उठाकर कहा—जय हो भगवती राजराजेश्वरी जगज्जननी की, अब मुझे स्पष्ट स्मरण हो रहा है कि मैंने पृथ्वी पर पतित होते समय किन्हीं महापुरुष की अभय-वाणी सुनी थी। वह स्वर आप ही के जैसा

था। भगवन्! क्या आप ही ने देवदूत की भाँति मेरी रक्षा की थी?

योगीश्वर ने श्रद्धापूर्वक कहा—मै चाहे कोई क्यो न होऊँ, पर क्या मैं तुम्हारी रक्षा कर सकता हूँ। सती? तुम अजेय हो। तुम्हारा वह पवित्र वीर-वेश देखकर तुम्हारा वह भगवती दुर्गा का सा रणोल्लास देखकर मै धन्य हुआ हूँ। मैं जो तुम्हें बेटी कहकर पुकारता हूँ, सो केवल इसलिए कि तुम्हारी ओर स्वतः ही मेरे हृदय की वात्सल्य-धारा प्रवाहित हो रही है। नहीं तो तुम्हे मैं साक्षात् जननी की अवतार-मूर्ति मानता हूँ—तुम्हें मैं साक्षात् महामाया का स्वरूप समझता हूँ।

शान्ता ने सरल भाव से कहा—भगवन्! ऐसा न कहिए। उस दिन यदि आप न होते, तो वे पाँचो नर-पिशाच न मालूम मुझ पर क्या अत्याचार करते। मैं तो अब भी उस दिन की बात सोच-सोचकर काँप उठती हूँ।

योगीश्वर ने गम्भीर होकर कहा—मैं न आता, आकाश से उतर कर स्वयं महारानी दौड़ी आतीं। माँ स्वयं केसरी पर आरूढ़ होकर वनस्थली से निकल पड़तीं, और अपने इस तेजोमय पवित्र स्वरूप की रक्षा करतीं। बेटी! सतीत्व अक्षय अग्नि के समान है, उसके बिना भस्म हुए पाप स्पर्श ही नहीं कर सकता। सतीत्व महाप्रवृत्ति की महानदी का आकाश-चुम्बी शैल-शिखर से पतित होने वाला सुन्दर भयङ्कर प्रपात है। उसमे बिना डूबे हुए कोई अवगाहन नहीं कर सकता। पर बेटी! जाने

दो इस समय इन बातों को। तुम पहले स्वस्थ हो जाओ। तुम्हारे शीघ्र आरोग्य-लाभ के लिए परम शान्ति और अविरल विश्राम ही श्रेयस्कर है।

शान्ता ने कृतज्ञता-भरी दृष्टि से योगीश्वर की ओर देखा। फिर बोली—पिता ! एक बात—केवल एक बात—क्या बलवन्त मेरी छुरी के आघात से मर गया ? क्या मुझे नर-हत्या का दोष लगेगा ही ?

योगीश्वर ने कुछ उद्वेग के स्वर मे कहा—हत्या का दोष ? जो हत्या सतीत्व को सुरक्षित रखने के लिए की जाती है; पाप के पाश से पुण्य के परित्राण के लिए की जाती है; जननी-जन्म-भूमि के उद्धार के लिए की जाती है, उसमे दोष, अपराध या पाप का अंशमात्र भी नहीं होता है। पर तब भी बेटी ! मेरा विश्वास है, मैंने परीक्षा भी की थी कि आघात यद्यपि भयङ्कर था, पर प्राणघातक नहीं था। मेरा विश्वास है, बलवन्त की प्राण-रक्षा हो जायगी।

शान्ता ने भक्ति-भरित स्वर में कहा—कोटि-कोटि धन्यवाद है भगवती महामाया का। रक्षा करने के लिए जितना आघात आवश्यक है, उससे अधिक मारना पाप है। पर भगवती ने मुझे इस पाप से बचा लिया। पर पिता ! वह छुरी, वह मेरी माँ की शेष स्मृति क्या उसी के साथ चली गई ?

योगी०—नहीं बेटी ! उसे मैं ले आया हूँ न मालूम मेरे हृदय में क्यों ऐसी अन्तर्प्रेरणा हुई कि मैंने उसे उसके स्कन्ध-

देश से निकाल लिया। उस स्थल पर मैंने एक पट्टी भी बाँध दी थी। बेटी! वह छुरी मेरे पास है; लाऊँ क्या ?

शान्ता ने शान्त स्वर मे कहा—यदि आपकी इच्छा हो तो।

योगीश्वर ने अपने कुशासन के सामने वाली यज्ञ-वेदी पर से वह पवित्र छुरी उठा ली। उठाकर उसे उन्होंने महासती शान्ता के हाथ मे दे दी। शान्ता ने उसे शिर से लगाकर हृदय से लगा लिया। वह उसकी माँ का शेष स्मृति-चिह्न थी, वह उसकी सतीत्व-रक्षा का मन्त्रपूत पाशुपत अस्त्र थी।

आनन्द के उस उल्लास ने एवं मातृ-प्रेम की उस पुण्य-स्मृति ने उसे फिर से अचेत कर दिया। पर वह मूर्च्छा शान्तिदायिनी थी।

कभी-कभी अहिसा हिसा के पाद-पद्म पर अपनी सिद्धि के लिए बड़ी श्रद्धापूर्वक प्रणिपात करती है !!

# चालीसवाँ परिच्छेद

## पाप का प्रतिशोध
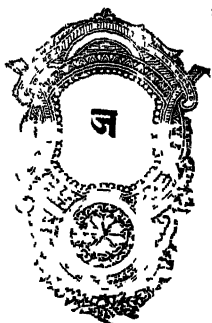
जहाँ पर नदी की धारा कुछ वेगवती होती है तथा जहाँ पर इस बात का विशेष भय रहता है कि वह कहीं पृथ्वी को काटकर जल-मग्न न कर दे, वहाँ पर उसके वेग को रोकने के लिए पत्थरों का टीला बना देते हैं। वहाँ पर कालान्तर में एक बड़ा कुण्ड हो जाता है। धारा का वेग भी वहाँ अधिक प्रबल हो जाता है, और वह अपने इस प्रबल प्रतिरोध को देख-कर उस पर बड़े भयङ्कर रूप से प्रहार करती है तथा अपने रोष को भीम-गर्जन द्वारा परिव्यक्त करती है। भण्ड बाबा विद्यानन्द की कुटी से थोड़ी दूर पर गङ्गा की प्रबल धारा को रोकने के लिए एक ऐसा ही टीला बना हुआ था। उसी पर इस समय कपटी मुनि तथा सुन्दरी मनोरमा बैठे हुए हैं। उनके मुख पर बड़ी गम्भीरता है। मनोरमा गर्जनकारिणी तरङ्ग-माला के उस घात-

प्रतिघात को देख रही थी और बाबा विद्यानन्द दूर पर—बड़ी दूर पर अन्धकार से आवृत्त किसी अदृश्य पदार्थ को देखने की चेष्टा कर रहे थे। दोनों के मुख पर विषाद, गम्भीरता और विरक्ति की कल्लोलिनी किलोल कर रही थी। दोनों मूक थे।

रात्रि के प्रथम प्रहर के स्थान पर दूसरे प्रहर ने लगभग एक घण्टा हुआ अधिकार कर लिया था। आकाश-मण्डल सुधांशु-शून्य था; कृष्ण-वर्ण गगन-मण्डल महामाया की उन्मुक्त वेणी की भाँति नक्षत्र-रूपी मोतियों से गुम्फित था। उस समय न थी बहुत गर्मी, न थी बहुत सर्दी। वायु की गति थी मन्द, स्पर्श था शीतल एवं प्रवाह था अविरल। अन्धकार के उस अभेद्य आवरण में भी भगवती गङ्गा जी की वह विमल, निर्मल, वेगवती धारा स्निग्ध, स्वच्छ, सुन्दर आनन्द-प्रवाह की भाँति, अनन्त महासागर की ओर, अविश्रान्त गति से, गम्भीर कलकल ध्वनि करती हुई बही चली जा रही थी। मनोरमा और बाबा जी दोनों मौन भाव से बैठे थे। दोनों कुछ कहना चाहते थे, पर भूमिका अभी प्रस्तुत नहीं कर पाए थे। दोनों ही चिन्ता के अटूट प्रवाह में डूबे हुए थे। वे लगभग आध घण्टे तक इसी भाँति बैठे रहे। मूक, निश्चल, गम्भीर होकर वे दोनो किसी अस्पष्ट भावना में निमग्न थे।

बाबा जी ने मौन भङ्ग करके कहा—मनोरमा! तुम्हें मेरे साथ ऐसा विश्वासघात नहीं करना चाहिए था?

मनोरमा—कैसा? मैंने क्या किया?

बाबा जी ने कर्कश स्वर में कहा—कैसा ? कैसा ? इतनी निर्लज्जता की बात कहते तुझे लज्जा नहीं आती है। मुझे कहते शर्म आती है, पर तुझे पूछते लज्जा नही आती !

मनोरमा ने कुछ रूखी हँसी के साथ कहा—लज्जा ! लज्जा तो मै बहुत दिन हुए तभी छोड़ चुकी बाबा जी ! नहीं तो तुम्हारे जैसे भण्ड, कपटी, लोभी, दुराचारी, पाखण्डी साधु के हाथ मे अपना यह यौवन क्यो सौप देती। सौप देना कैसा ? रात-दिन एक प्रकार से कठिन परिश्रम करके दासी के जैसी तुम्हारी सेवा की; यौवन देकर तुम्हारा मनोरञ्जन किया; तुम क्या मेरी इतनी सेवा के योग्य थे स्वामी जी ?

स्वामी जी उबल उठे—मनोरमा ! मैंने तुम्हे आश्रय दिया था , तुम्हे पथ की भिखारिणी बनने से बचाया था। नहीं तो यह काशी है , यहाँ गुण्डो की कमी नही। तुम्हे तो किसी न किसी गुण्डे का आश्रय लेना ही पड़ता। पर इतने सुख में, इतने निर्जन, एकान्त-शून्य देश में, तुम अपना यह पापमय जीवन कदापि न बिता सकती—इसमे अणुमात्र सन्देह नही। पर कम से कम तुम्हे अपनी इस दुरवस्था की—अपनी इस कलङ्कमयी स्थिति की—बात मुझसे पहले ही कह देनी थी।

मनोरमा ने जिज्ञासा की—यदि मै पहले ही बता देती, तो तुम क्या करते ?

बाबा—दो मे से एक बात—या तो तुम्हें मै इस कुटी मे लाता ही नहीं, या कुछ ऐसा प्रबन्ध करता कि जिससे तुम्हारा

यह कलङ्क प्रकट न होता। एक बार ही उसे प्रलुप्त कर देने का प्रयास कर देता।

मनोरमा ने तीक्ष्ण स्वर में कहा—अर्थात् भ्रूण-हत्या करते।

बाबा—क्यों, क्या बुरा करता? आज तुम अपनी इस दशा को देखो। आने-जाने वाले कानाफूसी करने लगे हैं, युवकगण फबतियाँ कसने लगे हैं। रमणी! आजकल मैं जैसा उद्विग्न हो रहा हूँ, वैसा मैं अपने जीवन में कभी नहीं हुआ। मैं क्या जानता था कि तुम दूसरे का कलङ्क-भार मेरे शिर पर मढ़ दोगी।

मनोरमा ने पैशाचिक अट्टहास करके कहा—अहा! बाबा जी! अब तुम्हें मालूम हुआ होगा कि स्त्री कैसी चतुर होती है। तुमने कदाचित् सोचा होगा कि एक युवती तुम्हारे ऊपर आसक्त होकर तुम्हारे साथ चली आई है, और तुम्हें अपना परमाराध्य इष्टदेव मानकर तुम्हारी पूजा करने लगी है, और सदा एकान्त मन से ऐसा ही करती रहेगी। तुम्हे भी तो उप-पति बनाया है। दूसरे का कलङ्क है सही, पर क्या तुम्हारे कारण ऐसा कलङ्क घटित नहीं हो सकता था? बाबा जी, हम स्त्रियाँ जब एक बार पाप को आलिङ्गन कर लेतीं हैं; जब हम एक बार अपनी काम-प्रवृत्ति के उद्दाम वेग में अपना सतीत्व-रत्न खो बैठती हैं, तब हम किसी पुरुष को अपना आराध्य देव नहीं मानतीं। हम अपने यौवन को एक प्रकार का विनिमय-साधनमात्र समझने लगती हैं। मैंने देखा कि एक मूर्ख साधु का आश्रय प्राप्त हो रहा है और मुझे आश्रय की अतीव आवश्यकता है—मैं भी बदले मे अपना यह कुत्सित,

पर मनोरम यौवन देने को उद्यत हो गई। तुमने समझा कि तुमने एक युवती को—एक रूपवती रमणी को अपने कपट-पाश में फाँसकर अपने उपभोग का पदार्थ बना लिया। मैंने समझा कि मैंने अपने इस वास्तविक रूप-रङ्ग से एक मूर्ख पाखण्डी साधु को उद्भ्रान्त करके उसका आश्रय प्राप्त कर लिया। इसमें कपट एवं विश्वासघात की क्या बात है? तुमने क्या कपट नहीं किया? तुम्हें यह गेरुआ वस्त्र पहिनकर एक भ्रष्ट युवती को इस प्रकार धोखा देकर अपनी पर्णकुटी मे उप-पत्नी बनाकर लाते हुए लज्जा नहीं आई?

बाबा जी क्रोध से अधीर हो उठे। बड़े तीव्र स्वर से वे चिल्ला-कर बोले—यहाँ तक? यहाँ तक? आह रमणी! तुम्हारा इतना साहस? तुम्हारा जीवन—तुम्हारा सर्वस्व मेरे हाथों में है। क्षणभर में मै तुम्हे वाराणसी के पथ पर भीख माँगने के लिए बाध्य कर सकता हूँ। न, मुझसे यह वाक्-चातुरी नहीं चलेगी। मैंने तुम्हारी जैसी अनेक दुराचारिणी रमणियों को देखा है। इस काम में मैं नया नहीं हूँ।

मनोरमा ने अब की बार कुछ रोष, कुछ व्यङ्ग और कुछ हास्य के साथ कहा—नही, स्वामी जी! यह तुम्हारी उद्भ्रान्त कल्पना है। यह असम्भव है, तुम कुछ नही कर सकते, पर मैं तुम्हें अवश्य ही हवालात की रोटी खाने को विवश कर सकती हूँ। कल ही वाराणसी इस अपवाद से गूँज उठेगी कि मेरे उदर में तुम्हारा बच्चा है, और तुम इस प्रकार से युवतियो को बहकाने वाले भण्ड साधु हो। मैं भीख माँग लूँगी, पर तुम्हें वह

भी माँगे नहीं मिलेगी। मैं जानती थी कि तुम किस स्वभाव के कापुरुष हो, नहीं तो क्या मैं इतनी मूर्खा थी कि मैं यह समझ बैठती कि मैंने तुम्हारा प्रणय प्राप्त किया है। मैं जानती थी तुम पाखण्डी हो, छिपे हुए लम्पट हो, तुम गेरुआ वस्त्रों में बड़े भारी कपट को छिपाए हुए हो। इस बात के लिए—इस साधारण सी बात के लिए इतना गर्व करना तुम्हें शोभा नहीं देता।

बाबा जी उठ खड़े हुए और गरजकर बोले—मनोरमा! सावधान! मैं चाहे कुछ भी हूँ, पर भयङ्कर अवश्य हूँ। मेरे रोष में पड़कर तुम अपने प्राणों को भी खो सकती हो। तब भी मैं चाहता हूँ कि तुम्हें कोई भारी दुःख न दूँ। पर मैं तुम्हें अपना कुटी में अब प्रवेश नहीं करने दूँगा। मैं कल ही इस बात की घोषणा कर दूँगा कि मेरी चेली व्यभिचारिणी है; किसी आने-जाने वाले से उसका प्रेम हो गया था और उसी का फल उसके उदर में है। इसलिए मैंने उसे बाहर कर दिया है। मेरा यह प्रस्ताव स्वीकार है या नहीं?

मनोरमा भी उठ खड़ी हुई। दृढ़ स्वर में वह बोली—नहीं, कदापि नहीं। इससे मृत्यु कई गुना भली है। स्वामी जी सावधान! सर्प से निस्तार हो सकता है, पर सर्पिणी से नहीं; सिंह क्षमा कर देता है, पर सिंहिनी नहीं। सती प्रतिकार लिए बिना शान्त हो सकती है, पर व्यभिचारिणी प्रतिहिंसा को चरितार्थ किए बिना मानती नहीं। इसी कुटी में, इसी आश्रम में, इसी जाह्नवी-दुकूल पर, मेरे उदर का यह बालक सूर्य्य की प्रथम किरण देखेगा।

न, सो नहीं होगा। मैं पथ-पथ पर भिखारिणी बनकर घूमूँ और तुम कपटी संन्यासी बनकर यहाँ आनन्द भोगो। अब तो मैं डूबूँगी; पर तुम्हें पहले शिखा-पर्य्यन्त डुबो दूँगी। प्राणो की रक्षा ? इसके लिए मुझे चिन्ता नहीं है। रहे तो अच्छा, चले जायँ तो बहुत अच्छा। विद्यानन्द! व्यभिचार के मामले में स्त्री का वचन समाज को अधिक मान्य होता है। तुम्हारे कहने का कोई विश्वास नहीं करेगा, मेरे कहने को सब कोई मान लेंगे। तब अच्छा यही है कि तुम यह भण्ड छोड़कर गृहस्थ बन जाओ। नहीं तो चलो कही चले चलें। पर नहीं, तुम्हे छोड़ूँगी नही। सती जैसे अपने पति को प्रेम-सूत्र में आबद्ध करती है, वैसे तुम्हे न बाँधूँगी; किन्तु इस प्रकार तुम्हे बाँधूँगी, जैसे दुर्भाग्य मनुष्य के समस्त व्यापारों को बाँध देता है। फूलो की माला बनकर तुम्हारे कण्ठ-देश में दोलायमान नहीं हूँगी, फाँसी की रस्सी की भाँति उसमे लिपट जाऊँगी। कुछ भी हो, तुम्हें इसका उचित प्रबन्ध करना ही होगा।

बाबा—सो नहीं होगा, मनोरमा! इस कुटी की भूमि पर तुम्हारा पैर अब नही पड़ सकता। कुछ भी हो, पर मैं तुम से सम्पर्क नहीं रक्खूँगा। फूटी हुई हाँडी की भाँति तुम्हें दूर फेंक दूँगा। फटी हुई कफनी की भाँति तुम्हें गङ्गा मे प्रवाहित कर दूँगा। मनोरमा! तुम्हें मेरा आश्रय परित्याग कर देना होगा, तुम्हें इसी समय चला जाना होगा। अब नहीं, अब समाप्ति है। मैं तुम्हारा अन्तिम निर्णय इसी समय जानना चाहता हूँ।

मनोरमा ने वज्र-ध्वनि से कहा—कदापि नहीं, पामर! मनोरमा तेरी छाती ही पर सदा मूँग दला करेगी। स्त्री कायर नहीं होती।

बाबा जी ने अपना दण्ड सँभालकर कहा—अच्छा, तो अब सावधान!

इतना कहकर उन्होंने मनोरमा पर प्रहार किया; पर मनोरमा सहसा पीछे हट गई। आघात बच गया। वह बड़ी क्रुद्ध हो उठी और उसने इतनी शीघ्रता से एवं इतनी तीव्रता से बाबा विद्यानन्द को धक्का दिया कि वे सँभल न सके और गङ्गा जी की उस वेगवती धारा में गिरकर मृत्यु के दूर देश मे पहुँच गए।

बाबा जी के गिरने के समय जो 'छप' 'छप' शब्द हुआ, उसे किसी ने नहीं सुना। कदाचित् दूर होने के कारण नक्षत्र-पुञ्ज ने भी न सुना हो। मनोरमा चुपचाप खड़ी रही। आँखें फाड़कर वह गङ्गा जी की धारा को देखने लगी, पर उस विकट अन्धकार में कुछ नहीं दिखाई दिया। केवल ऊपर से नक्षत्र-गण मनोरमा के ललाट-देश पर किसी विशेष शक्ति की अक्षय लेखनी से अग्निमय अमिट अक्षरों मे लिखे हुए "व्यभिचारिणी" शब्द के पास "हत्याकारिणी" शब्द को लिखे जाते देखकर भय से काँप उठे!!

पाप का यह दूसरा महाकाण्ड अनुष्ठित हुआ। पाप के द्वारा ही पुण्य ने पापी को प्राण-दण्ड दे दिया।

कर्म-चक्र का कैसा विलक्षण चमत्कार है?

## पुण्य सङ्कल्प

पश्चिम-पयोधि के सुवर्ण-रेणुमय दुकूल पर स्थित होकर भगवान् सूर्य्यदेव अपनी परम प्रिया पृथ्वीदेवी को देख रहे थे। शस्य-श्यामल अञ्चल के मृदु सञ्चालन द्वारा धरिणी देवी भी अपने आन्तरिक अनुराग को प्रकट कर रही थी। सूर्य्यदेव के प्रोज्ज्वल रत्न-किरीट की सुवर्ण-वर्ण किरण-राशि सुर-किशोरिकाओ की मृदु मन्द मुस्कान-रेखाओ की भाँति कोमल किसलयो के मधुर अधरों पर नाच रही थी; विहङ्ग-कुल ताल दे रहा था; कोकिल राग अलाप रही थी; समीर साँवलिया बनकर दूर वंश-वन में "शी-रव कर रहा था। ऐसे सुन्दर उत्सव के समय योगीश्वर अपनी पर्ण-कुटी के द्वार पर, हरी-हरी घास के पवित्र आसन पर बैठे थे, और उनके सामने ही सरल, शान्त भाव से आसीन थी सती-मणि शान्ता।

योगीश्वर ने कहा—बेटी! महामाया की कृपा से तुम्हारे उस भयङ्कर आघात से बच जाने पर मैं बड़े आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ? धन्य हो मातेश्वरी!

शान्ता ने भक्ति-भाव में उत्तर दिया—पिता जी! आपकी एकान्त सेवा, आपका अविश्रान्त परिश्रम एवं आपकी वात्सल्यमयी चिन्ता क्या ये सब व्यर्थ हो जातीं? पिता! आपका परोपकार-रत जीवन बड़ा पवित्र है, बड़ा उज्ज्वल है, अतएव अनुकरणीय है। वास्तव में महामाया की बड़ी कृपा है कि मैं अब संसार में आश्रय-रहित नहीं रही। माँ चली गईं, पिता उनसे पहले ही चले गए थे; पर महामाया ने आपका चरणाश्रय देकर वह अभाव बहुत बड़े अंश में कम कर दिया है। पिता! आप मेरे जीवनदाता हो।

योगीश्वर—सब महामाया की कल्याणमयी इच्छा है। बेटी! तुम कहाँ जाने के उद्देश्य से उस दिन निकली थीं। कहाँ रहकर तुमने अपने पुण्य पवित्र जीवन को व्यतीत करने का शुभ-सङ्कल्प किया था, बेटी मेरी!

शान्ता—कोई निश्चित उद्देश्य नहीं था। किसी अज्ञेय अन्तर्प्रेरणा से परिचालित होकर चल पड़ी थी—महामाया के आसरे पर घर से निकली थी। घटना कुछ ऐसी घटित हुई कि मुझे आपका चरणाश्रय मिल गया। मै धन्य हो गई।

योगी०—पर बेटी! आज मेरी अन्तरात्मा के सम्मुख एक नूतन रहस्य स्पष्ट रूप में स्वतः ही उद्घाटित हो रहा है। और

तुम्हारा यह पवित्र, सतीत्व-शोभित जीवन इस अन्तर्रहस्य की सत्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। तुम्हारा यह कठोर वैधव्य व्रत, माता-पिता का अकाल में वियोग, दुष्ट निशाचर द्वारा नियन्त्रण, भयङ्कर आघात, और फिर पुनर्जन्म—ये घटनाएँ काल-चक्र के वेगमय सञ्चरण से उत्पन्न होने वाली साधारण स्फुलिङ्ग-राशि नहीं हैं। जिसके द्वारा महामाया अपना महत् उद्देश्य सम्पादित कराना चाहती हैं; जिसके द्वारा संसार के किसी कल्याण-कार्य्य की साधना का विधान होता है, उसी की बड़ी विकट अग्नि-परीक्षा होती है। बेटी! तुम उस परीक्षा में उत्तीर्ण हुई हो। मेरी अन्तरात्मा स्पष्ट-रूप में उद्घोषित कर रही है कि तुम्हारे द्वारा जगज्जननी की किसी महत्वमयी इच्छा की पूर्ति होगी; तुम इस उत्तप्त विश्व को कल्याणमयी शीतल धारा से प्लावित करोगी। बेटी! तुम्हारा यह प्रोज्ज्वल, सरल, सुन्दर, धर्ममय जीवन; तुम्हारा यह कठोर, निर्विकार, उद्वेग-रहित संयम; तुम्हारा यह विमल, स्निग्ध, पवित्र, शीतल वात्सल्य-रस—यह सब बिना कुछ किए—बिना किसी महत्वपूर्ण घटना का अनुष्ठान किए, निरर्थक, निस्सार होकर कदापि नष्ट नहीं हो सकते। न, यह असम्भव है।

शान्ता—महामाया की करुणा एवं आपका आशीर्वाद—जब यह दोनों मुझे निरन्तर पवित्र कर रहे हैं, तब मेरी जैसी निर्बल, ज्ञान-शून्य, विवेक-रहित बाल-विधवा भी यदि कुछ कल्याणमय कार्य्य कर सके, तो इसमें विशेष आश्चर्य्य की कोई बात नहीं है। पर यदि मैं कभी कुछ कर सकी; यदि कभी मुझे

उपयुक्त क्षेत्र मिल गया; यदि कभी मुझे समुचित साधन प्राप्त हुए, तो मैं इस हिन्दू-समाज के दुखी रमणी-मण्डल को उन्नत, महिमामय एवं पवित्र बनाने की चेष्टा में अपना जीवन उत्सर्ग कर दूँगी। कैसी स्थिति है हमारी ? अशिक्षिता, कलह-प्रिया, विभूषण-विलोभिनी इत्यादि विशेषणों से हमारा सत्कार किया जाता है—ये विशेषण नितान्त ही असत्य हो, सो बात नहीं है। और दशा ? दशा है हमारी क्रीत-दासी से भी भयङ्कर। उन्हीं दुखी बहिनों की निरन्तर सेवा ही मेरी साधना होगी; उनका अभ्युदय ही मेरा इष्ट होगा, एवं उनका सुधार ही मेरा परम लक्ष्य होगा। इसी के लिए, इसी महायज्ञ की बलि-वेदी पर मैं यदि आवश्यकता हुई, तो अपने प्राणों को सती की भाँति सहर्ष विसर्जन कर दूँगी।

योगीश्वर ने उल्लसित होकर कहा—तथास्तु। बेटी ! तुम्हारी शुभ कामना अवश्य सफल होगी। तुम रमणी-माला की मध्य-मणि बनकर अपने पवित्र प्रोज्ज्वल चरित्र से उनकी बहुत-कुछ सेवा कर सकोगी। पर तुमने अपने इस महत् अनुष्ठान के सम्पादन के लिए क्या-क्या साधन सोचे है ? क्या-क्या स्वरूप कल्पित किए हैं, बेटी ?

शान्ता ने धीरे से कहा—कुछ नहीं भगवन् ! आपकी सद्बुद्धि द्वारा ही मैं परिचालित होऊँगी—यही मेरा निश्चय है, यही मेरी कल्पना है।

योगीश्वर ने आनन्दानुभूति करते हुए कहा—तब सुनो, बेटी !

एक संस्था खोलनी होगी। वहाँ छोटी-छोटी बालिकाएँ चतुर गृह-लक्ष्मी बनने की समुचित शिक्षा प्राप्त करेंगी, युवती-मण्डल कला-कौशल का सतत अभ्यास करेगा; विधवा-समाज तपोमय जीवन व्यतीत करेगा; स्त्री-प्रचारिकाएँ वहाँ से निकलकर देश भर को नारी-महिमा की मन्दाकिनी से प्लावित करेंगी; इस सम्बन्ध का साहित्य वहाँ से प्रकाशित होकर प्रसुप्त हिन्दू-समाज को आलोड़ित करेगा। निर्जन, शून्य, एकान्त स्थान मे, किसी स्वच्छ सलिला कल्लोलिनी के हरित-श्यामल दुकूल पर, प्रकृति के परमोज्ज्वल, पवित्र विलास के बीच मे, एक विशाल भवन संस्थापित करना होगा, और वही इस संस्था का प्रधान केन्द्र होगा और उसकी अधिष्ठात्री देवी होगी तुम—तुम मेरी प्यारी बेटी—महासती ।

शान्ता ने कुछ निराश-भाव के साथ कहा—पिता! इतना बड़ा आयोजन कैसे होगा? इसके लिए तो बहुत धन की आवश्यकता होगी। सो कैसे मिलेगा, कहाँ से प्राप्त होगा?

योगीश्वर ने उत्साहपूर्वक कहा—मिलेगा। देश देगा। बेटी! भिखारी चाहिए, दाता की कमी नहीं है। तुम्हारी जैसी सती के अग्रसर होते ही आप ही आप सारे आयोजन एकत्रित होकर तुम्हारे परम पवित्र कर-कमल मे साफल्य फल की भेंट देंगे।

शान्ता ने पूछा—और इसके लिए कौन सा नगर उपयुक्त होगा, पिता जी?

योगीश्वर ने गम्भीर भाव से कहा—काशी। इस समय तीर्थ-

स्थान ही विशेष रूप से पाप की प्रश्रय-भूमि हो रहे हैं। धर्म का वेश धारण करके पाप पवित्र पूजा-गृह मे—धर्म-मन्दिर मे प्रवेश कर बैठा है। काशी में बाल-विधवाओं की, अभागिनी युवतियों की बहुत बड़ी संख्या है। बड़ा उपयुक्त कार्य्य-क्षेत्र है; वहीं पर बेटी! तुम्हें अपनी कल्याणमयी साधना में प्रवृत्त होना होगा!

शान्ता ने श्रद्धापूर्वक पूछा—आप तो उसमें योग देंगे ही, पिता जी।

योगीश्वर—स्थूल भाव से नहीं—सूक्ष्म भाव से। मेरी साधना, मेरा आशीर्वाद सदा तुम्हारी सहायता करेगा। पर मैं अपनी इस कुटी को नहीं छोड़ूँगा, बेटी! निर्बलता कहो, चाहे मोहमयी ममता; पर मैंने इसी कुटी मे अपने साधनापूर्ण तपोमय जीवन का अधिकांश समय व्यतीत किया है। मैं यहीं प्राण-त्याग करूँगा। पर बेटी! मैं तुझे काशी ले चलूँगा। वहाँ पर मेरे बाल्यमित्र पण्डित-प्रवर प्रबुद्धशेखर जी रहते है। वे बड़े भारी ज़मींदार है, साथ ही साथ बहुत बड़े विद्वान् हैं। वे लगभग ६० वर्ष के है। उनके परिवार में है उनकी स्त्री, उनका एकमात्र सच्चरित्र पुत्र और उनकी सुशीला पुत्र-वधू। मैं तुम्हे उनके यहाँ ले चलूँगा। वे तुम्हारे धर्म-पिता बनकर तुम्हे अपनाएँगे और तुम बेटी! उनकी धर्म-पुत्री बनकर उनके तपोमय जीवन को मधुरतर बनाना। वे तुम्हे पर्य्याप्त साधन एकत्रित कर देंगे। तुम अपने मनोरथ मे सफल हो जाओगी।

शान्ता—पर पिता ! क्या आपका वात्सल्य अलभ्य हो जायगा ?

योगी०—बेटी ! कदापि नहीं। तुम चली जाओगी। महर्षिवर कण्व शकुन्तला के जाने पर रोए थे; तुम्हारे जाने पर मैं भी उसी भाँति रोऊँगा। पर स्नेह से कर्त्तव्य बड़ा है। मैं तुम्हे आशीर्वाद देता हूँ कि तुम इस पतित प्रसुप्त हिन्दू-समाज को प्रबुद्ध कर सको। तुम निर्बल, सरल, दुखी रमणी-मण्डल को उन्नत एवं महिमामय बना सको। भगवती तुम्हारी इस शुभ-कामना एवं कल्याण-सङ्कल्प मे सहाय हो। बेटी ! कल हम तुम वाराणसी के लिए प्रस्थान करेंगे। जय जगज्जननी की !

पुण्य सङ्कल्प आर्ष उपदेश से उत्साहित होकर, परम कल्याणमयी, शीतल, निर्मल, सुधा-धारा प्रवाहित करके उत्तप्त को शीतल, दुखी को सुखी एवं व्यथित को आनन्दित बना देता है !

पुण्यमयी कामना महामाया की निराकार कल्पना की प्रोज्ज्वल, पवित्र, प्रममयी रश्मि है !!

## आत्म-ग्लानि

प का दण्ड प्रारम्भ हो गया। मनोरमा ने बड़े यत्न से अपने गले का चन्द्रहार छिपा रक्खा था। भूख की ज्वाला से व्याकुल होकर एक दिन वह उसे बाजार मे बेचने गई पर शराफों ने उसकी दुरवस्था को देखकर अनुमान किया कि वह किसी प्रकार उस हार को कहीं से चुरा लाई है। हार तो उन्होंने ले लिया और उसे पुलिस में देने का सङ्कल्प किया। भय से, ग्लानि से, वह किसी प्रकार भाग निकली। बड़ी कठिनता से दौड़ी। जान बच गई। अब वह पूर्ण रूप से पथ की भिखारिणी वन गई।

पर भीख माँगना भी सहज काम नहीं है। द्वार-द्वार पर दिन भर घूमना पड़ता है, कहीं गाली मिलती है; कहीं कोरा जवाब और कहीं मुट्ठी भर दाने। पर मनोरमा मे इतनी शक्ति कहाँ? बोझ से लदी हुई गर्दभी की भाँति वह पग-पग पर

ठोकरें खाती थी। शिर पर था पाप का बोझ; उदर न था व्यभिचार का मूर्तिमान भार; शरीर पर लदी हुई थी निर्बलता और क्लान्ति, और हृदय दबा जाता था ग्लानि और परिताप से। पर करे क्या? हाय मनोरमे! आज तुम्हे विदित हो रहा होगा कि शान्ता-जननी कल्याणी और शान्ता के दिव्य उपदेश कितने सरल और कितने सच्चे थे? हाय! यदि तुमने उन्हें माना होता, तो तुम चाहे अब तक विधवा भले ही हो गई होतीं, पर तुम्हे इतना अपमान, इतना क्लेश, इतना परिताप कदापि न सहन करना पड़ता। पर सच है—

"होइहै वहै जो राम रचि राखा।"

रात्रि के लगभग दो बजे होंगे। चीथड़े लपेटे हुए मनोरमा गङ्गा-तट पर बैठी है। किसी अनुकूल प्रवृत्ति के चरम विकास को कहते हैं आत्मानन्द, और किसी प्रतिकूल प्रवृत्ति के तीव्रतम उत्थान का नाम है प्रेतोन्माद। मनोरमा की प्रतिकूल प्रवृत्ति इस समय झनझना उठी थी। क्रमशः उसका रौद्र सङ्गीत सप्तम स्वर पर पहुँचता जाता था। जैसे आँधी—भयङ्कर तूफ़ान के आने से थोड़ी देर पहले एक भयङ्कर शान्ति उत्पन्न हो जाती है, ठीक वैसी ही शान्ति का शान्त भाव मनोरमा के म्लान मुख-मण्डल पर परिलक्षित हो रहा था। इससे पहिले परिताप के दो-चार स्फुलिङ्ग समय-समय पर मनोरमा के हृदय में भले ही चमक उठे हो, पर अब तक—इस समय से पहले उसके हृदय में कभी ऐसी भयङ्कर अग्नि हाहाकार नहीं कर उठी थी। सतीत्व गया, यौवन गया, सत्सङ्ग गया,

भीख माँगनी पड़ी, शरीर शिथिल हो गया; अब रहा क्या ? आँधी उठना ही चाहती है। जो समय बीत रहा है, वह थोड़ा ही है। मनोरमा की आँखों मे नींद नही; आँसू भी नहीं, स्थिर, अविचल गति से वह दूर—बहुत दूर—सलिल-ध्वनि से मुखरित महाशून्य की ओर देख रही थी। हृदय की आँधी मे हृदय के भाव छोटे-छोटे वृक्षो के पुञ्ज की भाँति उखड़-उखड़ कर गिर रहे थे। आकाश में चन्द्रमा हँस रहा था, पर मनोरमा समझ रही थी कि वह अभागिनी रजनी का मृत-पुत्र है। गङ्गा जी की धारा का कलकल शब्द उसे नित्य रुदन सा प्रतीत हो रहा था। वायु का झोंका उसे गहरी आह सा मालूम पड़ता था और दूर पर महाशून्य एक गम्भीर अभेद्य विषाद का मूर्तिमान् स्वरूप सा ज्ञात होता था। हाय मनोरमे ! आज परिस्थिति के प्रतिकूल परिवर्त्तन के साथ-साथ तुम्हारे लिए प्रकृति का अभ्यन्तर स्वरूप भी परिवर्त्तित हो गया !

मनोरमा धीरे-धीरे प्रेत-प्रलाप करने लगी—ठीक ही हुआ। मैंने चाहा था कि विश्व को धोखा देने के साथ-साथ अपने आपको भी धोखा दे दूँ। चाहा था कि सत्य के प्रकाश से जगमग-जगमग करने वाली अपनी आत्मा के सामने भी झूठ बोल दूँ। पर चला नहीं, रहस्य खुल गया। दण्ड का विधान हो गया। अब भोगूँगी—भोगूँगी नहीं तो करूँगी क्या ? आत्महत्या ! ओह ! बड़ा भय लगता है। दूर पर—नरक और इस मर्त्यलोक की मिलन-सीमा पर—एक गम्भीर अन्धकारमयी कल्लोलिनी बह रही है, और उस

कल्लोलिनी के दूसरे दुकूल पर जल रही है धाँय-धाँय करती हुई प्रबल अग्नि। भय लगता है, जब इसमें—इस विश्व में इतनी दाह है, तब वहाँ—नरक में कितना भयङ्कर ताप होगा? न-न, मैं नहीं जाऊँगी। संसार के गले से लिपट जाऊँगी। खींचे मृत्यु! भरसक तो मैं जाने को नहीं!

हो, हो, हो!! समझा था कि समाज के इस वृद्ध-विवाह की कुरीति का प्रतिवाद कर रही हूँ, पर वास्तव मे दौड़ रही थी वासनामयी काम-लिप्सा को शान्त करने के लिए। पाप से पाप को मारना चाहती थी, अग्नि से अग्नि को भस्म करना चाहती थी। छोड़ देती शिथिल पति को, पर रहती पूर्ण ब्रह्मचर्य्य से। सारा विश्व हिल जाता, इन्द्र का सिंहासन तक डावाँडोल हो जाता। तोड़ देती गृह-बन्धन, पर समाज को चैन से न सोने देती। तीव्र वाणी लेकर, धर्म का आश्रय लेकर, रणाङ्गण मे कूद पड़ती; तब होता इस कुरीति का बहिष्कार। पर मैं तो दौड़ी थी रण लूटने, रङ्ग चखने, रति-विलास करने! समाज का अत्याचार था गौण, पाप की वासना थी मुख्य। उसी का परिणाम है! भगवान् हों या न हों, पर कर्म-फल अवश्य है। मिलता है—डङ्के की चोट पर मिलता है, मैं इसका मूर्तिमान प्रमाण हूँ!

चाहे जैसे भोगूँ, भोगना अवश्य पड़ेगा। अच्छी बात है। पर पाप! पाप!! तुमने मेरी यह दशा कर दी। देखो, कुन्दन का सा रङ्ग मृत्यु की पीली आभा में परिणत हो गया। यह कमल के

से प्रफुल्ल, मदमाते काले नयन प्रभाहीन हो गए। सब कुछ चला गया; सब कुछ छिन गया। और तुम, तुम मुझे प्रलोभन देकर नष्ट करने वाले नीच पाप, तुम दूर पर खड़े-खड़े मेरी इस दुर्दशा पर हँस रहे हो—हँसो...हँसो...पर......!

"कौन? आह! रामू और विद्यानन्द!...वे, वे...दूर पर...अग्नि-मयी आँखों से मेरी ओर देख रहे हैं। अरे राम! कैसा भयङ्कर है? कैसा डरावना है? भूत, प्रेत, ओह! कहाँ जाऊँ? किधर भागूँ? न-न, अब नहीं...अब नहीं...छोड़ दो...क्षमा कर दो...दया! दया! तुम्हारे दोनों के हाथ जोड़ती हूँ। न मानोगे? न मानोगे? न मानोगे? ले ही चलोगे? कहाँ? उस हाहाकार करने वाला प्रबल ज्वाला में झोंकने के लिए? झोंके बिना नहीं मानोगे? क्यों मानने लगे? प्रतिहिंसा ..प्रतिकार...हाँ-हाँ, अवश्य लोगे। भागूँ...भागूँ!"

मनोरमा भागने के लिए उठी पर उठ न सकी। गङ्गा जी के पवित्र दुकूल पर पतित होकर वह मूर्च्छित हो गई!

मूर्च्छा सब रसों की चिर-सहचरी है। वह प्रेम की मदिरा है, पुण्य की मन्दाकिनी है; वह हृदय और मस्तिष्क की भयङ्कर परिताप-ज्वाला के लिए सरस हरिचन्दन की प्रलेप-रेखा है!!

# तैंतालीसवाँ परिच्छेद

## सोना और सुगन्ध

ण्डित-प्रवर प्रबुद्धशेखर जी दशाश्वमेध घाट पर एक बड़ी अट्टालिका में रहते हैं। वे बहुत बड़े धनी हैं। उनके लगभग ४० गाँव ज़मींदारी में हैं, और उनकी उस विपुल सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी है—उनका एक मात्र पुत्र विमलचन्द्र। विमल को उन्होंने बहुत ऊँची शिक्षा दिलाई थी। वह दर्शन-शास्त्र और गणित-शास्त्र में एम० ए० था—भारतीय हिन्दू-शास्त्रों की अध्यात्ममयी शिक्षा से उसका जीवन और भी पवित्र एवं प्रोज्ज्वल बनाया गया था। प्रबुद्धशेखर जी ऋषि-जीवन व्यतीत करते थे। प्रातःकाल ब्राह्म-मुहूर्त्त से लेकर रात्रि के द्वितीय प्रहर के अर्द्धांश तक वे जप, नियम, तप, परोपकार इत्यादि सत्कर्मों का अनुष्ठान करते थे। अनेक विद्यार्थियों को वह नित्य भोजन-वस्त्र वितरण करते, अनेक अनाथों को वे आश्रय देते, अनेक विधवाओं की वे तीव्र अभाव से रक्षा करते, अनेक अभागे

युवकों को वे सन्मार्ग पर प्रवृत्त करते। वे स्वयं भी धुरन्धर विद्वान् थे। उनका जीवन भी तदनुकूल तपोमय, शान्तिमय एवं अनुभूतिमय था। वे करुणा के पूर्ण अवतार, सेवा की साकार मूर्ति, प्रेम की प्रोज्ज्वल प्रतिमा एवं त्याग की शरीरधारिणी शोभा थे। और उनकी सहधर्मिणी? वे उनकी छाया थीं; उनकी नित्य अनुगामिनीं थीं। जो उनमें था, वही उनमें प्रतिविम्बित होता था। पर प्रतिविम्ब की भाँति वे चलतीं उनके पीछे ही पीछे थीं; और विमल तथा उसकी सुशीला भार्या दोनों आज्ञाकारी सेवक की भाँति उन दोनों की परिचर्य्या में बड़े आनन्द से रत रहते थे। इस प्रकार इस पवित्र परिवार में सदा सुख, शान्ति एवं आनन्द का साम्राज्य सा बना रहता था।

विमल देखता था ज़मींदारी का काम; उसकी भार्य्या करती थी घर का सारा प्रबन्ध; उसकी पूज्य माता हो रही थीं अन्नपूर्णा और उसके आराध्य पितृदेव साक्षात् भोलेश्वरनाथ के समान सदा रत रहते थे धर्म के पवित्र अनुष्ठान में। इसी पवित्र परिवार में योगीश्वर ने शान्ता को लाकर प्रविष्ट कर दिया। तीर्थ तो था ही, मन्दाकिनी भी आकर प्रवाहित होने लगी। वानप्रस्थ आश्रम विराज ही रहा था, गृहस्थाश्रम विलसित हो ही रहा था; अब संन्यासाश्रम भी आकर उनमें सम्मिलित हो गया। तीनों एक-दूसरे के सहायक होकर अपनी-अपनी सिद्धि के लिए सतत साधना में प्रवृत्त हो गए। विमल और उसकी स्त्री—सुधा सदा अतिथि-सेवा, गुरु-सेवा एवं शरणागत को आश्रय देते ही थे;

प्रबुद्धशेखर और उनकी सती स्त्री श्री० तारादेवी सदा व्रत, अनुष्ठान एवं धर्मोपदेश करती ही थी, अब महासती शान्ता ने आकर उनमे निस्स्वार्थ त्याग, तन्मयी सेवा एवं निर्विकार संयम की त्रिपथ गामिनी मन्दाकिनी को भी प्रवाहित कर दिया। स्वर्ग था; तपोवन था, अब धर्म भी आकर उसमे प्रतिष्ठित हो गया। प्रवृत्ति थी, पवित्रता थी, अब पुण्य-प्रेरणा भी आकर समा गई। उल्लास था, अनुभूति थी, अब आनन्द भी आकर विराजमान हो गया।

सुधा ने पाई पूज्य ननद, विमल ने पाई स्नेहमयी भगिनी, प्रबुद्धशेखर ने पाई परम कल्याणमयी पुत्री और ताराबाई ने पाई सेवामयी बेटी। शान्ता को पाकर सबके सब आनन्द से उल्लसित हो गए और शान्ता भी इस पवित्र परिवार की शान्तिमयी छाया पाकर परम प्रसन्न हुई। तपोवन को मिला आलोक, आलोक को मिला आश्रय; पर्णकुटी को मिला पुण्य, पुण्य को मिला प्रश्रय; धर्म को मिली प्रवृत्ति, प्रवृत्ति को मिला अवलम्ब, पात्र को मिला प्रेम, प्रेम को मिली स्थिति। सौरभ को मिला कुसुम, कुसुम को मिला पुण्य सहवास। शान्ता उस परिवार को और वह परिवार शान्ता को पाकर अपने-अपने भाग्यों को सराहने लगे।

प्रबुद्धशेखर ने उल्लसित भाव में कहा—महात्मन्! आज तो आपने मुझे अमूल्य निधि दी है। भगवान् के वक्षस्थल पर विहार करने वाली कौतुभ मणि से भी यह रत्न अधिक प्रोज्ज्वल है—अधिक पवित्र है।

योगीश्वर—साक्षात् अन्नपूर्णा के सौन्दर्य्य की रश्मि-राशि

है—महामती की तेजोमयी मूर्ति है। सौभाग्य-चक्र से मैंने उसे पाया था, सो आज तुम्हारे हाथो में उसे सौंपता हूँ। देखना, उसके उद्देश्य को सहायता देना। हिमाचल की पुत्री बनकर जिस प्रकार आदि-जननी ने अवतार लिया था, तुम्हारी धर्म-पुत्री बनकर महासती शान्ता ने उसी प्रकार तुम्हारा आश्रय लिया है। धन्य है पवित्र हिमाचल और धन्य हो तुम तपोधन, धन्य है आदिजननी महा सती, धन्य है सती शान्ता। जगज्जननी की अनुकम्पा से ही ऐसा रत्न प्राप्त होता है।

प्रबुद्ध०—ठीक है। उसकी सहायता करना महामाया की आराधना करना है। ऐसा समझकर मैं सदा उसको उद्देश्य-सिद्धि में सहायता करूँगा। हम सब उसे पाकर परम पवित्र एवं पूर्ण बलिष्ठ हो गए है। मैं उसे पुत्री से भी अधिक प्रेम से रक्खूँगा। माँ की भाँति उसकी आज्ञा का पालन करूगा। परम कल्याणमयी महामाया की भाँति उसकी सेवा करूँगा। भगवन्! आज आपने हम सब पर बड़ा उपकार किया है। क्षमा करना, इससे अधिक आप मुझे कुछ नही दे सकते थे।

योगी०—उपकार! उपकार क्या? मै क्या उसे आने देता भाई! जिस दिन से वह मेरी कुटी में आई, उसी दिन से मेरी कुटी जैसे पवित्र प्रेम-धारा से प्लावित हो गई; जैसे मेरी कुटी में कल्प-कुसुम विकसित हो गया; जैसे आनन्द की मृदुमन्द मुस्कान की आभा चमक उठी। पर मैंने अपने योग-बल से देख लिया है कि उसके पवित्र हाथों से किसी महत् कार्य का अनुष्ठान होगा।

वह रमणी-मण्डल की समुन्नति-साधना के ही लिए इस धराधाम पर, दिव्य शक्ति लेकर अवतीर्ण हुई है। मैंने जान लिया है कि तुम्हारे द्वारा उसके इस महत् उद्देश्य में सहायता पहुँचेगी, और उसके फल-स्वरूप तुम्हारा तपोमय वानप्रस्थ सफल हो जायगा। विश्वास रखना भाई! संन्यास का आश्रय लिए बिना ही तुम्हे परमपद की प्राप्ति हो जायगी। अच्छा, अब जाऊँगा, ज़रा शान्ता को बुलाओ तो विमल!

शान्ता अन्तःपुर में थी। वहाँ वह बैठी-बैठी माँ तारादेवी एवं भाभी सुधा से स्नेह-भरी बातें कर रही थी, अपने जीवन की घटनाएँ सरल भाव से सुना रही थी। विमल अपने पिता के पास बाहर ही बैठा-बैठा शान्ता के सम्बन्ध मे योगीश्वर के उन श्रद्धामय विचारों को बड़े ध्यान और उल्लास से सुन रहा था। योगीश्वर की आज्ञा से विमल शान्ता को बुला लाया। योगीश्वर ने शान्ता को अपने हृदय से लगा लिया; अपना पवित्र कर-कञ्ज उस पवित्रतर शिर पर रखकर वे बोले—बेटी! मैं अब जाता हूँ। तुम्हें मैं इस पवित्र परिवार के हाथों में सौंपे जाता हूँ, बेटी! तुम जैसे इन्हीं की हो—इस भाँति रहना। मैं समय-समय पर तुम्हें देख जाया करूँगा। वीतराग संन्यासी तुम्हारे पवित्र प्रेम मे बँधकर उद्भ्रान्त सा हो गया है, मेरी बेटी!

योगीश्वर के दक्षिण नेत्र के प्रान्त-देश में एक बिन्दु जल दिखाई पड़ा। शान्ता भी रोने लगी। शान्ता ने कहा—पिता! मैं तुम्हारे चरणों की धूलि से धूसरित होकर अपने को पवित्र

मानती हूँ। आज ही से मुझे ऐसा आभास हो रहा है, मानो सदा से इसी परिवार में रहती थी। यहीं मेरा जन्म हुआ था। पर पिता! तुम मुझे वचन दो कि तुम मुझे छोड़ोगे तो नहीं, तब तक मैं तुम्हारे पुण्य पद-पङ्कज को नहीं छोड़ूँगी।

शान्ता ने घुटने टेक दिए। योगीश्वर के सुर-वन्दित पाद-पद्म पर उसने अपना विश्व-वन्द्य ललाट रख दिया। योगीश्वर ने सस्नेह उठाकर उसे फिर हृदय से लगा लिया। वात्सल्य से भरे हुए शब्दो मे, सजल-लोचन होकर उन्होंने कहा—तुझे छोड़ूँगा? असम्भव! बेटी! तू मेरी बेटी है, मैं तेरा पिता हूँ। संसार का यह पावन सम्बन्ध मेरे लिए परम सार है।

दोनों रोने लगे। दोनों एक-दूसरे के स्नेह में बँधे थे। पुत्री पिता के आशीर्वाद की अपेक्षा करती थी, पिता पुत्री के विमल शीतल स्नेह से अपना तपोभूषित हृदय प्लावित कर रहे थे।

वात्सल्य-रस सृष्टि का आदि-रस है। सबसे पहले आदि-जननी के स्नेहपूर्ण पयोधर से यह रस विमल सलिल-धारा के रूप में प्रवाहित हुआ था, उसीको पीकर प्राणिमात्र परिपुष्ट हुए थे!

# चवालीसवाँ परिच्छेद

## प्रसव

मनोरमा का उन्माद धीरे-धीरे बढ़ने लगा। उस उन्माद में प्रलाप नहीं था, किन्तु एक विषमयी, ज्वालमयी गम्भीरता थी। मनोरमा को न था शरीर का ध्यान, न थी लज्जा-निवारण की चिन्ता। कभी वह काशी की गलियों में घूमती-फिरती और कभी निर्जन मन्दाकिनी-दुकूल पर विचरती। किसी से कुछ नहीं बोलती, किसी से कुछ नहीं माँगती; भूख लगती और कोई कुछ दे देता तो वह खा लेती, न मिलता तो अनाहार ही पड़ी रहती। गङ्गा जी का शीतल जल पीकर, पेड़ों की कोमल पत्तियाँ खाकर वह अपना क्लान्त, शिथिल शरीर लिए घूमती-फिरती!

गलियों में निकल जाती। लड़के "पगली-पगली" कहकर पीछे-पीछे ताली पीटते; निष्ठुर, भ्रष्ट मनुष्य उसकी उस दुरवस्था को देखकर कुत्सित व्यङ्ग करते; और कोई-कोई ममताहीन निर्लज्ज युवक-पशु उस पर हाथ भी छोड़ देते। मनोरमा सब

सहती। क्या करती ? उपायान्तर था ही नहीं। कर्म-फल, निर्मम न्यायाधीश की भाँति, सहानुभूति को पास नही फटकने देता।

कभी-कभी उसके मन में आता कि वह आत्म-हत्या कर डाले; गले में फाँसी लगाकर लटक रहे; मन्दाकिनी के गम्भीर जल में डूब मरे। पर कोई अज्ञेय अन्तर्शक्ति उसे ऐसा करने से रोक लेती। वह बड़ी विकल थी। इस विषमय जीवन की ज्वाला न तो शान्त ही होती थी, न उसका अन्त ही दिखाई पड़ता था। वह तो एक प्रकार का चिर-दहन था, चिर-ताप था। मूक होकर, सहानुभूति विरहित होकर, वह इस दारुण ज्वाला में तिल-तिल करके जलती रही।

इसी भाँति उसके चार पाँच मास और व्यतीत हो गए और धीरे-धीरे वह समय निकट आने लगा जिसके लिए रमणी की सृष्टि की गई है। जनन ही रमणी का प्रधान धर्म है, और इसीमें उसका महत्व और पावनत्व है। पर हाय! मनोरमा के लिए यह पावनत्व और महत्व भी पाप और पतन में परिणत हो गया था। मनोरमा का बालक समाज के सामने क्या मुँह लेकर खड़ा होगा? वह व्यभिचार का प्रकट पापमय उदाहरण होकर अपनी अपमानजनक घृणापूर्ण स्थिति को कैसे स्थित रख सकेगा? हाय! आज मनोरमा जननी होकर भी सुखी नहीं है। कौन स्त्री ऐसी है, जो जननी होना न चाहती हो? पर मनोरमा आज जननी होने की निश्चित आशङ्का से और भी महादुखी हो गई है। मनोरमा! मनोरमा!! तुम्हारा कैसा पतन हुआ है? तुम अब ऐसी दशा में पहुँच गई हो,

जहाँ हलाहल की धाँय-धाँय करती हुई लपटों की ज्वाला तुम्हारे कोमल शरीर और मृदुल हृदय को भस्म करने लग गई है। हाय! अब तुम्हे कौन बचावेगा? किसकी इतनी सामर्थ्य है?

रात्रि का तृतीय प्रहर है। आकाश-मण्डल में विराजमान होकर अष्टमी का अष्टकला-शोभित चन्द्रमा, आनन्द से मदमत्त होकर, मन्दाकिनी की विमल तरङ्ग-माला पर अपनी चन्द्रिका का विलास-नृत्य देख रहा है। धवल, स्वच्छ, उन्मुक्त विशाल गगन-मण्डल ब्रह्म की पुण्य-प्रभा का उदाहरण बन रहा है। मन्द-मन्द शीतल समीर प्रवाहित हो रही है। मनोरमा इस समय प्रसव-वेदना से विकल हो रही हैं। न कोई सङ्गी है, न साथी। दो चुल्लू जल देने वाला, सान्त्वना के दो वाक्य बोलने वाला एवं प्रेम से उसके शरीर पर एक बार हाथ फेरने वाला भी कोई नहीं है। जिस समय रमणी के लिए एकान्त सुश्रूषा एवं तन्मयी सेवा की अत्यन्त आवश्यकता होती है, उस समय मनोरमा एकाकिनी, निस्सहाया होकर गङ्गा के निर्जन दुकूल पर घोर प्रसव-वेदना को सह रही है। वह प्रसव-वेदना, जिसमे पुत्र-प्राप्ति से होने वाले आनन्द का एक कण भी नही, वरन् आत्मग्लानि की ज्वाला से और भी असह्य हो रही थी। पर कुछ भी हो; प्रकृति का नियम तो घटित होगा ही। प्रकृति का व्यापार कभी न अवरुद्ध हुआ है, न होगा। मनोरमा के उदर का बालक अब भगवती धरित्री देवी की गोद में आया ही चाहता है, अब विलम्ब नहीं है।

एक तो अभाव-जर्जर शरीर, दूसरे सहायक-हीन दशा, और

तीसरे प्रसव की प्रबल वेदना—मनोरमा इतनी घोर व्यथा को सह न सकी। इस प्रबल वेदना ने उसके मस्तिष्क और हृदय पर भी भयङ्कर रूप से प्रहार किया। वह मूर्च्छित हो गई।

लगभग दो घण्टे तक वह इसी मूर्च्छित अवस्था में पड़ी रही। जब उसे धीरे-धीरे चेतनता हुई, तब उसने देखा कि उसके पैरों के पास ही एक नवजात शिशु पड़ा है। मनोरमा ने उसे शीघ्र ही उठा लिया। पर हाय! वह मृत था। उसके कोमल प्राण प्रयाण कर चुके थे।

अब बाँध टूट गया। मनोरमा अपने उस मृत-शिशु को छाती से लगाकर, उस निर्जन दुकूल पर, उस नीरव रात्रि में हाहाकार करके रोने लगी। उस समय की प्रसुप्त शान्ति मानो सहसा विकल होकर जग पड़ी। उसके करुण-रोदन से आकाश-मण्डल विदीर्ण हो गया। मनोरमा की आँखों से अविरल उष्ण अश्रु-धारा प्रवाहित होकर भगवती जाह्नवी की शीतल सलिल-धारा से अपनी आत्म-शान्ति के लिए गले मिलने लगी। पर हाय! वह अक्षय, अमिट अग्नि को धारण किए हुए थी।

पर हाय! मनोरमा! आज तुम्हारे आँसुओं में परिताप का भी बहुत बड़ा अंश है; इसीलिए उनमें अद्भुत शक्ति है। जल चाहे उष्ण हो या शीतल, वह अग्नि को शीतल करता ही है। इसीलिए मनोरमा के आँसुओं ने भी उसकी आन्तरिक ज्वाला को अनेकांश में प्रशमित कर दिये। वह लगभग दो घण्टे तक रोती रही; तब जाकर उसका दुःख कुछ कम पड़ा। वह विषाद-गम्भीर होकर

उस शिशु को देखने लगी। वह आँखें जो खुलने से पहले ही सदा के लिए बन्द हो गईं, वह मुख-सरोज जो खिलने से पहले ही मुरझा गया, वे दोनों ठीक रामू ही के अनुरूप थे। कैसा सुन्दर शिशु था, कैसा मनोहर लाल था! हाय! माता का हृदय! आज वह विषमय, पापमय, अपमान-सूचक पुत्र के लिए भी रो रहा है। विष-वेलि का प्रसून था, पर टूटने पर उसकी डाल में से भी रक्त की धारा निकल पड़ी। व्यभिचारिणी का कलङ्क था, पर वह उस कलङ्क के लिए भी विकल हो उठी। कुछ हो—पाप या पुण्य—माता माता ही है।

पर अब मनोरमा कुछ शान्त हो गई थी। इधर उषा का भी आगमन हो गया था। पूर्व गगन का प्रभात-प्रकाश भी अस्पष्ट रूप मे परिलक्षित होने लगा था। समीर भी कुछ अधिक शीतल हो गया था। मनोरमा ने अपने धूल-धूसरित अञ्चल से अपनी आर्द्र आँखो को पोंछकर अर्द्ध-स्वगत भाव में कहा:—

"जाओ बच्चे, अच्छा ही हुआ। तुम जीवित रहकर ही क्या करते? जन्म भर तुम्हारा सुन्दर ललाट कलङ्क की कालिमा से आवृत रहता। लक्ष-लक्ष प्रयत्न करने पर भी वह ब्रह्मा के विधान की भाँति अमिट ही रहता। तुम चाहे कितने बड़े विद्वान् हो जाते; चाहे कितने बड़े पुण्यात्मा हो जाते; परम परोपकारी बन जाते; एकान्त सेवा-व्रत धारण कर लेते और धर्म तथा हिन्दुत्व के लिए चाहे तुम प्राणों तक को उत्सर्ग कर देते पर तुम्हारा यह कलङ्क कभी दूर न होता। यह हिन्दू-समाज, यह अत्याचारी सङ्घ

तुम्हें माता के अपराध के लिए दण्ड देता। तुम्हारे हाथों का छुआ हुआ जल तक कोई न पीता। तुम परम धार्मिक, सत्यवादी होकर भी पापियों और लम्पटों के व्यङ्ग-बाण से निरन्तर आहत होते। जो महापापी हैं, वही तुम्हें और भी घृणा करते। समाज तुम्हे बहिष्कृत कर देता; ऋषि-प्रतिपादित धर्म तुम्हें ठोकर मार देता; दिग्गज विद्वानो की मण्डली तुम्हे निरन्तर गाली देती। शिशु! तुम चले गए। स्वर्ग से जैसे एक रश्मि के रूप में आए थे, शीघ्र ही अन्तर्हित हो गए! यह बहुत ही शुभ हुआ। भगवती ने बड़ी दया की। आज मेरे रोने का दिन नहीं है, आज मेरी प्रसन्नता का अवसर है। मेरे चिर-अन्धकारमय भाग्य मे मानो एक उज्ज्वल रश्मि उत्पन्न हुई थी, वह मानो तुम्हे लेकर चली गई।

"भगवति जाह्नवि! लो जननी! तुम्हारी शीतल गोद मे मैं अपने इस शिशु को देती हूँ। माँ! तुम पाप-पुण्य में विभेद नही रखतीं। तुम्हारी विशाल उन्मुक्त गोद सदा सबके लिए समान भाव से खुली रहती है। तुम उदार हाथों से सबको समान रूप से अपनाती हो। तुम्हारे लिए सब एक हैं। पापी भी तुम्हारा पुत्र है; पुण्यात्मा भी तुम्हारी ही सन्तान है। तब लो माँ! इस अपनी अभागिनी, व्यभिचारिणी, पापिनी, पिशाचिनी पुत्री के इस शिशु को लो। इसकी ज्वाला को अपने शीतल जल से शान्त कर दो, मेरी जननी! ले जाओ, अनन्त दूर देश में ले जाओ। वहाँ क्या है, सो तुम्हीं जानती हो, और कौन जान सकता है? पर मैं इतना जानती हूँ कि वहाँ इस प्रकार के अत्याचारी

समाज का उच्छृङ्खल शासन नहीं है; वहाँ आनन्द का सङ्गीत हो या न हो, पर वहाँ शून्य-शान्ति तो होगी अवश्य। सुख का साम्राज्य वहाँ भले ही न हो, पर अत्याचार का दारुण नियन्त्रण भी नहीं होगा। ले जाओ जननी! मेरी माँ! मेरी अम्बे! ले जाओ, वहीं ले जाओ।"

यह कहकर उसने उस मृत-शिशु को माता गङ्गा की तरङ्ग-मयी कोमल गोद में दे दिया। भगवती ने उसे अपने हृदय मे छिपा लिया। समाज से बहिष्कृत शिशु पुण्यमयी भागीरथी की हृदय-कन्दरा में तरङ्ग-माला की कोमल शय्या पर शान्तिपूर्वक प्रसुप्त हो गया। मनोरमा भी निश्चिन्त हो गई। कलकल करती हुई भगवती गङ्गा उसे अपनी कोमल गोद मे लेकर किसी अदृश्य, अज्ञात दूर देश को ले चली। कहाँ? सो स्वयं त्रिपथ गामिनी मन्दाकिनी ही जाने।

जहाँ-जहाँ जननी का पवित्र भाव विद्यमान है, वहाँ-वहाँ निस्स्वार्थ-त्याग का अविरल, शीतल, आनन्दमय प्रवाह सतत प्रवाहित होता रहता है!!

## आशीर्वाद

मल ने संस्कृत और अङ्गरेज़ी दोनों ही मे उच्च-शिक्षा प्राप्त की थी। इस बात का आभास हम पहले ही दे चुके हैं। सोने में सुगन्ध की भाँति, विमल का चरित्र भी प्रोज्ज्वल एवं पवित्र था। वह सदा ही निस्स्वार्थ परोपकार एवं सार्वजनिक सेवा में रत रहता था। कभी किसी दरिद्र के यहाँ अन्न पहुँचा रहा है, तो कभी किसी अनाथ बालक को किसी प्रतिष्ठित परिवार अथवा विद्यालय में अन्तर्भुक्त कराकर उसके भरण-पोषण तथा शिक्षा की समुचित व्यवस्था कर रहा है। कभी किसी रोगी की शय्या के पास बैठकर उसे सस्नेह औषधि पिला रहा है, तो कभी किसी अनाथिनी विधवा की कन्या के विवाह के लिए गुप्त-रूप से धन भेज रहा है। बालकों का सा सरल स्वभाव था; प्रौढ़ों की सी प्रोज्ज्वल मति थी; वृद्धों का सा दिव्य ज्ञान था और युवकों की सी स्फूर्ति थी। माता की जैसी सेवा, पुत्री की जैसी

शुश्रूषा एवं बहिन की सी प्रीति लेकर वह सदा कर्तव्य पालन में रत रहता था। और यही नहीं, अपनी विशाल जमींदारी का भी समुचित प्रबन्ध करता। गाँव-गाँव में घूमकर कृषकों की स्थिति को समुन्नत एवं मधुर बनाने का निरन्तर प्रयत्न करता। इतने पर भी बिना अध्ययन किए उसे चैन नहीं। उसका पठन-कक्ष एक सुन्दर पुस्तकालय था। संसार का ऐसा कोई प्रतिष्ठित पत्र नहीं जो उसकी दृष्टि से न गुज़रता हो। अगाध पाण्डित्य, अतुल वैभव एवं विमल कुल को पाकर भी विमल को कणमात्र अहङ्कार नहीं था। मुख पर नृत्य करती थी शिशु की सी सरल हँसी; हृदय में विलसित होता था ऋषि का सा पवित्र भाव; नयनों में हँसती थी माता की सी करुणा, और कर्म-क्षेत्र में हुङ्कारती थी पौरुषमयी कर्त्तव्य-बुद्धि—विमल एक आदर्श-युवक था।

पर जब से शान्ता आ गई थी, तब से उसके विमल हृदय में एक नवीन स्फूर्ति सी उत्पन्न हो गई थी। जब से उसने यह जान पाया था कि सती-रत्न शान्ता ने एक महत् उद्देश्य को लेकर उसके यहाँ आश्रय लिया है, तब से तो वह अविश्रान्त प्रयत्न के द्वारा उसको सफल करने की चेष्टा में लग गया था; और लगभग दो महीने के अनवरत प्रयास के उपरान्त उसने समस्त काशी-वासियों की सहानुभूति को प्राप्त कर लिया था। बड़े-बड़े विद्वानों से, बड़े-बड़े धनाढ्यों से एवं बड़े-बड़े प्रतिभा-शाली नेताओं से मिलकर उसने सती शान्ता के उस महत्

उद्देश्य की चर्चा की—उस सती-रत्न के प्रोज्ज्वल जीवन की पवित्र गाथा सुनाई। इस प्रकार निरन्तर चेष्टा करके उन सबकी सहानुभूति प्राप्त की। उन सबने एक मत से यही स्थिर किया कि समस्त काशी-वासियों की एक विराट् सभा भगवती गङ्गा के पवित्र तट पर आमन्त्रित की जाय, और वहाँ पर स्वयं सती-रत्न शान्ता अपने उस महत् उद्देश्य को सुनावे, और शीघ्र ही रमणी-समाज के सुधार एवं उद्धार के लिए एक विशाल संस्था स्थापित की जाय। यथाशक्ति सब—छोटे से लेकर बड़े तक उसमें सहायता दें।

आज सायङ्काल के सात बजे उसी विराट् सभा की आयोजना की गई है। उसी के प्रबन्ध के लिए विमल कपड़े पहिनकर बाहर जाने को प्रस्तुत हो रहा था। विमल धीरे-धीरे महाकवि द्विजेन्द्र के "आँमार देश" नामक महा-सङ्गीत को गुनगुना रहा था। उस समय दिन के लगभग ११ बजे होंगे। ठीक उसी समय उसके उस कक्ष में सती शान्ता ने प्रवेश किया।

सती ने कहा—भैया! इस प्रकार के कठोर परिश्रम से तुम्हारा शरीर आधा भी नहीं रह गया है। न, इतने कष्ट की आवश्यकता नहीं है। अपने शरीर की ओर भी ध्यान देना चाहिए। नहीं तो यह फिर चलेगा कैसे?

विमल हँसकर बोला—न जीजी, मुझे तो अपने शरीर में एक ऐसी स्फूर्ति प्रतीत होती है, जैसी मैंने आज तक कभी अनुभव नहीं की। जब से तुम आई हो, तब से मुझे ऐसा आभास होता

है, मानो मेरे घर मे साक्षात् शरीरधारिणी पुण्य-प्रेरणा आविर्भूत हुई है। मेरा मन पवित्र उल्लास की रङ्गभूमि बन गया है। इच्छा होती है कि मै भूख, प्यास, नीद—सबको जीतकर तुम्हारी सेवा करता रहूँ। तुम्हारे महत् उद्देश्य कि सिद्धि के लिए एक बार प्राणों की आहुति देकर अमरत्व लाभ करने की इच्छा हो रही है। पर दुर्बल मनुष्य हूँ, जितना कर पाता हूँ, करता हूँ; जितनी इच्छा है, उतना तो कर नही पाता। और आज ? आज तो मेरी साधना का इष्ट-दिन है। आज मै तुम्हें साक्षात् भगवती की भाँति, जनता की पवित्र श्रद्धा से अर्चित देखकर, अपने नयनों को सफल करूँगा। जीजी ! तुम्हे पाकर मै सब-कुछ पा गया हूँ। बहिन का स्नेह कैसा पवित्र, कैसा उज्ज्वल एवं कैसा अभ्युदयकर होता है, सो मैने अब जान पाया है। जीजी ! तुम पूरी तौर से निश्चिन्त रहो; तुम्हारे श्रीचरणों के आशीर्वाद से मेरा कल्याण ही होगा, मेरा कुछ भी अनिष्ट नहीं हो सकता।

इन स्नेह और श्रद्धा से सरस वचनो को सुनकर शान्ता के लोचन-कमल जलार्द्र हो गए। उसने स्नेह-विकम्पित कण्ठ से कहा—भैय्या विमल ! तुम धन्य हो। पूर्व-जन्म के पुण्यों से मैंने तुम्हें पाया है। मेरा उद्देश्य ! मेरा उद्देश्य कुछ नहीं है। मैं तो निमित्त मात्र हूँ, मैं तो कल्पना हूँ, पर चित्रकार तो तुम्हीं हो। मै तो भावना हूँ, पर कवि तो तुम्ही हो। तुम्हारे ही अजस्र परिश्रम का यह पुण्य-फल है भाई !

विमल ने प्रीति-प्लावित स्वर में कहा—जीजी ! पर चिन्ता

और कल्पना ही तो मूल है—आदि है। चित्रकार और कवि तो साधन मात्र हैं। मै तुम्हारे आशीर्वाद ही से इस प्रयत्न में सफल हुआ हूँ। आज रात्रि को मै गङ्गा-दुकूल पर स्थापित मञ्च के ऊपर तुम्हे खड़ा करके काशी-वासियो को दिखाऊँगा कि महामाया की पवित्र बिभूति की साकार मूर्ति कैसी होती है। पवित्रता की प्रोज्ज्वल प्रतिमा कैसी पूर्ण रूप से देदीप्यमती होती है। काशी-वासी अपनी इस अन्नपूर्णा के श्रीचरणों मे अपनी भक्ति-पुष्पाञ्जलि बड़े प्रेम से, बड़ी श्रद्धा से अर्पित करेगे। यह दृश्य देखने योग्य होगा। बहिन! मै जाता हूँ, मुझे बहुत काम करना है।

विमल चला गया। शान्ता उस शून्य कक्ष में खड़ी-खड़ी आप ही आप कहने लगी—विमल भैय्या वास्तव मे कैसे सरल, कैसे सच्चरित्र युवक हैं। कैसे कोमल हैं, कैसे उज्ज्वल है? दिन-रात कर्त्तव्य के लिए भागे-भागे फिरते है। कौन कहता है कि संसार असार है? इतना निस्स्वार्थ परोपकार, इतनी सुन्दर सेवा, इतना प्रोज्ज्वल पुण्य-व्यापार—क्या सब निस्सार हैं, निरर्थक हैं? व्यर्थ ही मे क्या माता का हृदय पयोधरो के द्वारा दूध की विमल धारा बहाता है? अकारण ही क्या पुण्य कठोर कर्त्तव्य-कर्म करके तथा लौकिक हानि उठा कर आत्म-सन्तोष की उपलब्धि करता है? सो बात नहीं है। संसार में असार एवं क्षय वस्तु के पार्श्व-देश ही मे सार एवं अक्षय पदार्थ विद्यमान रहता है। यदि सार न हो तो असार का ज्ञान ही कैसे हो? पुण्य का आलोक न हो तो पाप का वीभत्स

स्वरूप कैसे जान पड़े ? हाहाकार मे रहकर भी जो शान्त है; व्यथा मे विचरण करके भी जो निर्विकार है; अभाव से पीड़ित होकर भी जो पर-मुखोपेक्षी नही हैं; तिल-तिल जल कर भी जो आह नही करते हैं, वे निश्चय ही महापुरुष हैं। पर जो विभव पाकर उसके निस्स्वार्थ वितरण करने के लिए सदा उत्कण्ठित रहते हैं; सहस्र-सहस्र दासो से परिवेष्टित होकर भी जो दूसरो की सेवा में सतत रत रहते है; सुखी होकर जो व्यथा के लिए करुणा के आँसू बहाते है; निश्चिन्त होकर भी जो दुखी के लिए सर्वदा चिन्तित रहते है; प्रबल होकर भी जो निर्बल के चरण चापने को समुद्यत रहते हैं, वे परम योगीश्वर हैं। विमल ! विमल ! तुम भी भगवती की, उसी महिमामयी योगमाया की आंशिक विभूति हो। जगज्जननी ! तुम्हे चिरायु करें !!

सती का आशीर्वाद मन्दाकिनी के पवित्र प्रवाह से भी अधिक पावन एवं तपोमयी साधना से भी अधिक फल-प्रद है, स्वय देवादिदेव महादेव, त्रिभुवनपति विष्णु भगवान् एवं चतुर्मुख ब्रह्मदेव उसके पद-प्रान्त मे प्रणिपात करके उससे आशीर्वाद की भिक्षा मॉगते है, और जिसे सती स्वयं प्रसन्न होकर आशीर्वाद दे दें, उसके समान सौभाग्यशाली कौन है ?

## प्रायश्चित्त
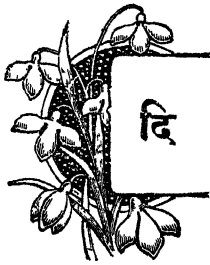
दिन का चतुर्थ प्रहर प्रारम्भ हो गया है। लगभग चार बजे का समय है। गङ्गा की विमल सलिल-धारा में सूर्य्य की किरण-राशि स्नान कर रही है, और मल्लाहो की झूमती हुई नौकाएँ, मुग्ध नायिकाओ की भाँति, इठलाती हुई तैर रही हैं। गङ्गा के पुलिन-प्रान्त पर एक गैरिक वसन-धारी प्रौढ़ संन्यासी खड़ा है। उसके हाथ मे एक विज्ञापन है। उसे ध्यानपूर्वक पढ़कर वह आप ही आप कहने लगा :—

"श्रीमती शान्तादेवी का दिव्य भाषण होगा—कौन शान्ता ? क्या वही सती शान्ता तो नहीं है, जिसको मै इतने दिनो से ढूँढ़ता फिर रहा हूँ। आज क्या मेरा यह सतत अन्वेषण सफल हो जायगा ? भगवती करे, यह वही सती शान्ता हो। मैं अपन सम्पत्ति के इस उत्सर्ग-पत्र को लिए-लिए फिर रहा हूँ। आज यदि मेरे सौभाग्य के विधान से मुझे उस सती का पुण्य-

दर्शन इस महासभा मे प्राप्त हो जाय, तो मै इस चिन्ता से मुक्त हो जाऊँ। उसके चरणों की पवित्र रज सिर पर धारण करके एवं उसके पवित्र कर-कमलों मे यह तुच्छ उत्सर्ग-पत्र देकर मै निश्चिन्त भाव से हिमालय की गुफा मे जाकर, तपोमयी साधना में प्रविष्ट हो जाऊँ। मेरे हृदय की व्याकुलता बहुत बड़े अंश मे समाप्त हो जाय।

"अहा! अब मैं देख रहा हूँ कि सती की कैसी महिमा है? मेरा हृदय बार-बार यही कहता है कि यह शान्ता वही सती है, नही तो आज काशी में ऐसा विपुल उत्साह कैसे दिखाई देता? जिधर निकला उधर आज ही की विराट् सभा की चर्चा सुनाई पड़ी। जिसे देखो वही इस महासभा में योग देने के लिए समुत्सुक है। सारी काशी आज उद्वेलित हो रही है। गली-गली उस सती के पवित्र नाम से मुखरित हो रही है। जिससे मिला उसने यही कहा कि जनता में आज जैसा विपुल उत्साह दिखाई पड़ता है, वैसा कभी नही देखा गया था। सबके सब बड़ी उत्कण्ठा से सायङ्काल के सात बजे की बाट देख रहे हैं।

सती का उद्देश्य है, सिद्ध तो होगा ही। पतिव्रता का पुण्य सङ्कल्प है, उसका पूर्ण होना तो स्वतः प्रमाण है। और मै तो आज अपने को बड़ा सौभाग्यशाली समझूँगा, यदि मुझे उस महासभा मे उस सती का, उस परम शुद्ध मूर्ति का दर्शन मिल गया। क्योकि ऐसा होने से मै उसे उपयुक्त अवसर पर पा सकूँगा, और अपनी इस तुच्छ भेंट को उसके पुण्य-पाद-पद्म मे भक्तिपूर्वक

समर्पित करके मैं आंशिक रूप में उसके महत् पवित्र उद्देश्य की सफलता मे सहायक हो सकूँगा । भगवति गङ्गे! तुम्हारे श्रीचरणो मे मेरी यह प्रार्थना है कि तुम अपने पुण्य-दर्शन के फल-स्वरूप मेरी इस आन्तरिक अभिलाषा को पूरी करना। तुम दयामयी हो; करुणा की धारा बनकर तुम इस मत्सर-मथित संसार को शीतल करती हो। मेरे ऊपर ध्यान मत देना देवि! मैं तो महापापी हूँ। पर तुम अपनी करुणा की ओर ध्यान देना मैया मेरी! बहुत घूम चुका हूँ, प्रत्येक तीर्थ में, प्रत्येक पवित्र स्थान मे मैं घूमता फिरा हूँ। रात-दिन मैंने महा-माया की इस प्रोज्ज्वल किरण को ढूँढ़ा है। आज मेरे हृदय में आशा का सञ्चार हुआ है, आज तुम्हारे चरणो से पवित्र की हुई इस मुक्ति-दायिनी नगरी मे मैंने उसका पता पाया है। अब मत निराश करना देवि! इस बार मुझे हताश मत करना देवि! इस बार अवश्य उसका पुण्य-दर्शन दिलाना। मैंने सच्चे हृदय से प्रायश्चित्त करना प्रारम्भ किया है। माँ! ऐसी दया करना कि अब इसमे व्याघात न हो। त्रैलोक्य पावनकारिणि! पतितोद्धारिणि! जगदीश्वरि! मन्दाकिनी! जननि!! मै कुछ भी होऊँ—पापी होऊँ, अत्याचारी होऊँ—पर मैं तुम्हारा ही हूँ। पाप किया है, पर परितापमय प्रायश्चित का भी दृढ़ सङ्कल्प किया है, मेरी माता! अब क्षमा करना देवि! तुम्हारे ही पवित्र श्रीचरणो का आश्रय है, तुम्हारी ही करुणा-दृष्टि का एकमात्र अवलम्ब है। यदि तुम अब की बार भी प्रसन्न नहीं

हुई तो देवि ! मेरा निस्तार नहीं । त्राहिमाम देवि ! पाहि माम जननि !!

इतना कहते-कहते संन्यासी रोने लगा। यह संन्यासी और कोई नही, हमारे पूर्व-परिचित, पर पूर्ण परिवर्त्तित ठाकुर बलवन्तसिह ही हैं।

सच्चा प्रायश्चित्त ही पाप के प्रबल पयोधर-पुञ्ज को छिन्न-भिन्न करने मे प्रचण्ड वायु के समान समर्थ है। बलवन्तसिह ने उसी का आश्रय लिया है। विमुक्ति अब समय का प्रश्न है।

कठोर तप, निस्स्वार्थ त्याग एवं धर्म्ममय परिताप—जब तीनों मिलकर पाप के प्रकाण्ड दुर्ग पर आक्रमण करते हैं, तब वह विध्वंस होकर भूमिसात हो जाता है। स्वयं महा शक्तिशाली शैतान अपनी समस्त दुर्दण्ड सेना को सञ्चालित करके भी उसकी रक्षा करने में अक्षम सिद्ध होता है। भागवती-व्यवस्था का यही चिरन्तन नियम है।

## सङ्कल्प की पूर्ति

ज गङ्गा जी का उन्मुक्त, विशाल पवित्र पुलिन-प्रान्त असंख्य जन-समूह से परिपूर्ण हो रहा है, मानो सारी काशी वहाँ एकत्रित हो गई है। एक विशाल मञ्च पर काशी का गण्य-मान्य विद्वन्मण्डल; प्रतिष्ठित, धनाढ्य जन-समुदाय एवं प्रभावशाली नेता-दल आसीन है। सारी जनता पवित्र पृथ्वी पर बैठी हुई है। सब समुत्सुक होकर सती शान्ता के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे है। सबकी आँखें उसी पथ की ओर हैं, जिधर से वह आने वाली हैं।

आज होली की पूर्णिमा है। पूर्व-गगन की ओर भगवान् चन्द्रदेव भी आकर उस महासभा की कार्य्यवाही देखने के लिए सुशोभित हो गए। उनके गले मे दोलायमान् हो रहा था नक्षत्रहार। मन्द समीर, भगवती मन्दाकिनी के विमल सलिल-स्पर्श से शीतल हो रहा था। कैसा मनोरम समय था; कैसी आनन्द की घड़ी थी। एक ओर प्रवाहित हो रही थीं भगवती गङ्गा, दूसरी ओर प्रवाहित

हो रहा था जनता का उत्साह-सिन्धु। एक ओर आकाश मे हँस रहा था सुधांशु, दूसरी ओर पृथ्वी पर प्रदीप्त हो रहा था पवित्र प्रेम-प्रदीप। एक ओर आकाश स्नान कर रहा था सुधामयी चन्द्रिका की शीतल धारा मे, दूसरी ओर प्लावित हो रही थी वाराणसी पवित्रता की तरङ्ग-माला से।

धीरे-धीरे घड़ी ने सात बजा दिए। ठीक उसी समय एक ओर से सती शान्तादेवी ने प्रबुद्धशेखर, योगीश्वर एवं विमल के साथ प्रवेश किया। योग मे बड़ी शक्ति है। अपने योग-बल से योगीश्वर ने आज की विराट् सभा का समाचार जान लिया था, इसीलिए वे सायङ्काल पाँच बजे ही अपने सखा प्रबुद्धशेखर के यहाँ आ गए थे। इसीलिए आज हम उन्हे भी शान्ता के साथ इस महासभा मे प्रवेश करते हुए देखते हैं।

आगे-आगे थे योगीश्वर और पीछे थे प्रबुद्धशेखर तथा बीच में थी सती शान्ता और सबसे पीछे एक ओर को चल रहा था विमल। प्रबुद्धशेखर एवं योगीश्वर के मध्य मे शान्ता ऐसी प्रोद्भासित हो रही थी मानो तप और त्याग के मध्य में अनुभूति की आभा हो; धर्म और योग के मध्य में मानो निर्वाण की अक्षय ज्योति हो; विश्वास और वैराग्य के बीच में मानो आत्म-परितृप्ति की प्रभा हो; स्नेह और सन्तोष के बीच में मानो पवित्रता की शोभा हो, अनुष्ठान और जप के मध्य मे मानो साधना की श्री हो। और पीछे-पीछे विमल ऐसा शोभित हो रहा था, मानो स्वर्गीय वैभव स्वयं-सेवक बनकर उनका अनुकरण कर रहा हो।

सारी जनता ने एक ध्वनि से 'भगवती अन्नपूर्णा की जय' कह-कर उनका अभिनन्दन किया। हर्ष के उल्लास में जन-समूह सागर की भाँति उद्वेलित हो उठा। समस्त जनता के मुख-मण्डल पवित्र उत्साह से जगमगा उठे।

सभा का कार्य्य प्रारम्भ हो गया। श्री श्री अन्नपूर्णा बालिका-विद्यालय की किशोरिकाओं ने मधुर, मृदुल स्वर में जगज्जननी की स्तुति करते हुए बड़ी सरल भक्ति से नीचे लिखे दो श्लोक गाए:—

## श्लोक

कैलासाचलकन्दरालयकरी गौरी उमा शङ्करी।
कौमारी निगमार्थगोचरकरी ओङ्कारबीजाक्षरी॥
मोक्षद्वार-कपाट-पाटनकरी काशी पुराधीश्वरी।
भिक्षां देहिकृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी॥ १॥
चन्द्रार्कानल-कोटि-कोटि-सदृशा चन्द्रांशुबिम्बाधरी।
चन्द्रार्काग्निसमानकुन्तलधरी चन्द्रार्कवर्णेश्वरी॥
मालापुस्तकपाशसांकुशधरी काशीपुराधीश्वरी।
भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी॥ २॥

इसके उपरान्त काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पण्डित जयदेव तर्कालङ्कार ने सभापति के आसन को सुशोभित करते हुए कहा:—

"भाइयो और बहिनो! आज जिस उद्देश्य से यह सभा आमन्त्रित की गई है, उसका आभास विज्ञापन ही में दिया जा चुका

है। उस विषय पर मै नहीं कहूँगा। उसकी सरल, सुबोध ओजस्विनी विवेचना को मै इस सभा की प्रधान सञ्चालिका सती शान्ता के ऊपर छोड़ता हूँ। वे ही इसकी पात्री हैं। पर उन सती के श्रीचरणो मे एक-दो शब्दो द्वारा मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि अवश्य अर्पण करूँगा। देवी जी बाल-विधवा है, परम कल्याणमयी पूज्या जननी के विशुद्ध साहचर्य्य ने उनके जीवन को तपोमय बना दिया था; उन्हीं के आशीर्वाद और प्रताप से देवी शान्ता एक महा लम्पट ज़मींदार के प्रबल हाथो से अपनी सतीत्व-रक्षा करने में समर्थ हुई थीं। उस सारी करुण-कथा को सुनाने का न तो मेरे पास अवकाश ही है, और न इसके लिए यह उपयुक्त अवसर ही है। पर कम से कम इतना अवश्य निवेदन करूँगा कि जब तक इस पवित्र भारत-भूमि पर देवी शान्ता जैसी सती हमे सन्मार्ग दिखाने के लिए अवतीर्ण होती रहेगी, तब तक हिन्दू-धम का एकान्त विनाश असम्भव है। नारी की महिमा, रमणी की गरिमा एवं स्त्री की पवित्रता इन तीनो की देवी जाज्वल्यमान् आदर्श हैं। उन्ही के पवित्र पाद-पद्म को अभिवादन करके मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि वे अपनी अमृतमयी वाणी से हमारे हृदयो को प्लावित करें।"

सभापति जी बैठ गए। शान्ता धीरे-धीरे आकर मञ्च पर खड़ी हो गई। अहा! वह स्वरूप कैसा पवित्र, कैसा प्रोज्ज्वल था। शुभ्र खद्दर की साड़ी मे वह निष्कलङ्क मुख चन्द्रमा की चाँदनी मे झलझला उठा। जनता ने 'जय अन्नपूर्णा की' कहकर

उसका अभिवादन किया। उसकी वक्तृता के कतिपय अंश हम नीचे उद्धृत करते हैं:—

"हमारी निर्बलता एवं सबलता हमारे दृढ़ सङ्कल्प में है। हम स्त्री-जाति त्रिशङ्कु सम्प्रदाय की नहीं है। हमारी प्रवृत्ति की धारा निर्द्वन्द्व होकर बहती है। पुण्य के लिए हम सहास्य-वदन होकर प्राण-त्याग कर सकती हैं, पाप के प्रलोभन में पड़कर हम परिणाम की चिन्ता न करके शिखा-पर्य्यन्त पतन के सिन्धु मे निमग्न हो सकती है। इसीलिए इस बात की परम आवश्यकता है कि हमारे हृदय बाल्य-काल ही से पुण्य की पावन ज्योति से परिपूर्ण कर दिए जायँ! इस संसार मे हमे सम्बलविहीन, शिक्षा-विहीन रखकर यदि आप हमारी प्रवृत्तियो को बेरोक-टोक प्रधावित होने देंगे, तो उसका परिणाम भयङ्कर होगा—एकबार ही भयङ्कर विनाश का कारण होगा... ...... ।

"आपसे हमारी परिपूर्णता है, और हमसे आपकी। पर यदि विचारपूर्वक देखिए तो हमसे आपको बहुत सहायता मिलती है। गृह की हम स्वामिनी हैं, अतः प्रबन्धकर्त्री हैं; विपत्ति-काल मे हम भगिनी हैं और यदि दुर्भाग्यवश पतिदेव से हमारा विच्छेद हो जाय, तो हम उनकी विमल स्मृति को अमूल्य रत्न की भाँति हृदय मे धारण करके चिर-तप मे प्रवृत्त हो जाने वाली हैं। हमारे इस कर्त्तव्य-त्रय का, जिनसे हमे पूर्ण ज्ञान हो जाय, उसकी पूर्ण एवं समुचित आयोजना करना आपका परम कर्त्तव्य है; और यदि आप इस कर्त्तव्य की अवहेलना करेंगे, तो हमारा तो

सर्वनाश हो ही जायगा, पर उसके साथ ही साथ आपकी भी चिर-शान्ति अवश्य ही विलीन हो जायगी...... . .......।

"तब देर क्यो? आइये, इस महायज्ञ मे सम्मिलित हो जाइए। जो करना है, वह करना है; और यह तो जीवन-मरण का प्रश्न है। अपने इस तुच्छ जीवन मे मैने जो-जो कटु-अनुभव प्राप्त किए है, उनसे मै इसी परिणाम पर पहुँची हूँ कि यदि हमारी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध हो जाय; बाल्यकाल ही से यदि पवित्र साहचर्य्य एवं धार्मिक उपदेशो के द्वारा हमारे निर्बोध हृदय एवं मृदुल मस्तिष्क पाप के आक्रमण से अभेद्य बना दिए जायॅ, तो मै निश्चयपूर्वक कह सकती हूँ कि एक बार फिर हमारी यह सुवर्णमयी वसुन्धरा हास्यमयी हो जायगी; हमारे गृह नन्दन-निकुञ्ज बन जायॅगे, एवं हमारा जीवन धर्म का एक प्रोज्ज्वल अंश बनकर दुखी को सुखी, व्यथित को आनन्दित एवं अभाव को परिपूर्णत्व में पूर्ण रूप से परिणत करने मे सफल हो सकेगा।

"मैने सोचा है कि यहाँ—विश्वनाथपुरी काशी मे—एक बनिता-विश्राम स्थापित किया जाय। दूर—जन-कोलाहल से दूर—एक आश्रम हो। वहॉ बालिकाएँ रहकर गृह-प्रबन्ध, कला-कौशल इत्यादि की शिक्षा प्राप्त करें; युवती एवं प्रौढ़ा विधवाएँ तथा अन्य अनाथ रमणियॉ वहॉ रहकर पवित्र धार्मिक अनुष्ठान एवं व्रत, संयम इत्यादि का अभ्यास करें। हिन्दू-समाज की वृद्ध-विवाह, बाल-विवाह इत्यादि कुरीतियो का विरोध करने वाला साहित्य वहॉ से प्रकाशित किया जाय, और रमणी-मण्डल

की उन्नति—कायिक, मानसिक, आध्यात्मिक उन्नति—की पूर्ण रूप से व्यवस्था की जाय। और इसके लिए मैं—बाल-विधवा—आपसे आँचल पसार कर भिक्षा माँगती हूँ . ...........!

"आप यदि पितृदेव विश्वेश्वर के स्वरूप हैं, तो हम मातेश्वरी अन्नपूर्णा की प्रतिमा हैं। तब आइए! पिता की भाँति हमारी इस भिक्षा को पूरी कर दीजिए, और हम माता की भाँति इस विशाल विश्व को वात्सल्य-धारा से प्लावित कर दें।"

शान्ता की इस सरल वक्तृता को सुनकर जनता उत्साहमयी हो गई। ठीक उसी समय एक ओर से एक गैरिक वसन-धारी प्रौढ़ संन्यासी मञ्च की ओर अग्रसर हुआ। जनता कौतूहलपूर्वक देखने लगी। सभापति जी से आज्ञा माँगकर उस संन्यासी ने बड़े दुःख एवं करुणा के शब्दों में कहा—

"भाइयो और बहिनो! जिस लम्पट एवं पापी की चर्चा श्रीमान् सभापति महोदय ने की थी, वह और कोई नहीं—ललितपुर का ज़िमीदार ठाकुर बलवन्तसिंह—मैं ही हूँ। मैंने ही इस सती पर अत्याचार करने का उपक्रम किया था। पर पाप क्या पुण्य को स्पर्श कर सकता है? अन्धकार क्या प्रकाश को परास्त कर सकता है? अग्नि के सन्सर्ग से सब कुछ अग्निमय हो जाता है और यही हुआ। इस सती के प्रभाव से मैं बदल गया। मेरे हृदय में जो ग्लानि उत्पन्न हुई थी, उसी का यह प्रभाव हुआ कि मैं संन्यासी हो गया।

"मैंने देखा था! वह देखने योग्य जाज्वल्यमान् सौन्दर्य्य था—हाथ में थी विकम्पित छुरिका; मुख पर था वीर-तेज; अधर पर था

दृढ़ सङ्कल्प; आँखों मे था स्फुलिङ्ग-पुञ्ज और ललाट पर शम्भु के कोदण्ड के समान था सहज त्रिपुण्ड्र। उसी महिमामय स्वरूप को हृदय मे धारण करके मै प्रायश्चित्त की प्रबल अग्नि मे कूदा हूँ।

"मैंने अपनी समस्त सम्पत्ति इसी सती के पवित्र नाम पर उत्सर्ग कर दी है। साल भर से मैं इस उत्सर्ग-पत्र को लिए हुए फिर रहा हूँ। आज सौभाग्य से मेरा मनोरथ सिद्ध हुआ और मैंने इनका पुण्य दर्शन प्राप्त किया।

"देवि शान्ते! यह उत्सर्ग-पत्र तुम्हारे कर-कमलो मे समर्पित है, और मैं प्रार्थना करता हूँ कि तुम मुझे क्षमा कर दो! जननी! माँ! अपनी पद-रज दो।"

बलवन्तसिह ने घुटने टेक दिए। जल्दी से शान्ता के पवित्र पद-पङ्कज की रज लेकर उन्होने अपने ललाट पर लगा ली। जनता अवाक् होकर इस दृश्य को देखती रही। ठाकुर बलवन्तसिह सहसा भीड़ को चीरते हुए चले गए। उनके चले जाने पर जनता ने जय-ध्वनि की—'जय जननी! जय मातेश्वरी।'

उसी समय काशी के सुप्रसिद्ध धनी श्रीमान् सेठ गोपालराम जी खड़े हुए। उन्होने बड़ी श्रद्धा और प्रीति के शब्दो में कहा—

"अभी आपने जो दृश्य देखा है, वह अद्भुत था; एकान्त पवित्र था। धन्य हैं सती शान्ता! वे पारस-पथरी है; लोहा भी उनके स्पर्श से सोना हो जाता है। सती शान्ता के इस उद्देश्य की पूर्ति करना हमारा कर्त्तव्य ही नही, किन्तु धर्म है; और इसी धर्म को पालन करने के लिए मै अपनी गङ्गा के निर्जन तट पर स्थित,

यहाँ से लगभग दो मील दूर पर जो कोठी है, उसे इस संस्था के लिए देता हूँ। इस संस्था के योग्य विशाल भवन बनवाने में बहुत समय तथा धन लगता, और यह कोठी है भी इसी योग्य। मेरी सम्मति में परसों ही—द्वितीया के दिन नव-वर्ष के प्रारम्भ ही में इस संस्था का उद्घाटन कर दिया जाय। साथ में तुच्छ भेंट-स्वरूप २०,०००) भी देता हूँ।

"एक बात और है। मेरे आराध्य मित्र श्रीमान् पण्डित-प्रवर प्रबुद्धशेखर जी ने—जो इन सती के धर्म-पिता हैं, एक लक्ष रुपया इस संस्था के लिए दिया है। यद्यपि उनकी इच्छा नहीं थी कि इस बात की घोषणा की जाय, क्योंकि बेटी को दिए हुए दान की घोषणा ही क्या! पर इस विश्वासघात के लिए मैं दोषी हूँ—उसका दण्ड सहने के लिए भी मैं प्रस्तुत हूँ। मेरे मित्र को इस अपराध के दण्ड का विधान करने का पूर्ण अधिकार है।"

अब क्या था, ठीक सभा-स्थल पर ही लगभग दो लाख रुपए का दान मिल गया। लगभग १० गाँव की सम्पत्ति भी प्राप्त हो गई और लगभग २,००,०००) के वचन भी मिले। इस प्रकार बड़े उल्लास के साथ सभा समाप्त हुई।

सती का सङ्कल्प ही कार्य्य की सफलता का चिह्न है। ऋषियों की वाणी के पीछे अर्थ, पुण्य के प्रवाह के पीछे सिद्धि एवं पातिव्रत के पीछे स्वयं महाशक्ति की महाप्रभा चलती है।

## मिलन
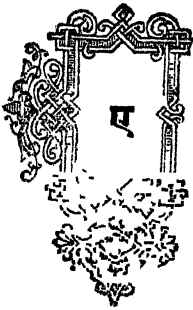
एक तो पहले ही से शरीर कृश एवं व्याधि-ग्रस्त हो रहा था। अब तो प्रसूत के उपरान्त से मनोरमा एकान्त रूप से क्लान्त और शिथिल हो गई; ज्वर जीर्ण-ज्वर में परिणत हो गया। एक ओर था दरिद्रता का दारुण आक्रमण, दूसरी ओर था निरन्तर भ्रमण, तीसरी ओर था प्रबल उन्माद और चौथी ओर था कठोर रोग। मनोरमा इस भाँति चारो ओर से आक्रान्त होकर बड़ी ही विकल हो उठी। अब बेचारी ज़रा भी दूर चलती, बैठ जाती। कोई दया करके कुछ दे देता, खा लेती। बड़ी विपत्ति थी, प्रबल ज्वाला थी; पर प्राण नहीं निकलते थे। कहने को तो प्राण वायु के स्वरूप हैं, पर हैं बड़े कठोर। मनोरमा बेचारी धीरे-धीरे कङ्काल-शेष हो गई।

एक दिन की बात है। सान्ध्य गगन स्वर्ण-वर्ण किरण-राशि से रञ्जित हो रहा था। वनस्थली धीरे-धीरे प्रगाढ़तर छाया से आवृत होती जाती थी। दिन भर तो मनोरमा फिरती रही, दो चुल्लू जल के अतिरिक्त उसके मुँह में कुछ नहीं गया था। सायङ्काल को वह किसी जन-शून्य स्थान में रात भर पड़ी रहने के लिए चल दी थी; पर चलते-चलते बैठ गई। ज्वर बड़े वेग से चढ़ आया। निर्बलता के ऊपर दिन भर के निरन्तर भ्रमण की शिथिलता और उस पर ज्वर का दारुण प्रकोप। मनोरमा मूर्छित होकर घास पर पड़ गई। रात्रि का अन्धकार धीरे-धीरे गाढ़तर होने लगा।

उसी समय विमल उस ओर एक नौकर के साथ आ निकला। वह उस समय 'वनिता-विश्राम' की ओर से आ रहा था। कभी-कभी वह 'वनिता-विश्राम' की ओर शान्ता के पुण्य-दर्शन के लिए तथा उसकी सुचारु व्यवस्था के निरीक्षण के लिए जाया करता था। वहीं से इस समय वह लौट रहा था। उसने देखा कि एक रमणी सड़क के किनारे ही घास पर मूर्छित पड़ी है। विमल था सेवा-व्रत का एकान्त अनुष्ठान करने वाला, वह तो ऐसे अवसर की खोज ही में रहता था। वह तत्काल ही उस रमणी के पास गया। उसके शरीर पर हाथ रखते ही उसे ज्ञात हुआ कि रमणी को बड़े तीव्र-वेग से ज्वर चढ़ा हुआ है। वह उसे नौकर की सहायता से 'वनिता-विश्राम' मे ले आया। चिकित्सा-विभाग की प्रधानाध्यक्षा श्रीमती प्रसन्नमयी देवी को उसने उस रमणी को सौंप दिया।

श्रीमती प्रसन्नमयी देवी ने तत्काल ही उसके वस्त्र बदलवा दिए, और कोमल शय्या पर उसे शयन करा दिया; औषधि की भी व्यवस्था कर दी, पर मनोरमा की मूर्च्छा न टूटी। श्रीमती प्रसन्नमयी देवी ने कुछ दुःख-भरे स्वर मे कहा—व्याधि बड़ी प्रबल है; कदाचित् साङ्घातिक है। रोगिणी की मूर्च्छा दूर होने के कुछ ही काल उपरान्त उसकी मृत्यु हो जायगी ! हाय ! यदि दो दिन भी पहले मैं इसे पा जाती, तो कदाचित् इसे बचा लेती, पर विधि का विधान अटल है !!

शान्ता उस समय पूजा-गृह मे थी, इसीलिए उसे इस रोगिणी के आने का समाचार विदित नहीं हुआ। पर जब रात को वह नित्य नियमानुसार रोगी स्त्रियो को देखने के लिए आई, तब उसने इस नूतन रोगी रमणी की बात सुनी। वह तत्काल ही उसे देखने के लिए उस ओर चली, जहाँ वह मूर्च्छित अवस्था मे पड़ी थी।

पर ज्योंही उसने देखा त्यो ही वह अवाक्, चकित एवं स्तम्भित सी रह गई। उसने देखा कि वह और कोई नही, उसकी बाल-सखी मनोरमा है! उसे देखते ही उसकी आँखों से आँसुओ की अविरल धारा बह चली। हाय ! आज मनोरमा की यह दशा !! हाय ! आज बाल-सखी का यह शिथिल, जर्जर-कङ्काल !! शान्ता मनोरमा की इस दुरवस्था को देखकर फूट-फूटकर रोने लगी। उसकी हिचकी बँध गई, आँसुओ की धारा रुकी ही नही—चेष्टा करने से वह और भी बढ़ने लगी। उसके हृदय में वह प्राचीन स्मृति

एकबार ही प्रोज्ज्वल हो उठी। ललितपुर का वह सान्ध्य एवं उषा-काल; महेन्द्रा का वह कलकल नाद; आपस का वह करुण रोदन; माता का वह दुलार; सखी का वह प्यार—सब एक-एक करके उसकी आँखों के सामने आने लगे। वह फूट-फूटकर रोने लगी!

उसकी ऐसी विकल दशा देखकर सबकी सब स्तम्भित एवं अवाक् हो गईं। उनके करुण स्वभाव को सब कोई जानती थीं! पर आज जैसा उसका विकल भाव उन्होंने कभी नहीं देखा था। श्रीमती देवी प्रसन्नमयी ने पूछा—जीजी! आज तुम इतनी अधिक विकल क्यों हो रही हो? सारी स्त्रियाँ शान्ता को जीजी कहती थीं, और श्रीमान् पण्डित प्रबुद्धशेखर जी को काका जी।

शान्ता ने कुछ शान्त होकर कहा—बहिन! कुछ विशेष कारण है। उसे इस समय न कहना ही श्रेयस्कर है।

उनकी बात का कोई प्रतिवाद नहीं करता था। यद्यपि कारण जानने की सबकी इच्छा थी, पर उनके इस कथन को सुनकर फिर किसी ने कुछ न पूछा।

शान्ता ने करुण भाव में कहा—बहिन प्रसन्नमयी! मैं आज सारी रात इसी रोगिणी के पास अकेली ही रहूँगी। मेरी शीतल-पाटी और कम्बल यहीं भिजवा देना, बहिन! औषधि के विषय में भी मुझे बता देना। यदि कुछ विशेष बात हुई, तो मैं तुम्हें बुलवा लूँगी।

फिर भी किसी ने उनकी बात का प्रतिवाद नहीं किया, वे वहीं रहीं।

शान्ता को भय था कि मनोरमा कहीं ज्वर के उन्माद में अपने कलङ्क की बात न बक डाले और इस भाँति उसका वह पापपूर्ण रहस्य खुल जाय। हाय! शान्ता तुम कितनी उदार, कितनी उच्च हो। ऊँचे से ऊँचा नक्षत्र भी तुम्हारी समता नहीं कर सकता।

सौहार्द कितना ऊँचा, कितना सरल और कितना पवित्र भाव है !!

## पूर्व स्मृति
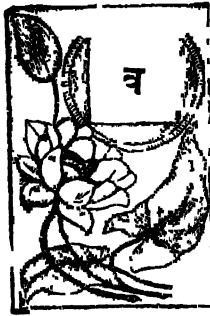
निता-विश्राम का प्रोद्घाटन बड़े समारोह से हो गया। बड़े-बड़े विद्वानों तथा ऋषियो की समुपस्थिति ने उसे पवित्र किया था। दो-तीन मास के भीतर ही विश्राम की पर्य्याप्त समुन्नति भी हो गई। कहीं कुञ्ज-भवन को छोटी-छोटी बालिकाएँ मुखरित करतीं; कहीं प्रौढ़ाएँ जप-तप में प्रवृत्त रहती; कही युवातियाँ कला-कौशल, औषधि-प्रयोग एवं अस्त्र-चिकित्सा इत्यादि अनेक उपयोगी विषयों की शिक्षा प्राप्त करतीं। एक बड़ा पुस्तकालय, एक बृहत् चिकित्सालय एवं एक विराट् अतिथिशाला भी वहाँ स्थापित की गई। अधिक क्या, भगवती मन्दाकिनी के उस परम पावन पुलिन पर, तपोवन की भाँति, वह संस्था स्थापित होकर भारतीय संस्थाओं की आदर्श-स्वरूपा हो गई!

वृद्ध-प्रवर प्रबुद्धशेखर एवं सती शान्ता वहीं रहने लगे।

योगीश्वर वहाँ नहीं रहते थे, पर वे कभी-कभी दर्शन अवश्य दे जाया करते थे। समाचार-पत्रों में इस संस्था की खूब चर्चा हुई और इसकी बड़ी प्रसिद्धि हो गई। भारतवर्ष की बड़ी-बड़ी विदुषी महिलाओं ने वहाँ आकर उस महायज्ञ में योग दिया। योगीश्वर की कल्पना, प्रबुद्धशेखर की आयोजना एवं शान्ता की तत्परता—इन तीनों की त्रिवेणी ने वनिता-विश्राम को पुण्य प्रयाग-तीर्थ में परिणत कर दिया। शान्ति, पवित्रता एवं साधना की मधुर सम्मिलित सङ्गीत-लहरी से वह विश्राम नित्य-निरन्तर मुखरित होने लगा। देवताओं का आशीर्वाद, गुरुजन की शुभेच्छा एवं परिजन की व्यापार-लीला—सब मानो शरीरधारिणी होकर वहाँ निवास करने लगीं। वनिता-विश्राम तप, त्याग और सेवा का पवित्र तीर्थ हो गया।

ऊपर के परिच्छेद में वर्णित घटना जिस दिन घटित हुई थी, उसी दिन की यह भी बात है। उस समय दिन के लगभग चार बजे होंगे। अर्थात् मनोरमा को लेकर विमल के आने से लगभग तीन घण्टे पहले की बात है। गङ्गा जी के दुकूल पर पड़ी हुई एक हिम-स्वच्छ शिला-खण्ड पर प्रबुद्धशेखर एवं शान्ता आमने-सामने बैठे हुए थे। भगवान् दिनमणि की विमल-स्वर्ण किरण-माला भगवती मन्दाकिनी के हिम-शुभ्र वक्षस्थल पर आनन्दमयी होकर, छोटी-छोटी बालिकाओं की भाँति [illegible] रही थी। मन्द वायु, मातेश्वरी की कलकल-वाहिनी तरङ्गमाला से, बालकों की जैसी आमोद-क्रीड़ा कर रहा था। उप[illegible] हुआ गुलाब दूर पर इस दृश्य को देखकर सुर[illegible] की भाँति मुस्करा रहा

था, और चम्पा की कली कोमल पल्लवाञ्चल में दुबककर परिहास-मयी समीर से लुका-चोरी खेल रही थी। ऊँचे-ऊँचे देवदारु के वृक्ष मानो एक पैर से खड़े होकर, सूर्य्य की ओर दृष्टि लगाकर तप कर रहे थे, और थोड़ी दूर पर मालती-मण्डप में कोमल किशोरिकाएँ, "आर्य-जनक जननि-जननी" नामक रवीन्द्र-रचित प्रसिद्ध मातृ-स्तुति को बड़े मधुर-कोमल स्वर में थिरक-थिरक कर गा रही थीं।

थोड़ी देर तक प्रबुद्धशेखर एवं शान्ता दोनो मन्दाकिनी की तरङ्ग-माला का आनन्दमय किलोल देखते रहे। पर शान्ता के मुख पर आज एक प्रकार की गम्भीर विषादमयी छाया की रेखा परिलक्षित हो रही थी। आज शान्ता के हृदय में कोई दुःखमयी चिन्ता सहसा समुद्भूत हो गई थी। प्रबुद्धशेखर से उसका यह मलिन भाव छिपा नहीं रह सका। उन्होंने स्पष्ट रूप से देख लिया कि शान्ता का हृदय-गगन आज सन्तोष-सूर्य्य की स्वर्ण-वर्ण प्रभा से प्रोद्भासित नहीं है, आज उसमें सहसा विषाद की काली घटा छा गई है। प्रबुद्धशेखर—निर्विकार, शान्त, वृद्धप्रवर भी विचलित हो गए, और शान्ता के इस दुःख के कारण को जानने के लिए वे और भी व्यग्र हो उठे। इस व्यग्रता का प्रधान कारण यह था कि जब से वनिता-विश्राम की स्थापना हुई थी, तब से शान्ता के मुख पर सदा विमल, हिम-स्वच्छ-कान्ति नृत्य करती रहती थी। पर आज सहसा वह मलिनता के आवरण में क्यों आवृत हो गई। इस आशङ्का से प्रबुद्धशेखर जी बहुत विकल हो उठे। शान्ता उनके हृदय की अमूल्य निधि थी। उसे वे विमल से

कणभर भी कम स्नेह नहीं करते थे। तब धर्म-पिता यदि पुत्री के इस विषाद-भाव को देखकर विकल हो गए, तो इसमें आश्चर्य को क्या बात है ?

प्रबुद्धशेखर जी ने बड़े स्नेह से पूछा—बेटी ! आज तेरा यह विषाद-भाव देखकर मेरा मन बड़ा चञ्चल हो रहा है। तेरा यह स्निग्ध-गम्भीर मुख आज सूख सा गया है, इसका क्या कारण है, बेटी ?

शान्ता ने बड़े करुण-स्वर मे उत्तर दिया—कुछ नहीं, पिता ! कारण मुझे स्वयं ही नही ज्ञात है। पर आज सहसा मेरे हृदय में मेरी जन्मभूमि—ललितपुर की स्मृति प्रदीप्त हो उठी है। आज न मालूम क्यों किसी अज्ञात प्ररेणा से परिचालित होकर मेरा मन बार-बार वहीं को प्रधावित होता है। महेन्द्रा की वह [illegible] सलिल-धारा; आम्र-कानन की वह मधुर सुगन्ध; [illegible] की वह कोमल कूक; मेरी सखियो की वह सरल, प्रेममयी वाणी; माता का वह चिर-विषादमय, किन्तु करुण-स्निग्ध [illegible] से [illegible] गम्भीर मुख-मण्डल—सब एक-एक करके मेरी आँखों के सामने आ रहे हैं। बहुतेरा मैं इस चञ्चल मन को रोकती हूँ, पर [illegible] मानता ही नहीं। आज मुझे ऐसा आभास हो रहा है कि [illegible] कोई ऐसी विषाद से भरी हुई घटना घटित होगी, जिसका सम्बन्ध ललितपुर से हो; और यह विषाद सहसा आप ही आप उत्पन्न हो गया है। किसी अमङ्गल की अज्ञात सूचना से मेरा मन बार-बार विकल हो जाता है—बार-बार कोई अनिष्ट-आशङ्का मेरे हृदय पर आघात करती है। इसी के कारण मैं इतनी विकल हूँ और उसी का आभास मेरे मुख पर है, पिता जी !

प्रबुद्धशेखर ने स्नेह-सरस शब्दों में कहा—बेटी ! महामाया की जो इच्छा होगी, सो होगा। चिन्ता करने से क्या लाभ है ? मैं जानता हूँ, अच्छी तरह समझता हूँ कि यह विषाद-भाव आप ही आप उत्पन्न हुआ है। कभी-कभी ऐसा ही होता है, बेटी ! पर तब भी संयम से, मन की प्रवृत्ति को दूसरी ओर प्रवाहित करके, इस दुश्चिन्ता को दूर करने का प्रयत्न करो, बेटी ! तुम्हारी जैसी संयम-शीला के लिए यह कोई असम्भव बात नहीं है।

शान्ता ने गम्भीर भाव से कहा—सो ही कर रही थी, पिता जी ! मन्दाकिनी के इस पवित्र सङ्गीत को सुन रही थी, दूर पर गाती हुई उन सरल बालिकाओं की मधुर मातृ-स्तुति को सुन रही थी। पर आज हृदय की यह विकलता दूर ही नहीं हो रही है। शान्त करने की चेष्टा विफल सी हो रही है।

प्रबुद्धशेखर ने वात्सल्य भाव में कहा—चेष्टा करो, मेरी बेटी ! सफल होगी। निरन्तर दमन से, अविरल सन्तोष से एवं सतत साधना से यह भाव मिट जायगा। आज ही तो तुम्हारे संयम की परीक्षा हैं। पर तब भी इतना अवश्य है कि तुम्हारा यह विषाद-भाव असार नहीं, असत्य नहीं। इसके नीचे करुणा की, स्नेह की धारा बह रही है—तुम उसे देख नहीं रही हो। यह लोभी की वासना के विफल हो जाने पर उत्पन्न होने वाला विषाद-भाव नहीं है, यह त्यागी की सच्ची सहानुभूति से उत्पन्न होने वाले दुःख का स्पष्ट करुण आभास है। यह लालसा की व्यग्र व्याकुलता की कालिमा नहीं है, यह करुणा की स्नेह-सरस प्रवृत्ति की स्निग्ध छाया

है। तुम अपने इस भाव को, अन्तर मे प्रवाहित होने वाली करुणा, सेवा और प्रीति की पवित्र त्रिवेणी मे डुबा दो। मेरी बेटी ! बहने दो निर्द्वन्द्व भाव से करुणा की कालिन्दी को; प्रवाहित होने दो अप्रतिहत गति से सेवा की सुर-सरिता को एवं हिल्लोलित होने दो स्नेह की कलकलमयी सरस्वती को।

शान्ता की आँखो मे एक प्रकार का आनन्द-प्रकाश प्रस्फुट हो उठा ! उसने श्रद्धापूर्वक पूछा—कैसे करूँ पिता जी ?

प्रबुद्धशेखर जी ने जलद-गम्भीर ध्वनि मे कहा—जाओ बेटी ! श्री श्री महामाया के उस आराधना-कुञ्ज में जाओ, वहाँ एकाग्र-मन होकर भगवती का जप करो; संयमपूर्वक बड़ी श्रद्धा के साथ अपने उस विषाद-भाव को उनके पादारविन्द में अर्पण कर दो। तुम देखोगी बेटी कि उनके पुण्य-पाद-नख की प्रोज्ज्वल प्रभा से यह विषाद सूर्य्य को भाँति जगमगा उठेगा।

शान्ता ने प्रबुद्धशेखर जी को प्रणाम किया, और सान्ध्य समीर के कोमल स्पर्श से विकसित पूजा-कुञ्ज में जाकर वह तन्मयी आराधना मे लीन हो गई। उसी समय जब वह ध्यान में मग्न थी, साधना मे तन्मयी थी, आराधना में विलीन थी, विमल मूर्छित, व्यथित मनोरमा को लेकर विश्राम में आया था।

महामाया का पाद-पद्म ही पुण्य-श्री का शान्ति-निकेतन है।।

## अभिशाप

न्ता सारी रात मनोरमा की शय्या के पास ही बैठी रही। एक पल को भी उसका पलक नहीं लगा, पर मनोरमा की मूर्च्छा नहीं टूटी। वह उसी भाँति—जड़ पाषाण-प्रतिमा की भाँति अचेत पड़ी रही। वक्षस्थल का उत्थान और पतन—यही जीवन के दो चिह्न थे; शेष सारे शरीर के व्यापार थे अचञ्चल, अचपल एवं मृत्यु के प्रत्यक्ष लक्षण !!

धीरे-धीरे ब्राह्म-मुहूर्त आ गया। समीर के शीतल झोंके पर आरूढ़ होकर फूलों की सुगन्धि नाचने लगी। अपने-अपने घोसलों से निकलकर एकाध पक्षी गान करने लगे। वनिता-विश्राम की युवती और प्रौढ़ाएँ धीरे-धीरे शय्या-परित्याग करके नित्य-नैमित्तिक कर्मों मे प्रवृत्त होने लगीं। ठीक उसी समय मनोरमा ने भी अपने नयन खोल दिए !!

मनोरमा ने उद्भ्रान्त भाव से अपने चारों ओर देखा। वह कहाँ है? कोमल शय्या पर, सुन्दर कक्ष में; और पास में कौन बैठा है? यह स्निग्ध, कोमल मुख तो परिचित है; अनेक बार का देखा हुआ सा है, और यह करुणा से भरी हुई स्निग्ध लोचन-द्वयी? इनकी दृष्टि से तो दृष्टि का सम्मिलन सहस्रों बार हुआ है। कौन है? कहाँ देखा है? सहसा स्मृति ने चुपके से आकर धीरे से कान में कह दिया—यह और कोई नहीं, यह बहिन शान्ता है। शान्ता? शान्ता? छोटी बहिन शान्ता? मनोरमा चञ्चल भाव से चारों ओर देखने लगी। प्रत्यक्ष उदाहरण था; पर हाय, विश्वास नही होता था। वह आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगी। शान्ता की आँखो से फिर आँसुओं की अविरल धारा बह चली!

शान्ता ने बड़े करुण-स्वर में पुकारा—बहिन मनोरमा! बहिन मनोरमा! अहा! ऐसा मधुर, ऐसा करुण, ऐसा कोमल स्वर सुनने की तो आशा उसने की नहीं थी। विश्वास हो गया—वही है—और कोई नहीं है। स्मृति ने धोखा नहीं दिया!!

मनोरमा ने चञ्चल, किन्तु क्षीण स्वर में कहा—कौन? बहिन शान्ता! आह! तुम्हीं हो! तुम्हीं हो!! सुन ली महामाया ने! मैंने भगवती से एक दिन प्रार्थना की थी कि मैं तुम्हें देखते-देखते प्राण-त्याग कर सकूँ। आज वही शुभ-अवसर है। पर बहिन! तुम यहाँ कैसे?

मनोरमा शय्या से उठने की चेष्टा करने लगी।

शान्ता ने सङ्केत से मना करते हुए कहा—उठो नहीं, [illegible]

बहिन ! आज तुम्हें इस दुर्दशा में, इस दुरवस्था में देखकर मैं बड़ी व्यथा पा रही हूँ; पर क्या करूँ, विवश हूँ। तो भी तुम चुपचाप लेटी रहो। जब तुम कुछ अच्छी हो जाओगी, तब हम एक-दूसरे की कथा सुनेंगी और सुनाएँगी। इस समय, बहिन तुम अधिक व्यग्र मत होओ।

मनोरमा ने निराशा की हँसी हँसकर कहा—अच्छी होऊँगी ? न बहिन ! अब असम्भव है। अब जा रही हूँ। वह दूर पर...दूर पर...खड़ा हुआ अपने कराल दण्ड के सङ्केत से मुझे बुला रहा है। वह जल रही है, वह...वह अग्नि-ज्वाला। आह ! जाना ही होगा बहिन ! बहिन, कहने का भी अब अधिकार नहीं है। मैं हूँ पापिन, कपटिन, विश्वासघातिनी। ओफ़ ! कैसी ज्वाला है, वह है, वह आ रहा है, कैसा विकराल है ? कैसा भयङ्कर है ? चलूँगी, कूदूँगी, जलूँगी, शान्ता ! शान्ता ! मैं तुमसे क्षमा माँगती हूँ। क्षमा ! करुणा ! दया ! बहिन ! मैंने घोर पाप किया है, परिणाम प्रत्यक्ष है, और उसका बहुत बड़ा अंश वह...वह...... भविष्य के गर्भ में है, पर ...........

मनोरमा उत्तेजना के वश में होकर कहने को तो यह सब कह गई, पर इससे वह और भी शिथिल हो गई। उसका श्वास फूल उठा, वक्षस्थल जल्दी-जल्दी स्पन्दित होने लगा। मनोरमा ने पानी माँगा, शान्ता ने मुख में शीतल गङ्गाजल दिया। मनोरमा कुछ शान्ता हो गई।

शान्ता ने उसका शिथिल हाथ अपने कर-कञ्ज में लेकर बड़ी

सान्त्वना के साथ कहा—मेरी बहिन! शान्त होओ। शान्ता तुम्हारी छोटी बहिन है। तुम चाहे कैसी होओ, पर शान्ता की तुम वही बड़ी बहिन हो। मैं जानती हूँ, तुम्हें परिताप हो रहा है। समाज के निष्ठुर विधान ने तुम्हारी यह गति की है, सो भी मैं मानती हूँ। पर बहिन! इस समय तुम शान्त रहो। मेरी बहिन। तुम्हारी छोटी बहिन की यही विनय है। मेरी यह तुच्छ सेवा तुम्हारे चरणों में सदा समर्पित है।

मनोरमा क्षणभर तक शान्त रही, फिर बोली—तुम देवी हो, मेरी छोटी बहिन। हाय! समाज के अत्याचार की निष्ठुर मार से मैं मारी गई हूँ। हाय रे! मैं! तुम्हारी जैसी पुण्यमयी की सखी! ब्राह्मण की कन्या! हाय मेरी यह दुर्दशा? समाज! हिन्दू-समाज! निष्ठुर, निर्मम अत्याचारी! हाय! तूने मेरी यह दशा कर दी। बहिन! तुम मानती हो, समाज के इस अत्याचार को मानती हो? बाँध दिया था यौवन के उद्दाम वेग को एक निर्बल बालू की भीत्ति से। टूट गया और .....

शान्ता ने मनोरमा को चुप करने के अभिप्राय से बड़े सान्त्वना तथा स्नेह से सनी हुई वाणी में कहा—शान्त होओ, बहिन! इस प्रकार की उत्तेजना से तुम्हारी यह व्याधि और भी बढ़ जायगी। बहिन! मेरी प्यारी बहिन! रोष मत करो।

मनोरमा का शान्त होना तो दूर रहा, वह और भी अधिक उत्तेजित हो उठी। जितने तीव्र स्वर में वह बोल सकती थी, उतने तीव्र स्वर में उसने बड़े उन्मत्त भाव से कहा—शान्त! न! नहीं हो सकती